भारतीय न्याय-शास्त्र

एक अध्ययन

लेखक
डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी

प्रकाशक
इन्दु प्रकाशन, दिल्ली

८/३ रूपनगर दिल्ली-७

लखनऊ कार्यालय
वेद मन्दिर, हिन्दनगर,
लखनऊ ५

प्रथम संस्करण १९६७
मूल्य अठारह रुपये

मुद्रक :
सत्साहित्य केन्द्र प्रिंटर्स,
१७३-डी, कमलानगर,
दिल्ली-७

समर्पणम्

परमश्रद्धेयानां तातचरणानां पं० रघुनाथ अवस्थि महाभागानां
पादपद्मयोः सप्रश्रयमुपायनीक्रियते,
नवनिबन्धकुसुममिदम्

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थ की पष्ठभूमि तैयार करने मे आर्य कन्या डिग्री कालेज खुर्जा की सस्कृत विभागाध्यक्षा कु० सुषमा एम० ए० एव दिल्ली कालेज दिल्ली के प्राध्यापक डा० गगाप्रसाद पाठक से विशेष सहायता मिली है। इन्हे किन शब्दो मे धन्यवाद करू क्योकि ये तो अपने ही है।

इसके साथ ही परम माननीय दिल्ली के उपराज्यपाल स्वनामधन्य डा० आदित्यनाथ झा महोदय ने अपने अत्यन्त व्यस्त कार्यक्रम मे भी अवसर निकाल कर ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखने की कृपा की है तदर्थ आभार प्रदर्शन धृष्टता ही हो सकती है अत उनकी सेवा मे श्रद्धा के सुमन अर्पित करना ही कर्तव्य समझता हू।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन मे जिन ग्रन्थो से यथावसर सहायता ली गयी है उनके विद्वान लेखको के प्रति भी लेखक कृतज्ञ होता हुआ आभार प्रकट करता है। समय और सामर्थ्य दोनो के सीमित होने के कारण इसमे यथास्थान त्रुटिया रह गयी है विशेषत ऐतिहासिक चर्चा के अवसर पर क्योकि उस प्रकरण मे अनिवार्य होने के कारण न्यायशास्त्र के सन्दर्भ मे ऐतिहासिक मान्यताओ का सकलनमात्र कर दिया गया है। विद्वान पाठक कृपया उन्हे अवश्य सुधार लेगे क्योकि यह तो उनका स्वभाव ही है।

अन्त मे कालिदास के शब्दो मे यही कहना है—

आपरितोषाद् विदुषा न मन्ये साधु प्रयोगविज्ञानम्
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्यय चेत ।

विदुषा वशवद
ब्रह्ममित्र अवस्थी
श्रीलालबहादुरशास्त्री राष्ट्रिय सस्कृत विद्यापीठ
शक्तिनगर, दिल्ली ७

आषाढ पूर्णिमा
२०२४ वि०

सत्यमेव जयते

उपराज्यपाल
दिल्ली

प्रस्तावना

दार्शनिक चिन्तन की परम्परा भारतीय संस्कृति और साहित्य की आदिकाल से आत्मा रही है, इसलिए यदि यह कहा जाए कि दर्शन शास्त्र का अध्ययन किये बिना भारतीय संस्कृति और साहित्य के अन्तस्तल तक पहुचना सभव नही है, तो अनुचित नही होगा। भारतीय दर्शन की आत्मा तक पहुचने के लिए भी न्यायशास्त्र अर्थात् न्याय और वैशेषिक दर्शनो का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। किन्तु न्यायशास्त्र की पारम्परिक भाषा की दुरूहता इस युग के जिज्ञासुओ के लिए एक समस्या के रूप में उपस्थित हो जाती है। विद्वान् लेखक ने इस ग्रन्थ मे इस कठिनाई से बचने के लिए एक प्रशस्त मार्ग उपस्थित किया है। इसमे न्याय और वैशेषिक दर्शन की प्रमुख समस्याओ–विशेष और समवाय पदार्थों की मान्यता, परमाणुवाद, कारणवाद, अनुमान के अग-व्याप्ति, पक्षता, पक्षधर्मता और हेत्वाभास आदि के विवेचन के प्रसग मे प्राचीन आचार्यों द्वारा किये गये सूक्ष्म चिन्तन को सरल भाषा मे प्रस्तुत किया गया है, साथ ही विविध भारतीय दर्शनो एव पाश्चात्य दर्शनो के मान्य सिद्धान्तो की तुलनात्मक समीक्षा भी की गई है। हिन्दी माध्यम में लिखी गई अपने ढग की यह एक उत्कृष्ट रचना है। इस सफल प्रयास के लिए डा० ब्रह्म मित्र अवस्थी बधाई के पात्र हैं।

९-८-१९६७

(डा० आदित्यनाथ झा)

विषय सूची

भूमिका

विषय प्रवेश

पदार्थ विमर्श

द्रव्य विमर्श

बुद्धि विमर्श

गुण विमर्श (शेषांश)

———

भूमिका

संस्कृत वाङ्मय की अन्य शाखाओं के समान ही न्यायशास्त्र का भी आरम्भ कब कैसे और कहा हुआ, इसका कोई स्पष्ट विवरण उपलब्ध नही है। विश्व के सूक्ष्मतम तत्व के अनुसन्धान और परीक्षण मे प्रवृत्त मनीषियो को अपनी सुध भूल जाना अस्वाभाविक नही है। फिर भी अन्त साक्ष्य और बहि साक्ष्य के आधार पर अब तक किये गये ऐतिहासिक अनुसन्धानो के आधार पर न्यायशास्त्र का आरम्भ ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी के अनन्तर नही माना जा सकता, जिसका विवेचन हम इन्ही पृष्ठो मे करेगे।

न्यायशास्त्र के इस बाइस सौ वर्षों के विस्तृत इतिहास को सुविधा के दृष्टि से हम तीन भागो मे विभाजित कर सकते हैं

१. **आदिकाल** ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी से ५०० ईसवी पर्यन्त
२ **मध्यकाल** सन् ५०१ ईसवी से १३०० ,, ,,
३ **उत्तरकाल** सन् १३०१ ईसवी से १९०० शताब्दी के उत्तरार्ध पर्यन्त

आदिकाल के प्रतिनिधिस्वरूप हमे गौतम तथा कणाद के केवल दो सूत्र-ग्रन्थ उपलब्ध होते है। यद्यपि इनके साथ पदार्थधर्मसग्रह (प्रशस्तपाद भाष्य) को भी जोडा जा सकता है, किन्तु इन ग्रन्थो के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ भी रहे होगे, जो आज उपलब्ध नही है। दूसरा काल सूत्रो के भाष्यो का कहा जा सकता है, जिसका आरम्भ वात्स्यायन के साथ होता है, जिसमे अनेक प्रख्यात विद्वानो द्वारा न्याय और वैशेषिक पर भाष्य और टीकाओ की उद्भावना हुई। तृतीय काल मे तत्वचिन्तामणि कारिकावली भाषापरिच्छेद जैसे स्वतन्त्र ग्रन्थो की रचना एव उन पर टीका प्रटीकाए लिखी गयी। इस काल मे ही तर्कसग्रह तर्ककौमुदी आदि गुटका ग्रन्थो का भी जन्म हुआ। ये तीनो काल न्याय और वैशेषिक दर्शनो के विकास के तीन क्रमिक चरण के भी प्रतीक है। इस दृष्टि से प्रथम काल को सूत्रो के रूप मे सिद्धान्तो के निर्माण का काल कहा जा सकता है, दूसरा काल भाष्य अथवा व्याख्याओ द्वारा उनके परिष्कार का काल है, तृतीय काल कारिकाओ द्वारा उनके

व्यवस्थीकरण का है। पहले काल की विशेषता है उसकी महान मौलिकता और नवीनता, दूसरे की पूर्ण विशदीकरण और तीसरे की सूक्ष्मीकरण। काल विभाजन की रेखा की ये सीमाएं कोई लक्ष्मण रेखा नहीं है, अनेक बार ये शिथिल होती दिखाई देती हैं, उदाहरणार्थ १४ वी शताब्दी से पूर्व तार्किकरक्षा और सप्तपदार्थी जैसे कारिका या गुटका ग्रन्थ भी उपलब्ध होते है, और परवर्ती काल मे शकर मिश्र और विश्वनाथ की वैशेषिक और न्याय सूत्रो पर वृत्तिया भी लिखी गयी। किन्तु इन एकाध कृतियो के आधार पर पूर्वोक्त धारणाओ पर कोई व्याघात नही आता, क्योकि ये धारणाएं सामान्य प्रवृत्तियों पर आश्रित है, एव उन प्रवृत्तियो मे तात्विक अन्तर है।

न्याय और वैशेषिक दर्शनो का पारस्परिक सम्बन्ध समय समय पर बदलता रहा है। प्रथम काल मे इनकी पृथक् एव स्वतन्त्र सत्ता दृष्टिगोचर होती है, यद्यपि विवेचनीय विषयो की दृष्टि से दोनो मे परस्पर समानता भी दिखाई देती है। उत्तरोत्तर टीका प्रटीकाओ के निर्माण के बाद जब ये विरोधी रूप मे प्रतीत होने लगे तभी तृतीय काल मे इनके एकीकरण की प्रवृत्ति का उदय हुआ। तर्कसग्रह भाषापरिच्छेद आदि ग्रन्थो मे इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते है, जिनका निर्माण दोनो के श्रेष्ठ तत्वो को ग्रहण करते हुए ही किया गया है।

न्यायशास्त्र के विकास क्रम का वर्गीकरण करने के अनन्तर हमारे सम्मुख सर्व प्रथम महत्वपूर्ण प्रश्न है, गौतम और कणाद के सूत्रो के निर्माण काल का, ये सूत्र ही न्याय और वैशेषिक दर्शनो के आधार है, तथा ये ही न्याय और वैशेषिक दर्शन के अब तक उपलब्ध ग्रन्थो मे प्राचीनतम है। इसके निर्माण काल के निश्चय के लिए सर्व प्रथम हमे इनके सूत्रो के निर्माता के सम्बन्ध मे विविध मान्यताओ का विश्लेषण करना आवश्यक है। पद्मपुराण स्कन्द पुराण गान्धर्वतन्त्र नैषधीय चरित तथा विश्वनाथ वृत्ति आदि ग्रन्थो मे न्याय सूत्रों के रचयिता के रूप मे गौतम का उल्लेख किया गया है।[1] इसके

---

१. (क) पद्मपुराण उ० खण्ड २६३ (ख) स्कन्द कलिका ख० अ १७
(ग) न्यायसूत्र वृत्ति १८२ (घ) नैषधीय चरितम् १७.
(ङ) न्यायसूत्र वृत्ति पृ० १८५

विपरीत न्यायभाष्य न्यायवार्त्तिक न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका एवं न्यायमञ्जरी आदि न्याय ग्रन्थो मे न्यायसूत्रो को अक्षपादकृत माना गया है।[1] महाकवि भास के अनुसार इन सूत्रो के प्रणेता का नाम मेधातिथि होना चाहिए।[2] सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त के अनुसार न्यायसूत्र के प्रणेता अक्षपाद हैं। गौतम या मेधातिथि नही।[3]

न्याय सूत्रो के प्रणेता के रूप मे इस मत भेद के समाधान मे एक सबसे बडी बाधा गौतम और अक्षपाद के निवास स्थान के सम्बन्ध मे लोक प्रथित मान्यताओ से आती है। क्योकि रामायण के कथानक के अनुसार सीता स्वयवर मे जाते हुए राम ने गौतम के आश्रम मे पहुचकर उनकी पत्नी अहल्या का उद्धार किया था। इसके अनुसार गौतम का आश्रम कही मिथिला के निकट होना चाहिए। वर्त्तमान दरभङ्गा से पूर्वोत्तर लगभग २८ मील की दूरी पर गौतम स्थान नाम से एक प्रसिद्ध स्थान है, जहा गौतम कुण्ड नामक जलाशय भी है। यहा प्रतिवर्ष चैत्र नवमी को गौतम की स्मृति मे मेला भी लगता है, इन सब कारणो से गौतम का स्थान मिथिला के निकट होना चाहिए। दूसरी ओर अक्षपाद का निवास स्थान ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार प्रभासपत्तन काठियावाड है,[4] अत इन दोनो की एकता के लिए कोई सभावना प्रतीत नही होती। हा गौतम और मेधातिथि को परस्पर अभिन्न मान लेना अधिक कठिन नही है, क्योकि मेधातिथि के सम्बन्ध मे किसी प्रकार की विशेष जानकारी लोक परम्परा अथवा पुराण आदि मे उपलब्ध नही। सभव है, दोनो नाम एक व्यक्ति के ही हो। महाभारत के एक प्रसङ्ग मे इन दोनो को अभिन्न

---

१ (क) न्याय भाष्य पृ० २५८ (ख) न्यायवार्त्तिक
(ग) न्यायवर्त्तिका तात्पर्य (घ) न्यायमञ्जरी

२ प्रतिमानाटक

३ History of Indian Philosophy Vol. ii P. 393-94

४. ब्रह्माण्ड पुराण अ० २३.

स्वीकार भी किया गया है ।[1] गौतम और अक्षपाद की समस्या का एक समाधान आचार्य विश्वेश्वर ने तर्कभाषा की भूमिका मे खोजने का प्रयत्न किया है । उनका विचार है कि 'न्यायशास्त्र के क्रमिक विकास मे गौतम और अक्षपाद दोनो का ही महत्वपूर्ण भाग है । प्राचीन न्याय के विकास मे आध्यात्म प्रधान और तर्क प्रधान दो युग स्पष्ट प्रतीत होते है । इनमे आध्यात्मप्रधान युग के, जिसे दूसरे शब्दो मे प्रमेय प्रधान अथवा साध्य प्रधान भी कह सकते है, निर्माता गौतम और तर्क प्रधान (प्रमाण प्रधान) युग के प्रवर्त्तक अक्षपाद है । यद्यपि वर्त्तमान न्याय सूत्रों मे प्रमेय के स्थान पर प्रामाण्य का ही प्राधान्य प्रतीत होता है, किन्तु वह अक्षपाद द्वारा किये गये प्रतिसस्कार का ही फल है । इसके पूर्व गौतम का न्याय उपनिषदो के समान प्रमेय प्रधान ही था । अध्यात्मविद्यारूप उपनिषदो से न्यायविद्या को पृथक् करने के लिए ही अक्षपाद ने उसे प्रमाण प्रधान बनाया । इस प्रकार प्राचीन न्याय का निर्माण महर्षि गौतम और अक्षपाद इन दोनों के सम्मिलित प्रयास का फल है ।' आचार्य विश्वेश्वर की उपर्युक्त कल्पना की पुष्टि के आधार सस्कृत वाड्मय के अन्य क्षेत्रों मे उपलब्ध भी होते है । उदाहरणार्थ आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरक के रचयिता उसके नाम से महर्षि चरक प्रतीत होते है । लोक प्रसिद्धि भी यही है, किन्तु चरक के प्राचीन टीकाकार दृढबल ने स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया है कि इसकी रचना महर्षि अग्निवेश ने की थी, कालान्तर मे उसका प्रति सस्कार महर्षि चरक ने किया था और तभी से वह ग्रन्थ चरक के नाम से प्रसिद्ध हो गया है । इसी प्रकार 'गौतम प्रवर्तित न्यायशास्त्र का प्रतिसस्कार अक्षपाद ने किया हो, यह कथन असगत नही माना जा सकता । प्रतिसस्कर्त्ता होने के कारण चरक के समान अक्षपाद को कही कही प्रणेता कह लिया गया हो, यह अस्वाभाविक नही है ।

वैशेषिक के प्रणेता के सम्बन्ध मे किसी प्रकार का मत भेद नही है । परम्परा और प्रमाण दोनो के अनुसार इसका प्रणयन महर्षि कणाद ने किया है । कणाद को कभी कभी काश्यप कणभक्ष कणभुक् आदि नामो से भी स्मरण किया जाता है । इनके दर्शन का दूसरा प्रसिद्ध नाम औलूक्यदर्शन है । इस नाम की व्युत्पत्ति के आधार पर कहा जा सकता है कि इसके रचयिता महर्षि उलूक है । इस प्रकार कणाद का ही एक नाम उलूक भी कहा जा सकता है ।

---

१ महाभारत शान्तिपर्व २६५. ४५

न्याय और वैशेषिक सूत्रों के रचना काल का प्रश्न अत्यन्त विवादास्पद है। इनका समय निर्धारित करने से पहले हमे इनके सम्बन्ध मे कुछ भ्रान्त धारणाओ का निराकरण करना आवश्यक होगा। सामान्यत इन दोनो दर्शनो और कतिपय सिद्धान्तो के मध्य अन्तर का अभाव मान लिया जाता है। गौतम के सूत्र न्याय दर्शन तथा कणाद के सूत्र वैशेषिक दर्शन के स्वतन्त्र वैशिष्ट्य के सभी मूलतत्व पृथक् पृथक् है, जिनकी उद्भावना भिन्न भिन्न समय मे हुई है।

भारत के विविध दार्शनिक पद्धतियो के काल क्रम का निर्धारण एक दु साहस पूर्ण कार्य है, जिसमे बहुत सफलता नही मिल सकी है। साख्य दर्शन और यदि समग्र रूप से नही तो वैशेषिकदर्शन के कतिपय सिद्धान्त सभवत बौद्धदर्शन से पूर्ववर्त्ती है। वैशेपिकदर्शन से साख्यदर्शन की पूर्व विद्यमानता निश्चित है, और इसके भी पर्याप्त प्रमाण है कि वैशेषिक दर्शन बौद्ध एव जैन दर्शनो से न केवल पूर्ववर्त्ती है, अपितु इन दोनो सम्प्रदायो ने कतिपय सिद्धान्तो के उद्भव मे परोक्ष रूप से वैशेषिकदर्शन से सहायता प्राप्त की है। उदाहरण स्वरूप बौद्धदर्शन का शून्यवाद वैशेषिक सिद्धान्त असत्कार्यवाद का ही विस्तृत रूप है। इसीप्रकार वैशेषिक के पदार्थ विभाजन और आणविक सिद्धान्तो को जैन दर्शन मे स्वीकार कर लिया गया। जहा तक मीमासा दर्शन का प्रश्न है, उनकी उद्भावना बौद्ध दशन के उद्भव के पश्चात् तथा न्याय और योग दर्शन से पूर्वकाल मे हुई, क्योकि न तो बादरायण ने और नही जैमिनि ने ही न्याय सिद्धान्तो को कोई उल्लेख किया है। इसके विपरीत स्वय गौतम बादरायण के ऋणी है।

चू कि मीमासा वेदान्त तथा साख्य सूत्रो मे बौद्ध दर्शन के अनेक सिद्धान्तो का उल्लेख और उनका खण्डन पाया जाता है, तथा बौद्धदर्शन का आरम्भ महात्मा बुद्ध के बाद ही हुआ है, अत. इनका निर्माण काल बुद्ध से पूर्व अथात् ईसा पूर्व पञ्चम अथवा चतुर्थ शताब्दी से पूर्व नही मान सकते। गौतम और कणाद के प्रथम सूत्र मे भी वेदान्त के ज्ञान के सिद्धान्त का प्रभाव दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त इनके सूत्रो मे मुख्यत. आत्मा दुःख मोक्ष ज्ञान तथा इसी प्रकार की अन्य समस्याओं की प्रमुखता को देख कर भी यह कहा जा सकता है कि इनकी रचना वेदान्त दर्शन के बाद हुई है। अनेक स्थानो पर तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो वेदान्त दर्शन मे के कुछ प्रश्नो को उठाकर उनका समाधान ही किया गया है। उदाहरणार्थ वैशेषिक दर्शन के 'अनित्य इति प्रतिषेधाभाव'

तथा 'अविद्या'[1] सूत्रो मे वेदान्त दर्शन द्वारा परमाणुओं की नित्यता पर किये गये आक्षेपो का समाधान ही प्रतीत होता है ।[2] इसी प्रकार 'अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम्'[3] सूत्र प्रथम चार सूत्रो मे किये गये वेदान्त के सिद्धान्त का समाधान कहा जा सकता है । क्योकि वेदान्त की यह मान्यता है कि आत्मा का ज्ञान श्रुति के द्वारा होता है। इसके अतिरिक्त अविद्या लिङ्ग प्रत्यगात्मा आदि कुछ शब्द भी वैशेषिक मे वेदान्त से लिए गये प्रतीत होते है।

यही स्थिति गौतम के सूत्रो की है। इनमे अनेक स्थलो पर वेदान्त के प्रसिद्ध सिद्धान्तो की समानता मिलती है,[4] कही कही भाषा और उदाहरण भी वेदान्त सूत्रो से लिए हुए प्रतीत होते है।[5] इसी प्रकार गौतम के कुछ सूत्र उन्हे जैमिनि से भी परवर्त्ती सिद्ध करते है।[6] यद्यपि यह कहा जा सकता है, कि वैशेषिक और न्याय के सूत्रो मे यह आदान अन्य माध्यम से भी हो सकता है, अथवा इन सूत्रो की रचना परवर्त्ती काल मे हुई हो। किन्तु केवल इतनी कल्पना से ही किसी निर्णय को बदला नही जा सकता। इसके लिए तो न्याय और वैशेषिक की विचार प्रक्रिया को ही आधार बनाना होगा, और सम्पूर्ण रूप से विचार कर हम यह स्वीकार कर सकते है कि ये दोनो दर्शन मीमासा और वेदान्त के रचना काल ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी से पूर्ववर्त्ती नहीं हो सकते। किन्तु इसके साथ ही यह भी निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि न्याय और वैशेषिक दर्शनो के सिद्धान्त साख्य और बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तो के पूर्ववर्त्ती है। उदाहरार्थ न्यायदर्शन का असत्कार्यवाद न केवल बौद्ध धर्म के उद्भव से पहले अपितु साख्यदर्शन की रचना से भी पहले विद्यमान था जिसका खण्डन साख्यदर्शन अथवा साख्यकारिका मे सत्कार्यवाद की स्थापना के द्वारा किया गया है। बौद्धो का शून्यवाद असत्कार्यवाद का ही विकसित रूप कहा जा सकता है, किन्तु दर्शनो के रचना-काल से पूर्व उसके सिद्धान्तो का परम्परा मे प्रचलन न्यायदर्शन के समान ही अन्य दर्शनो मे भी रहा है, यही कारण है कि प्रत्येक दर्शन मे दूसरे दर्शन के सिद्धान्तो का प्रतिवाद करने के लिए उनका उल्लेख प्राप्त होता है। इस

---

१ वैशेषिक सूत्र ४ १ ४-५ 	२ वेदान्त सूत्र २ २ १४-१५

३ वैशेषिक सूत्र ३. २ ९। 	४ न्यायसूत्र ४.१.६४

५. (क) न्यायसूत्र ३ २ १५ 	(ख) वेदान्तसूत्र २ १ २४

६ न्यायसूत्र २.१. ६१ ६७

प्रकार किसी विशिष्टकाल में किसी विशिष्ट सिद्धान्त की विद्यमानता के आधार पर यह निर्णय कर लेना उचित न होगा कि गौतम या कणाद के सूत्र उस समयविशेष मे विद्यमान थे। वैशेषिकदर्शन के अनेक आधारभूत सिद्धान्तो का अस्तित्व कणाद की कृति मे नही मिलता है। उदाहरण स्वरूप पदार्थ के रूप मे अभाव का तथा गुणो मे अन्तिम सात गुणो का उल्लेख किया जा सकता है। किन्तु यह भी निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सूत्रो की रचना के समय इन दोनो दर्शनो ने एक व्यवस्थितरूप अवश्य ग्रहण कर लिया था, जिनमे कभी कोई मूलभूत परिवर्तन नही हुआ है। यह ठीक है कि इन दोनो दर्शनो के विकास की प्रक्रिया निर्बाध रूप से चलती रही है, परन्तु दोनो दर्शनो का ढाचा यथावत् बना रहा। इन दर्शनो की विकास की प्रक्रिया का निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है - सर्वप्रथम निर्भीक विचारको ने तत्कालीन ज्वलन्त प्रश्नो पर अपने-अपने विचार प्रगट करना आरम्भ किया। तत्पश्चात् एक गभीर ऊहापोह के उपरान्त इन विचारो ने असत्कार्य समवाय आदि के रूप मे एक व्यवस्थित सिद्धान्त का रूप ग्रहण कर लिया। प्राचीन उपनिषदो मे इन विचारो के मूल स्रोत मिलते है, जिन्हे ग्रहण कर परवर्त्ती मनीषियो ने अपने चिन्तन द्वारा उन्हे एक विचारसरणि तत्पश्चात् एक पद्धति के रूप मे विकसित किया है। इस विचारसरणि और पद्धति मे कोई प्रकार भेद नही, अपितु परिमाण भेद है। औडुलोमि काशकृत्स्न, बादरि आदि अनेक ऐसे लोगो ने, जिनका नामोल्लेख दार्शनिक सूत्रो मे मिलता है, विचार सरणियो की स्थापना की होगी, जिनका विकास एक व्यवस्थित विचारपद्धति के रूप मे हुआ है। इन पद्धतियो की सघटना के अनन्तर प्रमाणित व्यवस्थाओ की आवश्यकता पडी होगी। इस आवश्यकता की पूर्ति के रूप मे ही अनेक अवस्थाओ के पश्चात् गौतम और कणाद जैसे प्रखर मेधावियो का कृतित्व आया होगा, जिनकी सत्ता आज भी अक्षुण्ण बनी हुई है, अत गौतम और कणाद के सूत्रो को तत्सम्बन्धी दर्शन के विकास की प्रक्रिया के उपक्रम की अपेक्षा उस प्रक्रिया की समाप्ति के रूप मे ग्रहण करना चाहिए। यह इन दार्शनिक पद्धतियो का स्रोत नही, अपितु व्यवस्थित विकसित रूप है। इसके अतिरिक्त यह भी सभव है कि स्वय उन सूत्रो की स्थापना तो नही, अपितु सूत्र मे उनकी व्याख्या करने की प्रथा का प्रचलन बौद्ध धर्म के उद्भव के बाद हुआ हो। गौतम बुद्ध के नैतिक उपदेशो की अभिव्यक्ति सुत्त वाक्यो (सूत्रो) के रूप मे हुई, जो स्मरण के लिए अधिक

सरल थे, और जिनमे लोक बुद्धि के लिए एक प्रबल आकर्षण था। सभवत: ब्राह्मणो ने अपने प्रतिद्वन्द्वी को उनके ही आयुधो से परास्त करने की कामना से अपने दार्शनिक सिद्धान्तो को बौद्धदर्शन के सूत्रो के रूप मे ढाल दिया। इसी कारण उपनिषदो की शिथिल तर्कबुद्धि और काव्यात्मक कल्पना की अपेक्षा बौद्धोत्तरकालीन सूत्रो मे आक्रामक स्वर और दृढ तार्किकता की प्रवृत्ति मिलती है। उस प्रारम्भिक अवस्था मे नैतिकता बौद्ध धर्म की मूलनीति थी, परन्तु दर्शन उसका दुर्बल पक्ष था, चतुर ब्राह्मणो द्वारा उनके इस दुर्बल पक्ष को परास्त कर इन्हे धराशायी करने के लिए अपने दर्शन को पुष्ट एव प्रबल बनाना स्वाभाविक ही था। जैमिनि और बादरायण के सूत्रो की रचना निश्चित रूप से इस विशिष्ट सन्दर्भ एव दृष्टिकोण से प्रभावित है; जिनका अनुसरण अन्य अनेक परवर्त्ती विचारको ने किया है।

सूत्रो पर विचार करते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि मीमासा दर्शन के सूत्रो का सकलन सर्व प्रथम हुआ है, और उसके पश्चात् क्रम से गौतम और कणाद के सूत्रो का। जैमिनि और बादरायण का समय जो एक दूसरे को उद्धृत करते है, और जो सभवत समकालीन हो सकते है, अभी तक निश्चित नही हो सका है, परन्तु इतना निश्चित है कि वे बौद्ध सम्प्रदाय से परिचित हैं, जिनके सिद्धान्तो का वे उल्लेख तथा खण्डन करते हैं, अत मीमासा सूत्रो की रचना ईसा पूर्व छठी शताब्दी से पहले की नही हो सकती। हम उनका समय ईसा पूर्व पचम अथवा चतुर्थ शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित कर सकते है। इस स्थिति मे गौतम तथा कणाद के सूत्रो की रचना इससे परवर्त्ती काल मे हुई होगी, जैसाकि ब्रह्मसूत्रो द्वारा उनकी तुलना से प्रगट हो चुका है। गौतम और कणाद दोनो अपने प्रारम्भिक सूत्रो के द्वारा ज्ञान को वेदान्त के मोक्ष साधन के रूप मे स्वीकार करते हुए प्रतीत होते है। इसी प्रकार अपने समग्र ग्रन्थ मे वे जहा कही भी आत्मा मोक्ष दु ख ज्ञान आदि विषयो का विवेचन करते है, उनकी भाषा पर वेदान्त मत का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अनेक बार तो शब्दावली मे भी समानता मिलती है। अनेक स्थलो पर तो ब्रह्मसूत्र के सन्दर्भो को भी ढूढ लेना कठिन नही है। गौतम सूत्रो मे दृष्टान्तो तथा तर्कों का साम्य पूर्व पृष्ठो मे उद्धृत भी किया जा चुका है। यही स्थिति मीमासा सूत्रो की है। इन सब प्रमाणो के आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गौतम और कणाद के ग्रन्थ वर्त्तमान मे जिस रूप में उपलब्ध हैं, ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी से प्राचीन नही हो सकते।

न्याय और वैशेषिक दर्शन में कौन एक दूसरे से प्राचीन है, यह एक जटिल प्रश्न है। इस सम्बन्ध मे दोनो ओर से तर्क प्रस्तुत किये गये है। चन्द्रकान्त तर्कालिकार ने वैशेषिक सूत्रों की भूमिका मे वैशेषिक दर्शन की प्राचीनता का समर्थन किया है। गोल्डस्टुकर इस प्रश्न पर विचार करते हुए वैशेषिक दर्शन को न्याय दर्शन की केवल एक शाखा मानते है, जबकि वेबरने इस प्रश्न को उठाकर भी किसी निर्णय को स्वीकार नही किया है। यदि हम वैशेषिक दर्शन और वैशेषिक सूत्रो को अलग अलग करके देखे तो इस प्रश्न की जटिलता कुछ कम हो सकती है। जैसोकि तर्कालिकार की धारणा है, इस विश्वास के पर्याप्त आधार है कि वैशेषिक दर्शन गौतम का पूर्ववर्त्ती है, यद्यपि कणाद के सूत्र अथवा उसके अधिकाश सूत्र उससे परवर्त्ती काल के है। इस तथ्य से कि बादरायण के ब्रह्मसूत्रो मे वैशेषिक सिद्धान्तो की झलक मिलती है, जबकि गौतम के न्याय दर्शन का कोई उल्लेख नही मिलता है, यह प्रगट होता है कि वैशेषिक दर्शन न केवल गौतम से पहले अपितु ब्रह्म सूत्रों की रचना से भी पहले प्रकाश मे आ गया था। वात्स्यायन के इस कथन से कि गौतम की रचना के अनुल्लिखित अशो की पूर्ति सजातीय वैशेषिकदर्शन से होती है, गौतम से पहले वैशेषिक दर्शन की पूर्व विद्यमानता का अनुमान लगाना स्वाभाविक है। इस अनुमान को इस तथ्य से और अधिक बल मिलता है कि कणाद द्वारा उपेक्षित अनुमान हेत्वाभास शब्द की नित्यता आदि कतिपय विषयो की गौतम ने विस्तृत विवेचना की है। इन सब तर्कों से गौतम की रचना से पहले कणाद के सूत्रो की भी पूर्व विद्यमानता सिद्ध होती है, और सभवत गौतम वैशेषिक सूत्रो से परिचित थे, परन्तु हमे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कणाद के सूत्रो के वर्तमान सग्रह मे अनेक सूत्रो पर गौतम की रचना की स्पष्ट छाया मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि कणाद के सूत्रो का सकलन यदि समग्र रूप मे नही, तो कम से कम कतिपय सूत्रो की रचना गौतम की कृति के प्रकाश के पश्चात् हुई, और इसके अधिकाश सूत्र आज अपने परिवर्त्तित रूप मे मिलते है, अथवा बाद मे जोडे हुए रूप मे। भारतीय साहित्य की पुरातन कृतियो मे प्रक्षिप्त अशो की यह प्रवृत्ति कोई असामान्य प्रश्न नहीं है।

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, वैशेषिक सूत्रों का वर्त्तमान रूप ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी के बाद का है, और गौतम सूत्रो के वात्स्यायन भाष्य मे

इसके उल्लेख के आधार पर ईसवी सन् की पाचवी शताब्दी से पूर्व इसकी विद्यमानता सिद्ध होती है। वैशेषिक सूत्रो की रचना काल के सम्बन्ध मे इससे अधिक कुछ अधिक कह सकना सभव नही है। सौभाग्य से गौतम के सूत्रो के सम्बन्ध मे कुछ अधिक निश्चित रूप से कहा जा सकता है। क्योकि गौतम द्वारा उल्लिखित कतिपय बौद्ध सिद्धान्तो द्वारा यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि ये सूत्र बौद्धदर्शन के उद्भव के पश्चात् की कृति है। यह भी स्पष्ट है कि ये बादरायण के ब्रह्मसूत्रो के रचना काल ईसा पूर्व पञ्चम शताब्दी के उत्तरार्ध से परवर्त्ती है, क्योकि ब्रह्मसूत्रो मे वैशेषिक के सिद्धान्तो के खण्डन के सदर्भ मे उसके सजातीय न्यायदर्शन का कोई उल्लेख नही मिलता है।

गोल्ड्स्टूकर के अनुसार कात्यायन और पतञ्जलि न्याय सूत्रो से परिचित थे। पतञ्जलि के महाभाष्य की रचना का समय लगभग १४० ईसा पूर्व माना जाता है, परन्तु कात्यायन के काल के सम्बन्ध मे कुछ निश्चित कह सकना सभव नही है। कथासरित्सागर की एक कहानी के अनुसार कात्यायन उमावर्मा के शिष्य तथा राजानन्द के एक मन्त्री थे, जिसने ईसा पूर्व ३५ के लगभग शासन किया था। गोल्ड्स्कर इस कहानी को प्रामाणिक नही मानते, परन्तु यदि इस कहानी का कोई आधार हो तो न्याय सूत्रो को २५३ ईसा पूर्व मे भी पूर्व रखना होगा अधिकाश विद्वानो का विचार है कि कात्यायन को ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी का मानना चाहिए, अत गौतम को इस काल से भी पूर्व रखना होगा। इस निर्णय की पुष्टि एक अन्य तथ्य से भी होती है। जैमिनि सूत्रो के व्याख्याकार शबर स्वामी ने भगवान् उपवर्ष नामक एक पुरातन लेखक को अनेक बार उद्धृत किया है, जो निश्चित रूप से उनसे बहुत पहले हुए होगे। उपवर्ष के सम्बन्ध मे ऐसा कहा जाता है कि इन्होने मीमासा और वेदान्त दोनो पर ही टीकाए लिखी थी, यदि इन्हे कात्यायन के गुरु के रूप स्वीकार कर लिया जाए, तो उनका काल ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी का पूर्वार्ध सिद्ध होता है। शबर स्वामी द्वारा उपवर्ष की टीका से उद्धृत अश से यह प्रगट होता है कि वे गौतम के न्याय दर्शन से पूर्ण परिचित थे, और उसे अधिकाशत स्वीकार करते थे, अत यह असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि गौतम के सूत्रो की रचना ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी मे हुई है।

उपर्युक्त निर्णय के समर्थन मे एक अन्य प्रमाण भी है, वह यह कि आपस्तम्ब धर्मसूत्र मे दो स्थानो पर न्याय एव न्यायवित् शब्दो का

प्रयोग किया गया है। किन्तु वहां प्रसग को देखकर यह पता चलता है कि इन शब्दों का प्रयोग गौतम के दर्शन के सन्दर्भ में न होकर पूर्व मीमासा के सन्दर्भ मे हुआ है। प्राचीन ग्रन्थो मे मीमासा के सन्दर्भ मे इस शब्द का प्रयोग कोई असामान्य बात नही है। जैमिनीय न्यायमाला आदि मीमासा ग्रन्थो के नाम इसके साक्षी है, और इसीलिए आपस्तम्ब न्याय शब्द का प्रयोग जैमिनीय दर्शन के सदर्भ मे करते हैं, परवर्त्ती काल मे इस शब्द पर एकाधिकार गौतम और उनके अनुयायियो का हो गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस समय तक गौतम का दर्शन या तो अज्ञात था अथवा इतना नवीन था कि उसे अधिक प्रसिद्धि प्राप्त न हो सकी थी। ब्यूल्हर के अनुसार आपस्तम्ब का समय ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी अथवा उससे १५०-२०० वर्ष पूर्व भी हो सकता है, परन्तु मीमासा और वेदान्तदर्शन से उनकी अभिज्ञता से यह स्पष्ट है कि वे ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी से बहुत पहले नही हुए होगे। इससे सिद्ध होता है कि गौतम के सूत्रो का रचना काल या तो ईसा पूर्व पचम शताब्दी का अन्तिम भाग अथवा चतुर्थ का प्रारम्भ होना चाहिए।

यहा यह कहना अनावश्यक होगा कि धर्मसूत्र के लेखक से न्यायदर्शन के प्रणेता गौतम नितान्त भिन्न है, अथवा रामायण और महाभारत मे अहल्या के पति के रूप मे उल्लिखित गौतम से इनका कोई सम्बन्ध है। इनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे कुछ भी ज्ञात नही है। इनके नाम के सम्बन्ध मे भी निश्चित रूप से कह सकना सम्भव नही है कि गौतम है अथवा गोतम, किन्तु इसमे थोडा भी सन्देह नही है कि इसके लेखक महान् मौलिक प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति है, जिन्होने न्यायशास्त्र को सर्व प्रथम एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया है। फिर भी हम इन्हे न्यायशास्त्र के सस्थापक के रूप मे स्वीकार नही कर सकते।

गौतम निश्चित रूप से न्यायशास्त्र के प्रवर्त्तक नही थे, यह इसी से सिद्ध हो जाता है, कि उन्होने न्यायशास्त्र का पूर्ण विकसित एव व्यवस्थित रूप प्रस्तुत किया है, जिसके लिए उन्होने अपने पूर्ववर्ती विचारको के सिद्धान्तो से अवश्य सहायता ली होगी। यह केवल अनुमान नही है, गौतम सूत्रो के भाष्यकार वात्स्यायन स्वय बताते है कि नैयायिको का एक ऐसा वर्ग था जो

दशावयव का समर्थक था, जिसे घटाकर गौतम ने पंचावयव कर दिया ।[1] कतिपय वाह्यसाक्ष्यो से इसकी और भी पुष्टि होती है, जैसी कि पहले चर्चा हो चुकी है आपस्तम्ब धर्मसूत्र मे न्याय का शब्द प्रयोग दो स्थानो पर पूर्व मीमासा के सम्बन्ध मे किया गया है । इसी प्रकार अनेक प्राचीन स्मृतियों एव कुछ नवीन ग्रन्थों में इस शब्द अथवा उसके तद्भव रूप का प्रयोग जैमिनि के साथ किया गया है । माधवाचार्य जैसे अत्याधुनिक लेखक ने जैमिनि ग्रन्थ के अपने सारसग्रह को न्यायमाला विस्तर की सज्ञा दी है, जबकि अन्य अनेक मीमासा ग्रन्थो में न्याय एक उपशीर्षक है । यहा तक कि पाणिनि भी इसी अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग करते हैं । ऐसी स्थिति मे यह विचित्र सयोग है कि सामान्यत मीमासको द्वारा प्रयुक्त यह शब्द गौतम द्वारा प्रवर्तित अथवा व्यवस्थापित सर्वथा भिन्न तथा प्रतिद्वन्द्वी विचारसरणि का प्रतीक बन गया । प्राय· यह देखा जाता है कि एक नव उद्‌भूत विचारसरणि पूर्ववर्त्ती सरणि से अपनी पृथक् सत्ता सिद्ध करने के लिए अपनी निजी शब्दावली की सघटना करती है, किन्तु यहा गौतम के अनुयायियो ने एक प्राचीन प्रचलित शब्द को ग्रहण कर उसे इस रूप मे सर्वतोभावेन आत्मसात् कर लिया कि वह शब्द उनकी निजी सम्पत्ति बन गया । इसका यही समाधान हो सकता है कि न्यायशास्त्र, उत्तर काल मे जिसका विकास पृथक् दर्शन के रूप मे हुआ, मूलत पूर्वमीमासा का शिशु है ।

भारत मे समस्त पुरातन शास्त्रों का उदय यज्ञो की आवश्यकतानुसार हुआ, अत यह असम्भव नही है कि इन महत्वपूर्ण यज्ञो की किसी आवश्यक पृष्ठ भूमि के प्रसग मे तर्क पद्धति का उदय हुआ हो । न्यायशास्त्र इस प्रकार आवश्यकताओ की द्विमुखी प्रवृत्ति थी—प्रथम तो वैदिक वाक्यो की शुद्ध व्याख्या करना और दूसरे यज्ञो के अवसरो पर दार्शनिक चर्चाओ के मध्य अपने मत को सफलता के साथ स्थापित करना । ब्राह्मणो का एक प्रमुख कर्त्तव्य था यज्ञावधि मे उत्पन्न होने वाले विवादो का निर्णय करना, यह तभी सभव हो सकता था जब वे प्रखर तर्क बुद्धि से सम्पन्न हो, इस प्रकार के निर्णय प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थो मे बिखरे पडे है, जिनका सकलन जैमिनि के पूर्व मीमासा सूत्रो मे हुआ है । इन दार्शनिक गवेषणाओ का सग्रह विभिन्न

---

१. न्यायभाष्य पृ० २६

उपनिषदो मे हुआ, जिससे उत्तरमीमांसा की उद्भावना हुई। जैमिनि ने श्रुति-भाष्य की ऐसी विधियो की स्थापना की जो गौतम के न्याय सिद्धान्तों के प्रत्यक्ष उद्भावक प्रतीत होते है, अत: यह स्वीकार किया जा सकता है कि सर्वप्रथम मीमासको ने ही वैदिक व्याख्याओ की आवश्यकता के प्रसग में तर्क सिद्धान्तो का विकास किया और उन्हे न्याय सज्ञा प्रदान की अत· जब मनु और आपस्तम्ब तर्क अथवा न्याय शब्द का प्रयोग करते हैं, तो हमे इन शब्दो को वैदिक व्याख्या के ही सन्दर्भ मे ही ग्रहण करना चाहिए। बाद मे इन सिद्धान्तो की उपयोगिता के कारण उनका प्रयोग वैदिकेतर उद्देश्यो के लिए भी किया जाने लगा। इस प्रकार पूर्वमीमासा के व्याख्या सिद्धान्तो के इस अन्वेक्षण ने एक ऐसे शास्त्र को उत्पन्न किया, जिसे सर्वप्रथम आन्वीक्षिकी सज्ञा प्रदान की गयी। सभवत इस अन्वीक्षिकी शास्त्र ने ही आधुनिक न्याय उपाधि ग्रहण कर ली, जब गौतम ने उसका दार्शनिक सस्कार किया। यदि यह कल्पना सत्य हो तो हम न्यायदर्शन में गौतम के योगदान की एक स्पष्ट धारणा का निर्माण कर सकते हैं, और उनका योगदान निश्चित रूप से स्तुत्य है। गौतम ने आन्वीक्षिकी शास्त्र के प्रायोगिक सिद्धान्तों से ही एक ऐसी दार्शनिक पद्धति का विकास किया, जो शीघ्र ही उत्तरमीमासा का प्रतिद्वन्द्वी बन गया। इस सम्बन्ध मे गौतम की तुलना अरस्तू और काण्ट से की जा सकती है, यद्यपि प्रभाव की दृष्टि से वे गौतम के सम्मुख टिक नही पाते।

भाष्य युग का प्रारम्भ पक्षिल स्वामी के रूप मे प्रसिद्ध वात्स्यायन से प्रारम्भ होता है। हेमचन्द्र के अनुसार ये वात्स्यायन अर्थशास्त्र के प्रणेता चणक के पुत्र कौटिल्य (चाणक्य) से अभिन्न है, तथा ये द्राविड देश के रहने वाले थे, जिसकी राजधानी काञ्जीवरम् थी।[१] परन्तु सतीशचन्द्र विद्याभूषण वात्स्यायन और चाणक्य को अभिन्न मानने को प्रस्तुत नही है।

प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग (५०० वि०) ने 'प्रमाण समुच्चय' नामक ग्रन्थ मे वात्स्यायन भाष्य के अनेक अशो की आलोचना की है, अत. वात्स्यायन का समय दिङ्नाग के समय अर्थात् विक्रमपूर्व पाचवी शताब्दी से पूर्व होना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु ने, जिनका समय सवत् ४८० वि० है, वात्स्यायन से भिन्न रूप से अनुमान की प्रणाली और अवयवों का निरूपण किया है। सुबन्धु यदि वात्स्यायन से पूर्व-

१. अभिधान चिन्तामणि

वर्त्ती होते तो वात्स्यायन अपने न्यायभाष्य मे अन्य पूर्ववर्त्तियो के समान सुबन्धु की भी आलोचना अवश्य करते। चूकि न्यायभाष्य मे सुबन्धु के मत का कही उल्लेख भी नही है, अत वात्स्यायन को सुबन्धु से पूर्ववर्त्ती होना चाहिए। साथ ही (प्रक्षिप्त) न्याय सूत्रो पर भी वात्स्यायन का भाष्य विद्यमान है, जिनमे माध्यमिक सूत्रो तथा लकावतार सूत्रो पर आधारित बौद्ध सिद्धान्तो का खण्डन किया गया है, इन बौद्ध सूत्रो की रचना प्रथम शताब्दी के बाद हुई है, अत इनके लगभग दो सौ वर्ष बाद अर्थात् चतुर्थ शताब्दी मे वात्स्यायन का समय होना चाहिए। गौतम सूत्रो के प्रथम भाष्यकार वात्स्यायन है, यह कहना भी कठिन है। क्योकि वात्स्यायन द्वारा न्यायसूत्र १ १.५ की वैकल्पिक व्यवस्था से यह प्रगट होता है कि उस समय तक परम्परागत अर्थ-क्षीण होने लगे थे, और उनके पूर्ववर्त्ती अनेक लेखको ने सूत्रो की नवीन व्यवस्था प्रस्तुत की थी। गौतम और वात्स्यायन के बीच एक दीर्घकाल का अन्तर मिलता है। इस बीच सभव है, कुछ उल्लेखनीय लेखक हुए हो, परन्तु उनका कोई अवशेष नही मिलता। इसका कारण स्कीथियनो का आक्रमण हो सकता है, जिन्होने ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से लेकर चतुर्थ शताब्दी तक के समस्त साहित्यिक सामग्री को पूर्णत नष्ट कर दिया, अथवा किसी अज्ञात कारण ने देश की दार्शनिक गतिविधियो को पूर्णत अवरुद्ध कर दिया हो।

वार्तिककार उद्योतकर —

समय और महत्व दोनो दृष्टि से वात्स्यायन के बाद दूसरा स्थान वार्त्तिककार उद्योतकर का है। इन्होने न्यायसिद्धान्तो पर दिङ्नाग (छठी शताब्दी) और नागार्जुन द्वारा किये हुए आक्षेपो का उत्तर देकर उनकी रक्षा की है। महाकवि सुबन्धु (सातवी शताब्दी) ने न्याय के प्रतिसस्थापक के रूप मे उद्योतकर को स्मरण किया है।[1] अत इन्हे दिङ्नाग और सुबन्धु के मध्य अर्थात षष्ठ शताब्दी के अन्त अथवा सप्तम शताब्दी का आदिकाल होना चाहिए। इसके अतिरिक्त जैन श्लोकवार्त्तिक के अनुसार उद्योतकर के तर्कों का उत्तर देने का कार्य धर्मकीर्त्ति ने किया है, तथा धर्म-कीर्त्ति का जीवनकाल सप्तम शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है, अत उद्योतकर का निश्चित रूप से धर्मकीर्ति से पूर्व अर्थात् षष्ठ शताब्दी का उत्तरार्ध होना चाहिए।

---

१ वासवदत्ता

उद्योतकर के पश्चात् न्यायदर्शन के विकासक्रम मे १०वी शताब्दी तक एक दूसरा दीर्घ अन्तराय मिलता है, जबकि न्यायकन्दली के लेखक के प्रभाव स्वरूप एक पुनर्जागरण का काल आता है। न्यायकन्दली प्रशस्तपादभाष्य की सर्वप्रथम ज्ञान टीका है, इसके अतिरिक्त श्रीधर ने तीन अन्य ग्रन्थो—अद्वैत सिद्धि, तत्वबोध तथा तत्वसवादिनी की रचना की। उद्योतकर और श्रीधर के बीच किसी प्रमुख न्याय अथवा वैशेपिक लेखक के न होने से ऐसी सभावना उत्पन्न होती है कि इस दीर्घ अन्तराल मे न्यायशास्त्र की परम्परा भग हो गयी थी। इस अन्तराल को समझने मे यह सोचकर और भी कठिनाई होती है कि यह युग मीमासको वेदान्तियो बौद्धो तथा जैनियो से परिपूर्ण था। गौतम तथा कणाद के अनुयायियो ने इन गतिविधियो से अपने को असपृक्त रखा यह विचित्र बात है। उन्होने वात्स्यायन और उद्योतकर के ग्रन्थो को जीवित रखा, परन्तु धर्मकीर्ति के प्रबल आक्षेपो का उत्तर देने का साहस किसी न्याय अथवा वैशेपिक लेखक ने नही किया। यह कार्य कुमारिल शकराचार्य और मण्डनमिश्र जैसे मीमासको अथवा वेदान्तियो का करना पडा। मण्डनमिश्र के आक्रमणो के विरुद्ध धर्मोत्तर ने धर्मकीर्ति की रक्षा की, और इसके अनन्तर पुन एक नैयायिक आचार्य श्रीधर को हम धर्मोत्तर को उत्तर देते हुए पाते है। इस प्रकार इस अन्तर काल मे यद्यपि न्याय और वैशेषिक दर्शन के प्रवक्ताओ का अभाव खटकता है, तथापि उनके सिद्धात उस काल मे भी नितान्त उपक्षणीय नही थे। मीमासक वेदान्ती बौद्ध तथा जैन आचार्यो की दार्शनिक गति विधियो मे न्याय और वैशेषिक सिद्धान्तो का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता।

उद्योतकर से लेकर १०वी शताब्दी पर्यन्त अन्तराल के अनन्तर न्याय और वैशेषिक के लेखको का इतना आधिक्य मिलता है कि अन्तर कालीन निष्क्रियता की क्षति पूर्ति निस्सदिग्ध रूप से हो जाती है। इस उत्तरकाल की महत्वपूर्ण उपलब्धि है, प्रशस्तपाद और वात्स्यायन की वृत्तियो पर क्रम बद्ध कारिका ग्रन्थो की रचना। इस युग मे सूक्ष्म और पाण्डित्य की तुलना मे वैचारिक निर्भीकता और मौलिकता का सकलन मिलना है। विषय सीमित है, परन्तु उनकी व्याख्या पूर्ण सूक्ष्मता से की गयी है। स्पष्टत इसे पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति कहा जा सकता है। इस युग को हम सक्रमण काल कह सकते हैं, जिसके अन्तर्गत भारत की मध्ययुगीन सूक्ष्म दार्शनिकता ने आधुनिक

शाब्द पाण्डित्य का रूप ग्रहण कर लिया है। यह एक विचित्र संयोग है कि यह युग मध्ययुगीन यूरोप के पाण्डित्य प्रवृत्ति के विकास के लगभग समकालीन है।

इस पुनर्जागरण काल के प्रथम लेखक है श्रीधर, जिन्होंने न्यायकन्दली की रचना ९९१ ई० मे की। इन को एक ओर कुमारिल तथा मण्डनमिश्र और दूसरी ओर आचार्य धर्मोत्तर के तर्को का उत्तर देने के लिए बहुत श्रम करना पडा। न्यायकन्दली एक जैन टीकाकार राजशेखर श्रीधरके अतिरिक्त प्रशस्तपाद भाष्य पर तीन अन्य टीकाओ, शिवाचार्य की व्योमवती, उदयन की किरणावली तथा श्रीवत्स की (जिनका दूसरा नाम बल्लभ था) लीलावती का उल्लेख करते है। इन सब की रचना श्रीधर के पश्चात् परन्तु १३ वीं शताब्दी के अन्त से पहले हुई थी। ये सभी प्रख्यात विद्वान् और आचार्य के रूप मे प्रतिष्ठित थे, और सभी प्राचीन विषयो पर अपनी मौलिकता पूर्ण व्याख्याओ के लिए प्रसिद्ध है। शिवादित्य कृत केवल सप्तपदार्थी प्राप्त है, उनकी प्रशस्तपाद टीका उपलब्ध नही है, परन्तु उत्तर कालीन रचनाओं मे उनकी मान्यताओ का प्राय उल्लेख मिलता है। उदयन की किरणावली सम्भवत अपूर्ण रह गयी थी, क्योंकि प्राय सभी उपलब्ध पाण्डुलिपियो मे केवल द्रव्य और गुण अध्याय ही मिलते है।

श्रीधर के पश्चात् ११ वी शताब्दी मे वाचस्पतिमिश्र हुए, जिन्होंने समस्त प्रमुख दर्शनो पर टीकाओ की रचना की और अपनी प्रतिभा के कारण परवर्त्ती काल मे सर्वाधिक श्रद्धास्पद बन गये। इन्होंने वेदान्त पर भामती साख्यकारिका पर तत्वकौमुदी, और उद्योतकर के न्यायवार्त्तिक पर तात्पर्य नामक पाण्डित्यपूर्ण टीका की रचना की। इनकी तात्पर्यटीका पर बाद मे उदयन ने तात्पर्यपरिशुद्धि नाम से टीका लिखी। किरणावली तथा तात्पर्य-परिशुद्धि के लेखक उदयनाचार्य वाचस्पति मिश्र के कुछ पश्चात् हुए। उनका जीवन काल १२ शताब्दी का अन्त निर्धारित किया जा सकता है।

उदयन इस युग के सब से महान नैयायिक है। इनका व्यक्तित्व बहुमुखी था। ये एक ओर प्रकाण्ड न्याय वेत्ता और दूसरी ओर धार्मिक पुनरुद्धारक थे। इन्होंने कुसुमाञ्जलि और बौद्धधिक्कार ग्रन्थो के द्वारा नास्तिको द्वारा उठाई हुई आपत्तियो का उत्तर देते हुए अपनी प्रबल युक्तियो द्वारा ब्रह्म की सत्ता स्थापित की थी। यदि भारत मे बौद्धो के पूर्ण विनाश का मोनियर

विलियम द्वारा निर्धारित १३ वी शताब्दी का प्रारम्भिक काल सत्य मान लिया जाए तो बौद्धो पर अन्तिम प्रहार करने मे उदयन का प्रमुख हाथ मानना होगा। न्याय और वैशेषिक को एक पूर्ण इकाई के रूप में एकीकृत करने मे भी परम्परा से उदयन की प्रसिद्धि है। यद्यपि उदयन के ग्रन्थो से इस तथ्य का समर्थन नही होता, किन्तु उसमे इस आशय के सकेत अवश्य मिलते हैं, जिसने परवर्ती लेखको को इस दिशा मे प्रेरित किया। जहा तक बल्लभाचार्य के जीवनकाल का प्रश्न है, इसके सम्बन्ध मे कुछ निश्चित नही कहा जा सकता है, परन्तु वे उदयन के नही तो सप्तपदार्थी के लेखक शिवादित्य के पूर्ववर्ती अवश्य प्रतीत होते है। इस अनुमान की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि देवगिरि के यदुवशी राजा सिङ्घण की, जिन्होने १२१० से १२४७ तक राज्य किया, स्तुति मे उनके समकालीन कवि द्वारा रचित दर्शनसार नामक काव्य मे न्यायलीलावती का उल्लेख मिलता है। दर्शनसार मे उदयन आदि कुछ अन्य लेखको का भी उल्लेख किया गया है। यहा यह बताना अनावश्यक ही होगा कि न्यायलीलावती के लेखक बल्लभ १५ वी शताब्दी के महान् वैष्णव आचार्य बल्लभ से नितान्त भिन्न है।

न्यायदर्शन की विकास परम्परा के द्वितीय काल के अन्तर्गत वरदराज तथा मल्लिनाथ आदि अपेक्षाकृत कुछ कम महत्वपूर्ण लेखको के नाम आते है, जिनका अनुगामी साहित्य पर कोई प्रभाव दृष्टि गोचर नही होता। इस काल का अन्त चौदहवी शताब्दी के आरम्भ मे होता है। इस काल का प्रारम्भ और अन्त महान गति विधियो का समय रहा है। इस काल मे भले ही महत्वपूर्ण ग्रन्थो की रचना नही हुई, किन्तु इसी काल मे सूक्ष्म मतवैभिन्न्य के चिन्तनानुचिन्तन की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप न्याय और वैशेषिक दर्शनों के समन्वय की भावना का भी उदय हुआ। इसकाल के अन्तर्गत प्राय सभी प्रमुख सिद्धान्तो का पूर्ण विकास हुआ, जिसके आधार पर तृतीयकाल के लेखको ने कोई वास्तविक प्रगति किए बिना ही सूक्ष्म पाण्डित्य का प्रदर्शन किया। इसकाल मे उदयन तथा शिवादित्य के अतिरिक्त ऐसे लेखको का अभाव ही मिलता है, जिन्हे आचार्य की सज्ञा दी जा सके, और जिन्होने अपनी मौलिकता से किसी युग प्रवर्तक ग्रन्थ का निर्माण किया किया हो। इस काल मे दर्शन की मौलिकता नवीनता और आकर्षणशक्ति का निरन्तर ह्रास होता गया और उसका स्थान तर्क वितर्को की मानसिक शृखलाओं ने ले लिया।

चौदहवी शताब्दी के अन्त के साथ न्यायशास्त्र के तीसरे काल का आरम्भ होता है, तत्वचिन्तामणि के लेखक इसके अधिष्ठाता कहे जाते है। उन्होने प्राचीन न्याय की धारा को हटा कर नव्यन्याय की स्थापना की, जो बाद मे बगाल के नदिया अथवा नवद्वीप प्रदेश मे विकसित होने के कारण नवद्वीप शाखा अथवा नदिया शाखा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस शाखा के लेखकों की प्रमुख विशेषताए है उनकी अहम्मन्यता आलोचनात्मक क्षमता का असाधारण विकास और परम्परागत सिद्धान्तो की सकीर्णता को न छोडने का पूर्ण आग्रह। इसकाल के अन्तर्गत सूत्रो और उनके भाष्यो का तिरोभाव हो गया, और गगेश के ग्रन्थो पर ही इतना प्रचुर साहित्य लिखा गया कि ससार के किसी भी देश अथवा काल मे इसका कोई उदाहरण नही मिल सकता। यहा पाण्डित्य प्रदर्शन की पराकाष्ठा मिलती है, और यथार्थ दार्शनिकता का पूर्ण अभाव। यद्यपि इस प्रवृत्ति के अपवादो का सर्वथा अभाव नही है। इस युग के प्रारम्भिक लेखको मे स्फूर्त्तिदायक विचार स्वातन्त्र्य की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार के लेखको मे गगेशोपाध्याय का नाम सर्वप्रमुख है, जिन्होने नव्य शाखा की स्थापना की। नव्यन्याय की इस पद्धति मे सूत्र पद्धति की पूर्णत उपेक्षा कर लक्ष्यानुसारिणी नवीन पद्धति को अपनाया गया। इसके साथ ही इस पद्धति मे प्राचीन काल से स्वीकृत षोडश पदार्थों का महत्व अत्यन्त कम हो गया। गौतम ने जिन जाति और निग्रहस्थानो के वर्णन मे सम्पूर्ण पाचवा अध्याय लिख डाला था, नव्यन्याय मे उनका केवल नाम ही शेष रह गया। इस के स्थान पर नव्यन्याय मे पञ्चावयव वाक्य के अवयवो पर बहुत विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया। नव्यन्याय की तीसरी विशेषता है प्रकरण ग्रन्थ, जिनमे शास्त्र के एक अश का, तथा आवश्यकतानुसार अन्य शास्त्र के भी उपयोगी अश का प्रतिपादन किया जाता है।

नव्यन्याय के प्रवर्त्तक गगेशोपाध्याय के जीवन काल के सम्बन्ध कुछ निश्चित रूप से नही कहा जा सकता, सभवत वे चौदहवी शताब्दी के अन्त मे रहे होगे। उन्होने अपने ग्रन्थो मे वाचस्पतिमिश्र को उद्धृत किया है, और उनके पुत्र वर्धमान ने उदयन की किरणावली तथा वल्लभ की न्यायलीलावती पर व्याख्या ग्रन्थो की रचना की है, अत गगेश निश्चित रूप से बारहवी शताब्दी के बाद रहे होगे। गगेश के पश्चात् दो उल्लेखनीय लेखक जयदेव तथा वासुदेव हुए। बर्नेल के अनुसार पक्षधरमिश्र के रूप में प्रसिद्ध जयदेव ने

गंगेश की तत्वचिन्तामणि पर मध्यालोक नामक टीका लिखी, ये जयदेव ही प्रसन्न राघव के भी रचयिता है, किन्तु गीतगोविन्दकार जयदेव इनसे भिन्न है। जयदेव के सहशिष्य तथा तत्वचिन्तामणि के टीकाकार वासुदेव सार्वभौम के चार शिष्यो मे से प्रथम चैतन्य के रूप मे प्रसिद्ध बगाल के धर्म सुधारक गौराङ्ग का जन्म १४४५ ईसवी के लगभग हुआ था, अत सार्वभौम और जयदेव निश्चित रूप से १५ वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे रहे होगे, और गगेश कम से कम एक या दो पीढी पहले। जयदेव के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि उन्होने अपने पितृव्य से तत्वचिन्तामणि का अध्ययन किया था, इससे प्रकट होता है कि गगेश की इस कृति को प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप मे मान्यता १४ वी शताब्दी के प्रथम उत्तरार्ध मे प्राप्त हो चुकी थी, अत गगेश को १४ वी शताब्दी के उत्तरार्ध तक रखना अनुचित न होगा।

वासुदेव सार्वभौम निश्चित रूप मे एक उल्लेखनीय व्यक्ति रहे होगे, क्योकि उनके सभी शिष्यो ने विविध क्षेत्रो मे अपनी विशिष्टता का परिचय दिया है। उनमे से चैतन्य ने एक वैष्णव सम्प्रदाय की स्थापना की, जो शीघ्र ही सारे बगाल मे छा गया और वहा के धार्मिक जीवन मे एक क्रान्ति मचादी। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि आज के आस्थावादी सिद्धान्त के सर्वश्रेष्ठ भाष्यकार ने अपना प्रारम्भिक प्रशिक्षण न्यायदर्शन से प्राप्त किया। चैतन्य का भक्त मस्तिष्क निश्चित रूप से गगेश के सूक्ष्म पाडित्य से टकराया होगा, परन्तु उन्हे चैतन्य के दृष्टिकोण को प्रभावित करने मे सफलता नही मिली होगी। तर्कशिरोमणि अथवा केवल शिरोमणि के रूप मे प्रसिद्ध वासुदेव के द्वितीय शिष्य रघुनाथ ने गगेश के तत्वचिन्तामणि ग्रन्थ पर दीधिति नामक सर्वश्रेष्ठ टीकाग्रन्थ की रचना की जो नव्यनैयायिको के मध्य सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप मे प्रतिष्ठित है। उनके तीसरे शिष्य रघुनन्दन अपने समय के सर्वश्रेष्ठ विधिवेत्ता हुए, उन्होने जीमूतवाहन कृत 'दायविभाग' नामक ग्रन्थ पर टीका की रचना की, जिसे आज भी बगाल मे सर्वश्रेष्ठ विधिग्रन्थ के रूप मे मान्यता प्राप्त है। उनके चतुर्थ शिष्य कृष्णानन्द ने तन्त्रमन्त्र तथा इसी प्रकार के अन्य विषयो पर कतिपय ग्रन्थो की रचना की। चैतन्य के समकालीन ये सभी लेखक अवश्य ही सोलहवी शताब्दी के आस पास रहे होगे। रघुनाथ शिरोमणि ने दीधिति के अतिरिक्त उदयन के ग्रन्थो पर कुछ अन्य टीकाए भी लिखी, उनमे से एक पदार्थखण्डन है, जिसमे वैशेषिक दर्शन के पदार्थ विभाजन पर आक्षेप किया गया है। उनके पश्चात् अन्य अनेक टीकाकार

हुए जिनका एक मात्र उद्देश्य दीधिति को अधिकाधिक जटिल और दुर्बोध बनाना प्रतीत होता है। रघुनाथ के निकट परवर्त्ती मथुरानाथ हरिराम तर्कालकार और जगदीश थे। इनके पश्चात् इनके शिष्य रघुदेव और गदाधर हुए। गदाधर को हम भारतीय नैयायिकों का सम्राट् कह सकते हैं, जिन्होंने अपने प्रखर पाण्डित्य से नव्य न्याय को उसकी चरम सीमा पर पहुचा दिया। गदाधर इतने महान् और निष्ठावान् नैयायिक थे कि वे जब मृत्यु शय्या पड़े थे, उनसे विश्व के आदि कारण ब्रह्म का ध्यान करने के लिए कहा गया तो वे ब्रह्म के स्थान पर 'पीलव' शब्द का उच्चारण करने लगे। इन्होंने गगेश के तत्वचिन्तामणि, शिरोमणि के दीधिति और जयदेव के आलोक आदि अनेक ग्रन्थो पर लगभग ६४ पाण्डित्यपूर्ण टीका ग्रन्थो की रचना की। परन्तु उनमे से अधिकाश ग्रन्थ अप्राप्य है। गदाधर का जीवनकाल रघुनाथ की दो पीढी बाद १६ वी शताब्दी का अन्त अथवा सत्रहवी शताब्दी का प्रारम्भ निर्धारित किया जा सकता है। मुगल शासक अकबर के शासन काल मे गादाधर ऐसे विद्वानो को अनुकूल वातावरण मिला, परन्तु अकबर की मृत्यु ने साहित्यक पुनर्जागरण के सभी रूपों को पूर्णत. नष्ट कर दिया, तथा दो सौ वर्षों की सघर्ष तथा अराजकतापूर्ण स्थिति ने दार्शनिक गति विधियो के लिए कोई अनुकूल वातावरण नही प्रदान किया। यही कारण है कि गदाधर के पश्चात् न्यायदर्शन के विकास की प्रगति अवरुद्ध हो गयी।

गदाधर की अनुगामी पीढी का प्रतिनिधित्व शकरमिश्र और विश्वनाथ करते है, शकरमिश्र ने कणादसूत्रो पर उपस्कार टीका तथा कणादरहस्य एव विश्वनाथ ने गौतमसूत्रो पर वृत्ति और सिद्धान्त मुक्तावली ग्रन्थों की रचना की। शकरमिश्र गदाधर के सहपाठी और रघुदेव के शिष्य थे। विश्वनाथ के जीवन काल के सम्बन्ध मे कुछ सन्देह है, परन्तु सभवत. वे इसी काल के अन्तर्गत रहे होगे।

यह उल्लेखनीय है कि कणाद और गौतम के सूत्रो ने एक ही समय फिर से टीकाकारों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। शकरमिश्र और विश्वनाथ में, जिन्होंने क्रमश कणाद और गौतम के सूत्रो की टीका की, बहुत सामानता मिलती है, और ये दोनों संभवत. समकालीन थे। ऐसा प्रतीत होता है कि गदाधर की अतिवादिता की प्रतिक्रिया ने इन लेखको को सूत्रों पर नये ढग से टीका करने के लिए प्रेरित किया। इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि न्याय

दर्शन के सिद्धान्तो का यथा संभव सरल भाषा में लोगों को प्रारम्भिक ज्ञान कराने के लिए गुच्छों की रचना की गयी। इस प्रकार के गुच्छो के उदाहरण भाषापरिच्छेद तर्कसंग्रह और तर्कामृत आदि हैं। इससे न्यायशास्त्र के उन विद्यार्थियो को निश्चित रूप से कुछ मुक्ति मिली होगी, जो पञ्चलक्षणी तथा दसलक्षणी की जटिलता मे दिग्भ्रान्त हो गये थे। समय के प्रभाव से ये गुटके भी टीकाओं के बोझ से दब गये, परन्तु सौभाग्य से १-२ टीकाओ को छोडकर इनमे से कोई भी अपने मौलिक ग्रन्थ की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय न हो सके। इसके दो अपवाद हैं, मौलिक ग्रन्थकारो द्वारा ही की गयी टीकाए एक विश्वनाथ की मुक्तावली और दूसरी अन्नभट्ट की तर्कदीपिका, जो व्याख्यात्मक भाष्य से अधिक मूल ग्रन्थ के बडे सस्करण हैं। ये गुटके विद्यार्थियो के लिए बहुत सरल और उपयोगी सिद्ध हुए, परन्तु ये न्याय और वैशेषिक दर्शन के विकास की निम्नतम स्थिति के भी प्रतीक है। इस काल से मौलिकता और दार्शनिक प्रतिभा की एक प्रकार से मृत्यु हो जाती है। टीकाकारो का उद्देश्य अपनी कोई मान्यता स्थापित करने की अपेक्षा केवल अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारो के विचारो को समझाना रह जाता है। इन्हें हम टिप्पणीकार कह सकते हैं, जिसमे मूल वैचारिक शक्ति का सर्वथा अभाव मिलता है। इस प्रकार इन टिप्पणीकारो के साथ भारत के महान् शक्तिशाली न्यायदर्शन के इतिहास का अन्तिम अध्याय सर्वदा के लिए समाप्त हो जाता है।

न्याय सूत्रो की भाति ही वैशेषिक सूत्रो का रचनाकाल भी अनिश्चित ही है। यद्यपि न्यायसूत्रो का वह समकालीन अवश्य है। न्याय सूत्रो मे जहा मूलत न्याय अथवा तर्क का प्रतिपादन किया गया है, वही वैशेषिक सूत्रो मे ऐसे भौतिकवाद का निरूपण है, जिसमे परमाणुओ को ही सम्पूर्णजगत् का आधार माना गया है। यद्यपि दोनो कई दृष्टि से एक दूसरो के सिद्धान्तो को स्वीकार करते हैं। वैशेषिक सूत्रो के रचयिता कणाद माने जाते हैं। प्रो० ए०बी० कीथ का विश्वास है कि कणाद एक काल्पनिक नाम है। वैशेषिक सूत्रो के प्रारम्भ का काल ई० पू० द्वितीय शताब्दी माना जाता है। इस मान्यता के दो आधार है – प्रथम यह कि अश्वघोष वैशेषिक सिद्धान्तो का खण्डन करते हैं, जिनका समय कनिष्क का राज्यकाल अर्थात् प्रथम शताब्दी है, अत वैशेषिक सूत्रो को इससे पूर्ववर्ती होना चाहिए। दूसरा यह कि इसके अनेक सिद्धान्त जैन सिद्धान्तो से साम्य रखते हैं, साथ ही यह जीवात्मा की

कर्मशीलता को स्वीकार करता है, जिसका कि शांकर वेदान्त निषेध करता है। यह कार्य और कारण मे तथा द्रव्य और गुणो मे भेद स्वीकार करता है तथा परमाणुवाद को भी स्वीकार करता है। इस कारण भी इसे वेदान्त की रचना से पूर्व जैनदर्शन के विकास के समय अर्थात् ई० पू० द्वितीय शताब्दी होना चाहिए।

कश्यप कणभक्ष भी कणाद के ही नाम माने जाते हैं। एक प्राचीन किवदन्ती के अनुसार ये महादेव शिव के शिष्य थे, एव इनकी तपस्या से प्रसन्न होकर स्वयं भगवान् शकर ने उलूक के रूप में प्रगट होकर वैशेषिक सिद्धान्तो का उपदेश दिया था। उलूक नामधारी एक ऋषि का उल्लेख महाभारत मे भी मिलता है, किन्तु वहां वैशेषिक दर्शन की कोई चर्चा नही है। इस दर्शन का औलूक्य दर्शन नाम अपेक्षाकृत प्राचीन है, जिसका उल्लेख उद्योतकर और कुमारिल भी करते है। वैशेषिक शब्द का सभवत प्रथम प्रयोग प्रशस्तपाद के पदार्थधर्मसग्रह मे मिलता है, जिसमे महादेव सम्बन्धी उपर्युक्त कहानी का भी उल्लेख हुआ है।[1] वायुपुराण के अनुसार अक्षपाद कणाद और उलूक सहोदर भ्राता रहे हैं, किन्तु इस कथन की कही पुष्टि न होने से इसकी प्रामाणिकता पर विश्वास नही किया जा सकता।

वैशेषिक दर्शन के सर्वप्रथम भाष्यकार प्रशस्तपाद है, इनके ग्रन्थ पदार्थ-धर्मसग्रह मे वैशेषिक सिद्धान्तो का गभीर विवेचन हुआ है। चू कि इस ग्रन्थ मे सूत्रो के क्रम की उपेक्षा कर विषय क्रम से वैशेषिक सिद्धान्तो का विवेचन हुआ है, अत. इसे भाष्य की अपेक्षा स्वतन्त्र ग्रन्थ कहना अधिक उचित होगा, यद्यपि परम्परा के अनुसार इसे भाष्य ही कहा जाता है। वैशेषिक परम्परा मे प्रशस्तपाद का स्थान कणाद और पूर्ववर्त्ती टीकाकारों के मध्य कहा जा सकता है। इनके जीवनकाल के सम्बन्ध मे भी कुछ निश्चित कह सकना सभव नही है। प्रशस्तपाद के ग्रन्थो की सबसे प्राचीन ज्ञात टीका श्रीधर की है, जो स्वय अपना जीवनकाल सन् ९९१ ई० बताते है। श्रीधर निश्चित रूप से शकराचार्य से पूर्ववर्त्ती रहे होंगे, जो प्राय उनके ग्रन्थो को उद्धृत करते हैं। कणाद के सम्बन्ध शकराचार्य की शारीरिकभाष्य में उल्लिखित धारणाए प्रशस्तपाद के ग्रन्थों मे मिल जाती है। शारीरिक भाष्य की अपनी टीका

---

१ प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १७५।

प्रकटार्थ में श्रीचरण शंकर द्वारा आलोचना किये हुए एक सिद्धान्त के सम्बन्ध में लिखते हैं कि वह प्राचीन वैशेषिकों का सिद्धान्त है, यद्यपि रावणभाष्य से इसका समर्थन नहीं होता है। इस सिद्धान्त का उल्लेख प्रशस्तपाद ने भी किया है, जो निश्चित रूप से रावण से प्राचीन होंगे। रावण भाष्य जो या तो कणाद के सूत्रों की टीका है अथवा प्रशस्तपाद के ग्रन्थ की, आज उपलब्ध नहीं है और न उसका रचना काल ही ज्ञात है। ऐसा कहा जाता है कि उदयन की किरणावली इस पर आधारित है। यदि इस रावण को ऋग्वेद का प्रसिद्ध टीकाकार रावण मान लिया जाए तो अवश्य ही एक बहुत प्राचीन लेखक हैं, इस स्थिति मे प्रशस्तपाद और भी प्राचीन होंगे। प्रशस्तपाद वात्स्यायन के भी पूर्ववर्ती होगे, जिनके षट्पदार्थवाद का उल्लेख वात्स्यायन के ग्रन्थों मे मिलता है।[1] इतना होने पर भी प्रशस्तपाद के जीवनकाल के सम्बन्ध मे कुछ भी कहना सभव नही है।

जैसी कि हम पूर्व पृष्ठो मे चर्चा कर चुके हैं, प्रशस्तपाद भाष्य के प्रथम टीकाकार श्रीधर है, जिन्होंने ९९१ के लगभग **न्यायकन्दली** नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ मे ईश्वरवाद के अतिरिक्त द्रव्यादि छ पदार्थों का विवेचन किया गया है। पदार्थ विवेचन के प्रसग मे अभाव का योग भी श्रीधर ने ही किया है।

आचार्य उदयन ने प्रशस्तपाद के भाष्य पर किरणावली नामक टीका के अतिरिक्त **लक्षणावली** नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी वैशेषिक सिद्धान्तो के विवेचन के लिए लिखा था। वैशेषिक सूत्रों पर रीत्यनुसारी टीका **उपस्कार भाष्य** है, जिसकी रचना शकर मिश्र ने १६वी शताब्दी मे की। शंकरमिश्र का ही एक स्वतन्त्र ग्रन्थ **कणादरहस्य** है जिसमे वैशेषिक सिद्धान्तो का ही विवेचन किया गया है। वैशेषिक की परम्परा मे सूत्रो पर भाष्य की अपेक्षा स्वतन्त्र ग्रन्थो की रचना को देखकर प्रतीत होता है कि टीकाकारो को सूत्रों से बाहर स्वतन्त्र भी कुछ ऐसे सिद्धान्त परम्परा से प्राप्त हुए होगे, जिनका विवेचन सूत्रो के भाष्यो की अपेक्षा स्वतन्त्र ग्रन्थ मे अधिक सुगम प्रतीत हुआ होगा।

जैसी कि भूमिका के प्रारम्भिक पृष्ठो मे हमने चर्चा की है, भारतीय दर्शन का उदय और विकास धार्मिक भावनाओ की पृष्ठभूमि मे हुआ था, और

---

१. न्यायभाष्य पृ० १७, ६७

उसमे भी ईश्वर की सिद्धि करना दर्शनो का मुख्य साध्य था, किन्तु इन प्रसगो मे अर्थात् ईश्वर सिद्धि के प्रसग मे न्याय और वैशेषिक दर्शनो मे परस्पर कोई मतभेद नही था, अत न्याय दर्शन के विकास की परम्परा मे ही वैशेषिक दर्शन का भी विकास मानना अनुचित न होगा। गौतमसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन द्वारा एकाधिक स्थलो मे प्रमेय अथवा पदार्थ के रूप मे वैशेषिक से सर्वथा अभिन्न द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष और समवाय का परिगणन दोनो के मौलिक अभेद का ही प्रमाण है। यही कारण है कि नव्यन्याय के प्रसार के अनन्तर लिखे गये न्याय के गुटका ग्रन्थो मे गौतम सूत्रो के सोलह पदार्थों की उपेक्षा कर प्रमेय (पदार्थ) विवेचन मे वैशेषिक स्वीकृत द्रव्य गुण आदि पदार्थों को ही आधार के रूप मे स्वीकार किया गया है, केवल प्रमाण प्रकरण मे ही वैशेषिक के दो प्रमाणो के स्थान पर न्याय स्वीकृत चार प्रमाणो का निरूपण किया गया है। यही कारण है कि प्रस्तुत ग्रन्थ मे भी इसी परम्परा का अनुसरण किया गया हे, एव सिद्धान्तो के प्रतिपादन के प्रसग गौतम के समान ही कणाद और प्रशस्तपाद को आचार्य के रूप मे स्वीकार किया गया है।

विषय-प्रवेश

दर्शन क्या है ?

चाहे विवेकी मानव हो अथवा विवेक के सम्पर्क से सर्वथा परे रहने वाला मानवेतर प्राणी, सभी जीवन (सत्ता), दु:खहानि और सुख की प्राप्ति केलिए आदि काल से प्रयत्नशील है, "भू' 'भुवः' 'स्व'" ये तीन वैदिक महाव्याहृतिया इसकी साक्षी है, किन्तु इस प्राणि वर्ग मे पशु और पक्षियो के जीवन का सचालन सहज वृत्ति से होता है, जबकि मानव का बुद्धि से। 'मानव' बुद्धि से प्रेरित हो विश्वके यथार्थ-ज्ञान के लिए प्रयत्नशील होता है, और इस यथार्थ के द्वारा वह वर्तमान का नही भविष्य का चिन्तन करता है उसका निर्माण करता है। यही कारण है कि जहा पशु पक्षियो का एकमात्र साध्य काम *(आहार निद्रा और मैथुन) हुआ करता है वहा मनुष्य का 'काम'* न तो साध्य है और न प्रमुख साधन ही। वह धर्म और अर्थरूप मुख्य साधनों द्वारा काम को प्राप्त करता है किन्तु उसे भी चरम साध्य मोक्ष के लिए एक साधन के रूप मे परिगणन कर देता है। इसमे वह मुख्यतम साधन के रूप मे बुद्धि को ही स्वीकार करता है तभी तो वैदिक ऋषियो ने 'धियो यो न प्रचोदयात्' द्वारा 'धी' (बुद्धि) की ही कामना की थी, और उसी के विकास के रूप मे 'तत्व ज्ञान की प्राप्ति के प्रयत्न' प्रारम्भ हुए थे। तत्वज्ञान प्राप्ति के इन्ही प्रयत्नो को 'दर्शन' कहा जाता है। यह तत्वज्ञान एक ज्ञान विशेष है, तथा ज्ञान के प्रसङ्ग मे ज्ञाता (जानने वाला) ज्ञेय (जानने योग्य पदार्थ) ज्ञान साधन (प्रमाण आदि) का ज्ञान आवश्यक होता है, इसीलिए दर्शन का क्षेत्र ज्ञाता के रूप मे आत्मा अथवा जानने वाले मनुष्य के यथार्थ-रूप का, ज्ञेय के रूप मे प्रकृति (गुणों के रूप मे तथा पदार्थ रूप मे), विश्व के कारण भूत ब्रह्म, अथवा कर्म आदि का तथा ज्ञानसाधन भूत प्रमाण आदि का ज्ञान रहा है। इनका वास्तविक ज्ञान ही तत्व ज्ञान है, दर्शन है। इसी दर्शन को भगवान मनु ने कर्म बन्धन से छूटने का मार्ग बताया है।[1]

१. मनुस्मृति ६. ७४।

भगवान् बुद्ध ने भी इसी दर्शन को सम्यग्दर्शन (सम्मादिट्ठि) कहते हुए दुखहानोपाय के रूप मे स्वीकार किया है।[1] इसी कारण आदि काल से भारतीय वाड्मय मे दर्शन का प्रमुख स्थान रहा है।

भारतीय दर्शन की उदात्तता

भारतीय दर्शन की दृष्टि व्यापक है, इसमे न केवल आध्यात्म का, वैदिक मान्यताओ से सम्बद्ध चिन्तन का समावेश है, अपितु इनके साथ ही इसमे उन चिन्तको के चिन्तन को भी सहृदयता पूर्वक हृदयमङ्ग करने का प्रयत्न किया गया है, जो वेदो के सबल विरोधी रहे है। वैदिक दर्शनो मे भी अन्य दर्शनो के चिन्तन का पूर्वपक्ष के रूप मे प्रतिपादन इस रूप मे किया गया है कि उसे देखकर यह कहना कथमपि सभव नही है कि विविध विचारधाराओ के प्रवर्त्तकों अथवा उनके अनुयायियो के बीच विचारो मे मतभेद के अतिरिक्त कोई व्यावहारिक विरोध था। यथार्थ तो यह है कि अवैदिक दर्शनो मे अन्यतम 'चार्वाक' दर्शन की जानकारी भी हमे उसके परम्परा-गत मौलिक ग्रन्थो के अभाव मे अन्य दर्शनो के द्वारा ही होती है।

अपनी इस उदात्तता के कारण ही भारतीय दर्शन की प्रत्येक शाखा अपने मे पूर्ण समृद्ध है। इनमे से किसी भी एक शाखा मे अन्य शाखाओ के सिद्धान्तो का सम्यक् विवेचन उपलब्ध होता है फलस्वरूप किसी भी एक शाखा का विद्वान् अन्य शाखाओ के सिद्धान्तो से भली प्रकार परिचित होता है। यही कारण है कि जिन विद्वानो को केवल भारतीय दर्शन का भली-भाति ज्ञान प्राप्त है वे बडी सुगमता से पाश्चात्य दर्शन की जटिल समस्याओ का भी समाधान कर लेते है।

आज आवश्यकता इस बात की है, उसी प्राचीन परम्परा का वर्त्तमान मे भी जागृत रखने की दृष्टि से पाश्चात्य जगत मे विकसित दर्शनो की तुलना के साथ भारतीय दर्शन की विविध शाखाओ का अध्ययन किया जाए।

भारतीय दर्शन की शाखाएं

भारतीय दर्शन की शाखाओ के सम्बन्ध मे अनेक परम्पराए प्रचलित है। एक परम्परा 'पूर्वमीमासा' 'उत्तरमीमासा' (वेदान्त) 'सेश्वरसांख्य' (योग),

---

१. दिघ निकाय तथा मज्झिम निकाय।

'निरीश्वरसाख्य, (कपिल प्रवर्तित साख्य) सप्त पदार्थवादी 'वैशेषिक' एवं षोडश पदार्थवादी 'न्याय' इन छ दर्शनो को ही स्वीकार करती है।[1] अन्य परम्परा मीमांसा, न्याय, साख्य, बौद्ध, जैन और चार्वाक इन छ दर्शनो को स्वीकार करती है। तीसरी परम्परा प्रथम कहे हुए मीमासा, वेदान्त, साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक इन छ दर्शनो के साथ ही सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक इन चार बौद्ध शाखाओ तथा जैन एव चार्वाकदर्शन इन बारह दर्शनो स्वीकार को करती है। चौथी परम्परा चार्वाक, बौद्ध, जैन, रामानुज, पूर्णप्रज्ञ, नकुलीशपाशुपत, शैव, प्रत्यभिज्ञा, रसेश्वर, वैशेषिक, न्याय, साख्य, योग, मीमासा, वेदान्त एव व्याकरण दर्शन (पाणिनि दर्शन) भेद मे १६ शाखाए स्वीकार करती है।

वर्गीकरण

भारतीय दर्शन की उपर्युक्त विविध शाखाओ के वर्गीकरण के भी अनेक प्रकार है। एक परम्परा–'अभेदवादी' और भेदवादी भेद से समस्त दर्शन शाखाओ को दो मुख्य शाखाओं मे विभाजित करती है। इसके अनुसार शाकर वेदान्त मीमासा और व्याकरणदर्शन अभेदवादी है। शाकर वेदान्त का अद्वैतब्रह्मवाद तो प्रसिद्ध है ही, व्याकरण दर्शन भी भिन्न रूप से प्रतीत होने वाले शब्द और अर्थ को एकान्तत तादृत मानते हुए शब्द को ही 'ब्रह्म' मानता है। उसका कथन है कि वाच्य अर्थ और वाचक शब्द दोनो जीव और आत्मा (परमात्मा) के समान ही एकान्त रूप से अभिन्न है, उनमे भेद मूलक सम्बन्ध तो कल्पना प्रसूत है।[2] मीमामा दर्शन भी इसी प्रकार एक मात्र कर्म रूप 'ब्रह्म' का प्रतिपादन करने से अद्वैतवादी ही है। इन तीन के अतिरिक्त शेष सभी शाखाए द्वैतवादी है। इन्ही अभेदवादी दर्शनो को **श्रौत दर्शन** तथा भेद-वादी दर्शनो को तार्किक दर्शन कहा जाता है। यहा श्रौत का तात्पर्य श्रुति (वेद)को ही मूल आधार मानकर प्रतिपादित दर्शन से है, तार्किक दर्शनो मे भी कुछ श्रुति (वेद) का प्रमाण मानते है किन्तु तर्कानुकूल होने पर ही, तर्क से सिद्ध न होने पर श्रुति उनके अनुसार प्रमाण नही है, तथा अन्य बौद्ध आदि श्रुति की प्रमाणिकता को भी स्वीकार नही करते।

---

१. सर्वदर्शन सग्रह, उपोद्घात पृष्ठ १।

२. सर्वदर्शन सग्रह, पृ० ११६।

दूसरी परम्परा उपर्युक्त दर्शनो को आस्तिक और नास्तिक दो शाखाओं मे विभाजित करती है। आस्तिक दर्शन से उनका तात्पर्य है परलोक को स्वीकार करने वाले दर्शन, और नास्तिक दर्शन परलोक को स्वीकार न करने वाले, इस विभाजन के अनुसार चार्वाक नास्तिक दर्शन है शेष सभी आस्तिक ।

तीसरी परम्परा भी उपर्युक्त दर्शनो को आस्तिक और नास्तिक दो भागो मे विभाजित करती है किन्तु इस परम्परा के अनुसार आस्तिक से तात्पर्य है वेदो पर विश्वास करने वाले, तथा नास्तिक का अर्थ है वेदो पर विश्वास न करने वाले, चूँकि चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शन की सभी शाखाए वेदों को मान्यता प्रदान नही करती अत उन्हे नास्तिक तथा शेष को आस्तिक दर्शन कहा जाता है।

भारतीय दर्शनों का सामान्य परिचय

चार्वाक दर्शन--

नास्तिक शिरोमणि चार्वाक द्वारा प्रवर्तित दर्शन का **चार्वाक दर्शन** कहते है। कुछ लोग इस दर्शन का प्रवर्तक आचार्य बृहस्पति को मानते है, अत इस दर्शन को **बार्हस्पत्य दर्शन** भी कहते है। इनके अनुसार स्पर्शेन्द्रिय से मृदु कठोर शीत और उष्ण पर्श का, रसना स मधुर अम्ल लवण आदि रसो का, घ्राणेन्द्रिय से गन्ध का, चक्षुरिन्द्रिय से रूप तथा विश्व के दृश्यमान पदार्थों का, श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान होता है। इस मत मे प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान आदि कोई भी प्रमाण मान्य नही है। इसी कारण इस मत मे प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ज्ञात वायु अग्नि जल तथा पृथ्वी इन चार पदार्थों के अतिरिक्त आकाश आत्मा मन आदि की सत्ता भी स्वीकार नही की जाती। अनुमान आदि प्रमाणो की मान्यता न होने के कारण ही चार्वाक दर्शन मे पुनर्जन्म (परलोक) वेद विहित कर्मों के करने से उत्पन्न पुण्य अथवा निषिद्ध कर्मों के करने से उत्पन्न पाप की सत्ता भी नही मानी जा सकती। ईश्वर अथवा ईश्वर रचित वेद की भी इस मत मे कोई सत्ता नही है। चार्वाक के अनुसार लोक प्रसिद्ध राजा ही परमेश्वर है, देह ही आत्मा है और मृत्यु ही मोक्ष है। प्रेयसी के आलिङ्गन आदि से उत्पन्न सुख ही पुरुषार्थ है रोगादि से उत्पन्न दुःख ही त्याज्य है, इसलिए 'भक्ष्य अभक्ष्य और भोग्य अभोग्य आदि का विचार छोडकर इच्छानुसार सुखों का उपभोग करना चाहिए' इत्यादि ही चार्वाक दर्शन के मान्य सिद्धान्त है। विश्व सृष्टि के संबध मे इनकी मान्यता

है कि जैसे पान सुपारी चूना तथा खदिर आदि में लाल रंग नही है किन्तु मिश्रण से उसके दर्शन होते है, गुड और जल मे न अम्लता है और न मादकता किन्तु उनके मिश्रण से अम्लता और मादकता दोनो का जन्म हो जाता है, इसी भाति पृथिवी आदि चार पदार्थों मे यद्यपि चेतना नही है किन्तु उनके मिश्रण से देह मे चेतना उत्पन्न हो जाती है, एवं उनके विश्लिष्ट होने से विलीन हो जाती है, और इसीलिए मृत्यु के बाद कोई भोक्तव्य कर्तव्य कर्म शेष नही रह जाता। इसीलिए सक्षेप मे उनका सिद्धान्त है '**यावज्जीवेत्सुखं जीवेत्**" ।

बौद्ध दर्शन :—

गौतम बुद्ध द्वारा प्रवर्तित दर्शन को **बौद्ध दर्शन** कहते है। गौतम ने मनुष्य के रोग जरा और मृत्यु आदि दुखो को देखकर व्यथा का अनुभव किया एवं उनके कारणो को समझने तथा उन्हे दूर करने के उपायो को जानने के लिए कठोर तप किया, फलस्वरूप उन्हे चार सत्यो का साक्षात्कार हुआ—(१) दुख है। (२) दुख का कारण है। (३) दुख का अन्त है। (४) दुःख दूर करने के उपाय हैं।

इन चारो सत्यो का बौद्ध दर्शन मे 'आर्य सत्य' कहा जाता है। दुःख दूर करने के उपाय के रूप मे उन्होने अष्टागिक मार्ग को स्वीकार किया है। ये अष्टागिक मार्ग निम्नलिखित है —(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् सकल्प, (३) सम्यक् वाक्, (४) सम्यक् कर्मान्त, (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति, एव (८) सम्यक् समाधि। इन आठ साधनो द्वारा अविद्या और तृष्णा की निवृत्ति होती है । जिसके फलस्वरूप बुद्धिनैर्मल्य, दृढता एव शान्ति की प्राप्ति होती है।

देश देशान्तर मे बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ-साथ बौद्ध मान्यताओ मे भी चिन्तन बढा, एव कालान्तर मे उसमे चार शाखाए हो गयी—(१) माध्यमिक या शून्यवादी, (२) योगाचार या विज्ञानवादी, (३) सौत्रान्तिक, (४) वैभाषिक ।

माध्यमिक:—गौतमबुद्ध ने अपने शिष्यो को उपदेश देते हुए इस समस्त विश्व को असत् अर्थात् शून्य बताया था। उनका तात्पर्य यह था कि — यह सब क्षणिक है, यह सब दुःखमय है, यह सब स्वलक्षण है, तथा सभी शून्य है। इस भावना के उदय के द्वारा विश्व के प्रति वैराग्य का उदय

होकर निर्वाण लाभ होता है । बुद्ध के उपर्युक्त उपदेशो को उनके जिन शिष्यो ने बिना किसी तर्क के स्वीकार कर लिया उन्हे मध्यम बुद्धि होने के कारण माध्यमिक कहा गया ।

योगाचार —बुद्ध के कुछ शिष्यो ने 'यह सब शून्य है (सर्वंशून्यम्)' पर विचार किया, और इस निश्चय पर पहुचे कि 'यदि सभी को शून्य मानेगे तो ज्ञान को भी शून्य (असत्) मानना होगा । अत केवल बाह्य पदार्थों को ही शून्य मानना चाहिए । उनके अनुसार शिष्य के दो कर्त्तव्य है—(१) **योग** अर्थात् अज्ञात पदार्थ का ज्ञान, (२) **आचार** अर्थात् गुरुद्वारा उपदिष्ट अर्थ का आचरण । इनके अनुमार यह सब प्रतीयमान विश्व शून्य है किंतु विज्ञान नित्य है । विज्ञान को यथार्थ मानने के कारण इन्हे **विज्ञानवादी** तथा योग और आचार इन दो कर्त्तव्यो को स्वीकार करने के कारण इन्हे **योगाचार** कहा गया । इनकी मान्यता है कि अनादि वासना के कारण यह विश्व बुद्धि मे अनेक आकार से प्रतिभासित होता है । पूर्वोक्त भावना चतुष्टयके द्वारा अनादि वासना का उच्छेद करने से विशुद्ध ज्ञानोदयरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

सौत्रान्तिक — इनका कथन है कि बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही पदार्थ असत् नही है, असत् होने पर पदार्थों की विविध रूप मे प्रतीति सम्भव नही है, अत प्रतीति के आधार पर बाह्य पदार्थों की सत्ता का भी अनुमान अनिवार्य है । बाह्य पदार्थो का अनुमान करने के कारण इन्हे बाह्यनु-मेयवादी भी कहते हैं ।

वैभाषिक—सौत्रान्तिक बाह्य पदार्थो की सत्ता को अनुमेय मानता है जबकि वैभाषिक उन्हे प्रत्यक्ष मानता है, इनका कहना है कि चू कि अनुमान प्रत्यक्षाश्रित ज्ञान है अत बाह्य पदार्थों के प्रत्यक्ष के अभाव मे उनका अनुमान भी सम्भव नही है, फलत बाह्य पदार्थों को अनुमेय नही अपितु प्रत्यक्ष मानना चाहिए, साथ ही यथार्थ भी । इस प्रकार गुरु (बुद्ध) के 'सर्वं शून्यम्' इस उपदेश से विरुद्ध मान्यता के कारण इन्हे वैभाषिक, बाह्यार्थ का भी प्रत्यक्ष मानने से 'बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी तथा 'सर्वास्तिवादी' कहा जाता है ।

ज्ञान प्राप्ति के साधन के रूप मे बौद्ध दार्शनिक प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानते है ।

जैन दर्शन :—

'जिन' तीर्थंकरो द्वारा प्रवर्त्तित दर्शन को **जैन दर्शन** कहते है । इनके

अनुसार वे तीर्थङ्कर ही अर्हत् अर्थात् ईश्वर हैं, अत इस दर्शन को **आर्हत दर्शन** भी कहा जाता है। जैन दर्शन मे तीर्थङ्करो के अतिरिक्त अन्य ईश्वर की सत्ता स्वीकार नही की जाती। ये प्रत्यक्ष अनुमान के अतिरिक्त आप्त वाक्य शब्द को भी प्रमाण मानते है। इन के मत मे जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, बन्ध, निर्जरा तथा मोक्ष ये नव तत्व है। विश्व के पदार्थ सत् है यह निश्चय सम्भव नही है साथ ही प्रतीयमान पदार्थों का अभाव भी निश्चित रूप मे स्वीकार नही किया जासकता इस प्रकार समस्त प्रतीयमान विश्व भावाभावात्मक है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र के द्वारा देह रूपी आवरण का ह्रास होता है फलत. जीव का ऊर्ध्वगमन होता है, यही मोक्ष है।

रामानुज दर्शन —

रामानुजाचार्य द्वारा प्रवर्त्तित दर्शन को **रामानुज दर्शन** कहते हैं। इनके मत मे मुख्यत तीन तत्व है—(१) चित् (२) अचित् और (३) ईश्वर। इनमें भोक्ता जीव 'चित्' है, भोग योग्य जड प्रकृति 'अचित्' है, तथा दोनो में अन्तर्यामी होकर उनका नियामक आत्मा 'ईश्वर' है। जो जिसमें व्यापक रहता है, उनमे से व्यापक तत्व को 'आत्मा' और व्याप्य को 'शरीर' कहते हैं। चित् और अचित् ईश्वर का शरीर है। जीव ईश्वर का व्याप्य होने से उसका शरीर है साथ ही जड मे व्यापक होने से आत्मा भी है। ये तीनो पदार्थ परस्पर सर्वथा भिन्न होते हुए भी शरीर-शरीरी भाव से अवस्थित होने के कारण विशिष्ट अद्वैत भाव मे सम्पन्न है। इस विशिष्ट अद्वैत सिद्धान्त के कारण इन्हे **विशिष्टाद्वैतवादी** भी कहा जाता है। ये शकराचार्य स्वीकृत वितर्कवाद का खण्डन कर परिणामवाद को स्वीकार करते हुए 'सत्ख्याति' पर विश्वास करते है। इस मत मे जीव और ब्रह्म मे मोक्ष अवस्था मे भी भेद रहता है किन्तु उस स्थिति मे यथार्थत परमात्मस्वरूप का बोध होने के कारण जीव परमात्मा के सेवक भाव को प्राप्त कर लेता है। इस मत मे जीवन्मुक्ति सभव नही है।

पूर्णप्रज्ञ दर्शन —

यह दर्शन माध्व आचार्य द्वारा प्रवर्त्तित है। चूंकि इस सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार आत्मतत्व प्रतिपादक शास्त्र मे आचार्य माध्व की प्रज्ञा पूर्ण थी अत माध्व को 'पूर्णप्रज्ञ' एव उनके दर्शन को **पूर्णप्रज्ञ दर्शन** कहा जाता है। इसके ही अन्य नाम **मध्यम दर्शन** तथा **आनन्द** दर्शन है। इस

दर्शन को **द्वैतवादी** भी कहते हैं। द्वैत का अर्थ है भेद। यह भेद पांच प्रकार का है :—(१) जीव-ईश्वर भेद, (२) जड-ईश्वर भेद, (३) जीव-जड भेद, (४) जीवो मे परस्पर भेद, तथा (५) जड पदार्थों मे परस्पर भेद। यह भेदपञ्चक सत्य और अनादि है। यह भेदपचक यदि असत् होता तो भ्रान्ति मूलक होता, तथा भ्रान्ति की निवृत्ति भी अवश्यभावी होती। चूकि इस भेद की निवृत्ति नही होती अत. यह भेद असत् नही है। जीव और ब्रह्म में भेद के साथ ही सेव्यसेवकभाव सम्बन्ध भी है। सेवा तीन प्रकार की है—(१) अकन (२) नामकरण, (३) भजन। शख, चक्र आदि विष्णु चिह्नो को शरीर मे धारण '**अंकन**' तथा पुत्र आदि का केशव आदि नाम रखना '**नाम करण**'कहाता है। '**भजन**' के दस भेद है। (१) सत्य (२) हित (३) प्रिय (४) स्वाध्याय (५) दान (६) परित्राण (७) रक्षण (८) दया (९) स्पृहा तथा (१०) श्रद्धा। इनमे प्रथम चार वाचिक शेष मे से तीन कायिक एव तीन मानसिक भजन कहाते हैं।

पूर्णप्रज्ञ दर्शन के अनुसार ब्रह्म विभु है एव जीव अणु परिमाण वाला, यह जीव मोक्ष अवस्था मे भी ब्रह्म का दास ही रहता है। इनके अनुसार वेद अपौरुषेय नित्य और स्वतः प्रमाण है।

नकुलीशपाशुपत दर्शनः—

पाशुपत दर्शन के अनुसार ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त समस्त विश्व पशु कहाता है, और उसका स्वामी 'शिव' पशुपति कहा जाता है। जीव का पाशोच्छेद ही मोक्ष है। पाश का उच्छेद 'कार्य' 'कारण' 'योग' 'विधि,' तथा 'दुखान्त' इन पाच तत्वो के द्वारा होता है। 'कार्य' का अर्थ है 'समस्त चेतन और अचेतन विश्व; 'कारण' ईश्वर को कहते हैं जो स्वतन्त्र कर्तृत्व शक्ति सम्पन्न है। जप ध्यान आदि को **योग** कहते है। भस्म स्नान आदि व्रतो को 'विधि' कहा जाता है। दु ख-निरास पूर्वक ईश्वरभाव को दु.खान्त कहते है, यही मोक्ष है।

शैवदर्शनः—

शैवदर्शन तथा नकुलीश पाशुपतदर्शन के सिद्धान्त प्राय समान हैं। इस दर्शन के अनुसार भी जीव का पाश से छूट जाना ही मोक्षहै। इसमे पाश से मोक्ष के लिए छ तत्वो का उपदेश किया गया है। वे तत्व है (१) पति, (२) विद्या, (३) अविद्या, (४) पशु, (५) पाश, और (६) कारण। 'पति' शिव को कहते है, 'विद्या' तत्व ज्ञान है, 'अविद्या' मिथ्या ज्ञान का नाम

है। मल, कर्म, माया, तथा रोधशक्ति ये चार पाश कहाते हैं। जीव 'पशु' है तथा जप ध्यानचर्या आदि से पाश की निवृत्ति होती है। इन तत्वों का भली भांति ज्ञान होने पर पाश से विमोक्ष होकर शिवत्व की प्राप्ति होती है, यही मोक्ष है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शनः—

मोक्ष प्राप्ति मे प्रत्यभिज्ञा को ही मुख्य साधन मानने के कारण इस दर्शन को **प्रत्यभिज्ञा दर्शन** कहते हैं। इस दर्शन के अनुसार परमशिव ईश्वर पूर्ण स्वतन्त्र है विश्व की सृष्टि के लिए उसे किसी कर्म आदि साधन की अपेक्षा नही होती। उसकी इच्छा मात्र से ही सृष्टि रचना होती है। जीव परस्पर भिन्न होते हुए भी परमेश्वर से अभिन्न हैं, क्योकि जीव और ईश्वर दोनो मे ही चैतन्यस्वभाव समान रूप से विद्यमान रहता है, किन्तु इस अभेदज्ञान के अभाव मे ही जीव दुःख का अनुभव करता है। जीव को परमेश्वर से तादात्म्य प्राप्त करने के लिए **प्रत्यभिज्ञा** का आश्रयण करना चाहिए। 'मैं ईश्वर ही हूँ उससे भिन्न नही' यह साक्षात्कार ही **प्रत्यभिज्ञा** कहाती है, केवल इस प्रत्यभिज्ञा के द्वारा ही अभ्युदय और मोक्ष होता है; एतदर्थ प्राणायाम, व्रत, उपवास, भस्मस्नान, जप परिचर्या आदि किसी अन्य साधन की अपेक्षा नही होती। यद्यपि जीव भी ईश्वर के समान पूर्ण-चैतन्य है किन्तु मायावशात् वह चैतन्य अंशत तिरोहित रहता है। प्रत्यभिज्ञा से उस माया का निराकरण होकर जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

रसेश्वर दर्शनः—

रसार्णव मे शिवगौरी सवाद के प्रसग मे कहे गये—

"अभ्रकस्तव बीजं तु मम बीज तु पारदः"

शिव के इस वचन के अनुसार शिव के बीजरूप पारद को ही इस दर्शन मैं रसेश्वर कहा गया है। रसेश्वर को ही मोक्ष का हेतु मानने के कारण इस दर्शन को **रसेश्वर दर्शन** कहते है। यह रसेश्वर 'पारद' साक्षात् नहीं किन्तु परम्परया मोक्ष का हेतु है। इस दर्शन की मान्यता है कि मूल अज्ञान निवृत्ति पूर्वक निज स्वरूप की यथार्थ प्राप्ति ही मोक्ष है। मूल अज्ञान की निवृत्ति आत्मतत्वविषयक ज्ञान के द्वारा होती है। ज्ञान लाभ के लिए अतिशय अभ्यास अपेक्षित है, तथा यह अभ्यास शारीरिक दृढता के बिना सभव नहीं

है।[1] शारीरिक स्थिरता पारद आदि रस के सेवन से सम्भव है। इस प्रकार पारद मोक्ष के प्रति कारण है। उनका कहना है कि पारद का पारदत्व यही है कि वह ससार से पार पहुचाने वाला है।[2] इस प्रकार मोक्ष साधन में प्रथम हेतु पारद या रसेश्वर है। पारद सेवन के द्वारा शरीर स्थिर होता है, शारीरिक स्थिरता से क्रमशः आत्मा को तत्व का अभ्यास करने पर जीवन दशा मे ही मुक्ति (जीवन्मुक्ति) प्राप्त होती है।

वैशेषिक दर्शन:—

कणाद प्रवर्तित दर्शन को **औलूक्य दर्शन** कहते है, **विशेष**, पदार्थ को स्वीकार करने के कारण इस का प्रचलित नाम **वैशेषिक दर्शन** है। इस दर्शन मे तत्वज्ञान को ही मोक्ष का हेतु माना गया है। कणाद के अनुसार भावतत्व छः हैं, इन्हे पदार्थ भी कहते है। ये तत्व (पदार्थ) अवान्तर भेद से अनेक हो जाते है। (१) द्रव्य, (२) गुण (३) कर्म (४) सामान्य, (५) विशेष (६) समवाय ये छ पदार्थ है। **द्रव्य**–पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन नव है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और सस्कार ये चौबीस **गुण** है। गतिरूप **कर्म** उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन भेद से पाच प्रकार का है। पर और अपर भेद से **सामान्य** दो प्रकार का है। नित्य द्रव्य में रहने वाले धर्म जिन्हे **विशेष** कहा जाता है, सख्या म अनन्त है।

परवर्ती विचारको ने उपर्युक्त छ पदार्थो को स्वीकार करते हुए **अभाव पदार्थ** का भी स्वीकार किया है। इस प्रकार उत्तरकाल मे पदार्थो की सख्या सात हो गयी है।

न्याय दर्शन या अक्षपाद दर्शन : -

अक्षपाद गौतम द्वारा प्रवर्तित दर्शन को **अक्षपाद दर्शन** कहते है। अनुमान प्रकरण मे 'प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एव निगमन' इन पाच अवयवो से युक्त न्यायवाक्य को प्रधानता देने के कारण इस दर्शन का **न्याय दर्शन** भी कहते है। न्याय दशन मे (१) प्रमाण (२) प्रमेय (३) सशय (४) प्रयोजन, (५) दृष्टान्त, (६) सिद्धान्त (७) अवयव (८) तर्क (९) निर्णय (१०) वाद

---

१ क–सुश्रुत सहिता   ख–गोविन्दपाद कारिका।

२. गोविन्दपाद कारिका।

(११) जल्प (१२) वितण्डा (१३) हेत्वाभास (१४) छल (१५) जाति और (१६) निग्रहस्थान ये सोलह तत्व माने गये हैं एव इनके ज्ञान से ही नि.श्रेयस् (मोक्ष) की प्राप्ति बतायी गयी है।

दर्शनो के विकास काल मे यद्यपि न्याय और वैशेषिक का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ था, किन्तु मध्यकाल मे दोनो को सयुक्त कर दिया गया। इस अवसर पर वैशेषिक के **पदार्थ** और न्याय का **प्रामाण्यवाद** दोनो को एकत्र कर उसे **तर्कशास्त्र या न्याय शास्त्र** के नाम से अभिहित किया गया। वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान, केवल इन दो प्रमाण को ही स्वीकार किया गया था, तथा न्याय मे उपमान और शब्द सहित चार प्रमाण थे। उत्तर काल मे प्रमाणो की सख्या न्याय के अनुसार चार ही रही, किन्तु अनुमान के पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट इन प्राचीन तीन भेदो को न अपनाकर स्वार्थानुमान और परार्थानुमान भेद से दो भेद स्वीकार किये गये।

सांख्य दर्शन —

साख्य दर्शन सेश्वर और निरीश्वर भेद से दो प्रकार का है। सेश्वर साख्य के प्रवर्त्तक पतञ्जलि माने जाते है इनके दर्शन को **पातञ्जल दर्शन** अथवा **योगदर्शन** कहते है। निरीश्वर साख्य के प्रवर्तक कपिल मुनि है, इनका दर्शन **सांख्य दर्शन** कहा जाता है। कपिल प्रवर्तित साख्य दर्शन सबसे प्राचीन है, यद्यपि साख्य दर्शन नाम से वर्तमान उपलब्ध ग्रन्थ प्राचीन नहीं है ऐसा विद्वानो का विश्वास है।

साख्य दर्शन (साख्य और योग दर्शन) प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाण मानता है। सेश्वर साख्य ईश्वर और जीव का ही विवरण देता है तथा जीव को कैवल्य अर्थात् मोक्ष किस प्रकार प्राप्त हो सकता है इसका विस्तृत विवेचन करना हुआ, साधना के लिए सुन्दरतम मार्ग प्रस्तुत करता है। निरीश्वर साख्य पुरुष और प्रकृति दो पदार्थों को नित्य मानता है। उसके अनुसार इनके अतिरिक्त २३ अन्य अनित्य विकृति रूप पदार्थ है। साख्य के अनुसार यह समस्त विश्व सत् है, सत् प्रकृति से विकृतिरूप सत् विश्व ही प्रगट होता है। **प्रकृति** सत्व, रजस और तमस् इन तीन गुणो वाली है। प्रकृति से 'महत्तत्व' बुद्धि, महत् से अहङ्कार, अहङ्कार से रूप रस गन्ध स्पर्श एव शब्द तन्मात्राएँ तथा ग्यारह इन्द्रिया, तन्मात्राओं से अग्नि, जल, पृथिवी, वायु एव आकाश ये पाच भूत उत्पन्न होते है। ये तेईस विकृतिया तथा प्रकृति और पुरुष मिलाकर २५ तत्व इसमे स्वीकार किये जाते है। कुछ विद्वान् वर्त्तमान

सांख्य सूत्रों मे 'महादाख्यमाद्य कार्यन्तन्मनः'[१] इस सूत्र के अनुसार मन का अन्तर्भाव महत्तत्व मे कर लेते हैं इस प्रकार इन्द्रिया एकादश न रह कर दस रह जाती है। ऐसीस्थिति मे पच्चीस तत्वो की सख्या पूर्ति के लिए पुरुष मैं पुरुष और परमपुरुष (ईश्वर) दो भेद मानकर साख्य को भी सेश्वर सिद्ध करने का प्रयत्न करते है किन्तु यह मत समीचीन नही है क्योकि वर्त्तमान साख्य सूत्र से प्राचीनतर साख्य कारिका मे अहकार के सोलह विकारो ग्यारह इन्द्रिया एव पाच तन्मात्राओ की स्पष्ट चर्चा की गयी है, इस प्रकार उसमे मन को इन्द्रियो मे स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया गया है[२]।

मीमांसा दर्शन —

मीमासा दर्शन को 'पूर्वमीमासा' भी कहते हैं। इसके प्रवर्त्तक जैमिनि कहे जाते है। इस दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य कर्मकाण्ड है। कर्म काण्ड का आधार वेद है। मीमासा के अनुसार वेद अपौरुषेय और नित्य है, तथा यह वैदिक ज्ञान स्वत प्रमाण है। वेद द्वारा विहित कर्म 'धम' तथा निषिद्ध कर्म 'अधर्म' कहे जाते है। नित्य कर्मों के निष्काम आचरण से सचित कर्मों का नाश होता है फलस्वरूप शरीर नाश होने पर मुक्ति लाभ होता है। प्राचीन मीमासा के अनुसार स्वर्ग या विशुद्ध सुख की प्राप्ति को ही मोक्ष कहा जाता है। मीमासा दर्शन के अनुसार आत्मा नित्य है। चैतन्य आत्मा का नित्य धर्म नही है वह तो शरीर और आत्मा के सयोग से विशेषत विषय और ज्ञानेन्द्रियो के सयोग से उत्पन्न होता है। मुक्त आत्मा विदेह तथा चेतना विहीन होता है।

मीमासा दर्शन भौतिक जगत् की बाह्य सत्ता को स्वीकार करता है, किन्तु उसके अनुसार यह जगत् अनादि और अनन्त है।

मीमासा दर्शन की मुख्यत दो शाखाए है—भाट्टशाखा कुमारिल भट्ट द्वारा प्रवर्त्तित तथा प्राभाकर शाखा आचार्य प्रभाकर द्वारा प्रवर्त्तित। **भाट्ट मीमांसक**- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्तिऔर अनुपलब्धि छ प्रमाण मानते हैं, जबकि **प्रभाकर** के अनुयायी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति ये पाच प्रमाण ही मानते है। वाच्यार्थ के सम्बन्ध मे भी मीमासको मे परस्पर मौलिक मत भेद है। कुमारिल भट्ट के अनुयायी प्रत्येक पदो का स्वतन्त्र अर्थ मानते है इनके अनुसार वाक्य का अर्थ अभिधा वृत्ति से प्राप्त न होकर तात्पर्य वृत्ति से प्राप्त होता है, इसीलिए इन्हे अभिहितान्वयवादी

१. साख्य दर्शन १७१। २. साख्य कारिका २४,२७।

कहा जाता है। प्रभाकर के अनुयायी वाक्यगत प्रत्येक पदों का स्वतन्त्र अर्थ नहीं मानते। वाक्य का समष्टि रूप अर्थ ही इनके अनुसार मुख्यार्थ है, इसीलिए इन्हें अन्विताभिधानवादी कहा जाता है। दोनों के ही मत में शब्द नित्य है।

उत्तरमीमांसा या वेदान्त दर्शन :—

वेदान्त दर्शन की उत्पत्ति वेदों (उपनिषदों) से हुई है। इसके प्रवर्त्तक व्यास कहे जाते हैं, किन्तु वर्त्तमान में वेदान्त दर्शन शंकराचार्य की अद्वैत व्याख्या पर ही प्रतिष्ठित है इसलिए बहुधा इसे **शांकरदर्शन** भी कह दिया जाता है। सर्वदर्शन संग्रहकार माधवाचार्य ने इसे 'शांकर दर्शन' के नाम से ही अभिहित किया है।

शंकर के अनुसार पारमार्थिक सत्ता केवल ब्रह्म की ही है। ब्रह्म की माया के कारण ही यह विश्व न होकर भी प्रतिभासित होता है। शंकर के अनुसार माया ईश्वर की ही एक शक्ति है। निर्गुण ब्रह्म माया के वैशिष्ट्य से सगुण हो जाता है। आत्मा ब्रह्म की ही एक शरीरबद्ध सत्ता है। माया ही अविद्या का मूल है। माया की निवृत्ति होने पर ब्रह्म के लिए सर्वज्ञता सर्वशक्तिमत्ता आदि गुणों का भी कोई अर्थ नहीं रह जाता। इस स्थिति में ब्रह्म में स्वगत भेद भी नहीं रह जाता। इस प्रकार पारमार्थिक दृष्टि ब्रह्म निर्विकल्पक तथा निर्गुण हो जाता है। अतः इसे **निर्गुण ब्रह्म** कहते हैं। इस प्रकार शंकर के अनुसार अविद्या की जनक माया की निवृत्ति होने पर आत्मा और ब्रह्म में कोई भेद नहीं रह जाता, यही अभेदावस्था ही मुक्तावस्था कहाती है।

प्रस्तुत पुस्तक में उपर्युक्त दार्शनिक परम्पराओं एवं पाश्चात्य दर्शन के सम्बद्ध सिद्धान्तों के साथ परवर्ती काल में प्रचलित न्याय शास्त्र (न्याय और वैशेषिक दर्शन) के सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन ही अग्रिम अध्यायों में किया जायेगा।

— — —

१

पदार्थ विमर्श

पदार्थ :—

जैसा कि पूर्व पृष्ठो मे स्पष्ट किया जा चुका है कि मूल तत्त्वो के सम्बन्ध मे प्रत्येक दर्शन की स्वतन्त्र मान्यता है, कोई अद्वैत ब्रह्म को मूल मानता है तो कोई प्रकृति को और कोई प्रकृति ब्रह्म या परमेश्वर को साथ-साथ मानता हुआ जीव को भी स्वतन्त्र रूप से स्वीकार करता है। (प्रस्तुत अध्याय मे हम उनकी चर्चा पुनरुक्ति के भय से न करेंगे) किन्तु वह विवेचन अधिकत विश्व के कारण के विवेचनके प्रसग मे किया गया है। वैशेषिक दर्शन अथवा उत्तर कालीन न्याय शास्त्र मे पदार्थो की चर्चा वर्त्तमान विश्व के पदार्थो के विवेचन की दृष्टि से की गयी है न्यायदर्शन मे तत्त्वो का परिगणन भी यद्यपि वर्त्तमान विश्व के विश्लेषण की दृष्टि से ही किया गया हे कारण की दृष्टि से नही, किन्तु वह विवेचन विश्व की बुद्धिगत सत्ता की दृष्टि से है, इसीलिए सशय प्रयोजन आदि तत्वो, जिनकी विश्व मे वास्तविक स्थिति नही अपितु बौद्धिक स्थिति ही है, का विस्तृत विवेचन किया गया है।

वैशेषिक दर्शन मे परिगणित पदार्थ केवल बुद्धिगत न होकर यथार्थ है। वे पदार्थ सात है (१) द्रव्य, (२) गुण, (३)कर्म, (४) सामान्य (५) विशेष (६) समवाय और (७) अभाव। वैशेषिक सूत्रो मे अभाव का परिगणन नही किया गया था,[१] किन्तु शिवादित्य ने सन् १२०० ई से पूर्व ही सप्तपदार्थी मे अभाव का भी परिगणन कर पदार्थों की सख्या छ से बढाकर सात कर दी था एव उत्तर कालीन विद्वानो ने (केशवमिश्र, लौगाक्षिभास्कर अन्नभट्ट तथा विश्वनाथ आदि सभी ने) उनका ही अनुगमन किया है। इससे पूर्व चार्वाक ने भी वर्त्तमान विश्व के ही तत्वो का चिन्तन किया था, किन्तु चार्वाक केवल

---

१. वैशेषिक सूत्र १,१४

प्रत्यक्ष प्रमाण को ही स्वीकार करता है, अत उसकी स्थूल दृष्टि मे पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु केवल चार पदार्थ ही आसके, जिन्हे वैशेषिक स्वतन्त्र पदार्थ न मानकर द्रव्यो मे अन्यतम मानता है इसका आधार वैशेषिक सम्प्रदायो मे स्वीकृत पदार्थ की परिभाषा है ।

पदार्थ की परिभाषा यद्यपि प्राचीन वैशिषक सूत्रो मे उपलब्ध नही होती, किंतु लक्ष्य के अनुसार ही परवर्त्ती आचार्यों ने निम्नलिखित परिभाषा प्रदान की है । अन्न भट्ट कृत तर्कदीपिका के अनुसार 'जो वाणी का विषय हो सके, उसे पदार्थ कहते है' ।[1] पदार्थ पद, में 'अर्थ' पद का अर्थ "ऋच्छन्ति इन्द्रियाणि य सोऽर्थ" इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'ज्ञान का विषय' है । सिद्धान्त चन्द्रिका मे भी पदार्थ को अर्थ 'ज्ञान का विषय' ही माना है,[2] वस्तुत यथार्थ रूप में कोई भी पदार्थ जो ज्ञान का विषय है वाणी का विषय अवश्यमेव होता है, अत' दोनो मे कोई अन्तर मानना उचित भी नही है ।

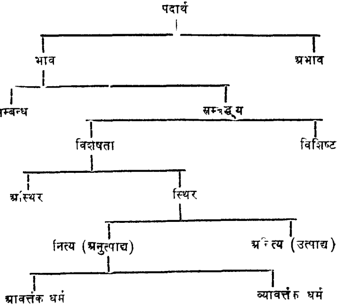
पाश्चात्य दर्शन मे अरस्तू (Aristotle) ने पदार्थो के लिए (Categories) पद का प्रयोग किया है उसके अनुसार पदार्थ (categories) वे ही कहे जा सकते है जो कि विधेय (Predicates) हो, न कि प्रत्येक अभिधेय जैसाकि वैशेषिक का मत है । अरस्तू के अनुसार पदार्थ दस है -- (1) Substance द्रव्य, (2) Quality गुण (3) Quantity सख्या (4) Relaton सम्बन्ध (5) Place स्थान (6) Time काल (7) Posture सस्थान विशेष (8) Appurtenancec or Property जाति (9) Activity कर्म तथा (10) Possivity अभाव ।" अरस्तू के इन पदार्थो मे से द्रव्य (Substance) के अतिरिक्त सभी दूसरे की विशेषता प्रगट करते है । केवल द्रव्य को ही स्वत स्थायी अथवा सत् (Ens or being) कहा जा सकता है । इस द्रव्य पदार्थ को मानने के अनन्तर अरस्तू के पदार्थ भी अभिधेय होने से वैशेषिक की पदार्थ परिभाषा के अन्तर्गत आ जाते है । अन्तर केवल सख्या का रह जाता है । फिर भी हम कह सकते है कि वैशेषिक का पदार्थ विभाजन आत्मानुभूति मूलक (Metaphysical) है, जब कि अरस्तू का तर्क आधार (Logical), बाह्य पदार्थो से सबद्ध है, जो कि विचार के विषय बनते है ।

भारतीय दार्शनिको ने यद्यपि पदार्थो का अनेक रूपो मे वर्गीकरण किया है (जिसकी चर्चा अग्रिम पृष्ठो मे की जायेगी), किन्तु समस्त पदार्थो को हम

---

१ तर्क दीपिका पृ० ८ २. सिद्धान्त चन्द्रिका ।

प्रथमतः दो भागों मे विभाजित कर सकते हैं भावपदार्थ और अभाव पदार्थ। भाव पदार्थ पुन. दो शाखाओं मे विभक्त हो सकते हैं सम्बद्ध्य और सम्बन्ध। सम्बद्ध्य पदार्थ पुनः दो प्रकार के हो सकते हैं विशेषता और विशिष्ट। विशेषता भी दो प्रकार की है स्थिर और अस्थिर। स्थिर विशेषताये पुनः दो प्रकार की है उत्पाद्य (अनित्य) एव अनुपाद्य (नित्य)। अनुत्पाद्य विशेषताएँ भी आवर्त्तक धर्म और व्यावर्त्तक धर्म भेद से दो प्रकार की है। इस वर्गीकरण को निम्नलिखित रेखा चित्र से समझा जा सकता है।



इस विभाजन मे वैशेषिक स्वीकृत पदाथ निम्नलिखित रूप से समानान्तर स्थिर होते है। :—

पदार्थ-विभाग:—	वैशेषिक पदार्थ
१. सम्बन्ध	समवाय
२ अस्थिर सबद्ध्यविशेषता	कर्म
३. स्थिर सबद्ध्य उत्पाद्य विशेषता	गुण

४. स्थिर सबद्ध्य अनुत्पाद्य-
व्यावर्त्तक विशेषता — विशेष

५ स्थिर संबद्ध्य अनुत्पाद्य
आवर्त्तक विशेषता — जाति या सामान्य

६ सबद्ध्य विशिष्ट भावपदार्थ — द्रव्य

७ अभाव पदार्थ — अभाव

पाश्चात्य दार्शनिक काण्ट तथा जे. एस मिल भी अरस्तू द्वारा स्वीकृत दस पदार्थों को ही स्वीकार करते है । इन पदार्थों का वैशेषिक स्वीकृत पदार्थों में अन्तर्भाव निम्नलिखित रूप से हो सकता है —

१ द्रव्य	Substence, Place, Time
२ गुण	Quality, Quantity
	Relation, Posture अस्थिरगुण
३ कर्म	Activity, Posture अस्थिर धर्म
४ सामान्य	Property
५ विशेष	
६ समवाय	Relation
७ अभाव	Possivity

इस प्रकार अरस्तू के समस्त पदार्थ वैशेषिक के पदार्थों मे समाहित हो जाते है, जबकि वैशेषिक पदार्थों मे अन्यतम विशेष के समानान्तर अरस्तू स्वीकृत पदार्थों मे कोई नही है । फिर भी वैशेषिक पदार्थों की सख्या अरस्तू के पदार्थों की सख्या से कम ही है ।

पदार्थ सात ही क्यों ?

वैशेषिक ने सात पदार्थों को क्यो स्वीकार किया है ? इस प्रश्न का उत्तर उसके द्वारा स्वीकृत प्रत्येक पदार्थ की परिभाषाओं का अलग अलग क्षेत्र होना ही है, जिसे पदार्थ विभाजन सम्बन्धी रेखा चित्र मे सक्षेपत देखा जा सकता है ।

अब प्रश्न यह है कि शक्ति और सादृश्य रूप अन्य पदार्थों के रहते हुए सात पदार्थ ही क्यो स्वीकार किये जाए ? जैसा कि हम देखते है अग्नि और काष्ठ के सयोग से दाह क्रिया होती है, किन्तु अग्नि और काष्ठ के संयोग

होने पर भी यदि चन्द्रकान्त मणि का सान्निध्य हो तो दाह क्रिया नही होती, तथा चन्द्रकान्त मणि का सान्निध्य रहते हुए भी सूर्यकान्त मणि का सयोग होने पर दाह क्रिया होती है, अथवा दोनो मणियो का अभाव ही जाने पर भी दाह क्रिया होती है, अत यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि चन्द्रकान्त मणि का सान्निध्य होने पर अग्नि की दाहक शक्ति नष्ट हो जाती है, तथा चन्द्रकान्त मणि के अभाव मे अथवा सूर्यकान्त मणि का सान्निध्य होने पर वह दाहक शक्ति पुन उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार उत्पत्ति और विनाश के कारण 'शक्ति' भी ज्ञान एव वाणी का विषय होने से पदार्थ है ऐसा मानना चाहिये।

इस आशका के समाधान के प्रसग मे न्याय-वैशेषिक दर्शन के आचार्यों का कथन है कि केवल अग्नि और ईधन का सयोग ही दाह के प्रति कारण नही है, अपितु चन्द्रकान्त मणि के अभाव से युक्त अग्नि-इन्धन का सयोग ही दाह क्रिया के प्रति कारण है। इस प्रकार चन्द्रकान्त मणि के विद्यमान होने पर "चन्द्रकान्त मणि के अभाव से युक्त अग्नि-इन्धन का सयोग न होने से दाह नही होता, फलत शक्ति को स्वतत्र पदार्थ मानने की आवश्यकता नही रह जाती।

अब प्रश्न सादृश्य का है जैसे जातिरूप पदार्थ द्रव्य गुण आदि पदार्थों मे विद्यमान होने के कारण पदार्थान्तर स्वीकृत किया जाता है, यद्यपि उसका इन्द्रियो से प्रत्यक्ष नही होता, इसी प्रकार विभिन्न जातियों मे विद्यमान सादृश्य को भी स्वीकार करना चाहिये। 'जैसे गोत्व जाति नित्य है उसी भाति अश्वत्व जाति भी नित्य है' इत्यादि प्रतीति मे नित्यत्व रूप धर्म के द्वारा गोत्व और अश्वत्व जाति को सादृश्य धर्म से युक्त मानना चाहिए, चूंकि यह सादृश्य रूप धर्म सात पदार्थों मे अन्तर्भूत नही है, अत अष्टम पदार्थ के रूप मे सादृश्य को स्वीकार करना चाहिये।

इस आशका का समाधान भी न्यायशास्त्र के आचार्यों ने तर्कपूर्ण दिया है उनका कथन है कि सादृश्य स्वय मे कुछ न होकर एक पदार्थ का अन्य पदार्थ से भिन्न होते हुए भी उस मे विद्यमान अनेक धर्मों से युक्त होना है। ये धर्म कभी जाति रूप हो सकते है और कभी गुण या कर्म रूप, अत सादृश्य को पृथक् पदार्थ न मानकर सामान्य, गुण और कर्म मे ही अन्तर्भूत मानना चाहिए।

न्यायशास्त्र के कुछ नवीन आचार्य सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ स्वीकार

करते हुए भी सात पदार्थों से अतिरिक्त उनके परिगणन की आवश्यकता नहीं समझते, उनका कथन है साक्षात् अथवा परम्परा तत्व-ज्ञान के उपयोगी पदार्थों का ही परिगणन यहां आवश्यक है, एवं सादृश्य तत्व-ज्ञान मे किसी प्रकार भी सहायक नही है अत उसके परिगणन की आवश्यकता नही है ।[1]

न्याय शास्त्र मे (वैशेषिक दर्शन मे) द्रव्य नौ माने गये हैं –(१) पृथ्वी (२) जल (३) अग्नि (४) वायु (५) आकाश (६) काल (७) दिशा (८) आत्मा और (९) मन।

वैशेषिक दर्शन से उत्तर कालीन न्याय शास्त्र मे स्वीकृत द्रव्यो को वेदान्त ने माया के अध्यास के रूप मे, साख्य ने प्रथम पांच को पांच महाभूतो के रूप मे आत्मा को पुरुष के रूप मे तथा अन्तिम द्रव्य मन को इन्द्रिय के रूप मे स्वीकार किया था। काल और दिशा का साख्य मे कोई उल्लेख नही हुआ है। बौद्ध दर्शन मे चू कि प्रतीयमान विश्व को शून्य अथवा विज्ञान रूप में स्वीकार किया गया है, अत उसमे इनके विवेचन की आवश्ककता नहीं समझी गयी। चार्वाक ने पृथ्वी जल अग्नि एव वायु को द्रव्य के रूप मे न मानकर पदार्थ के रूप मे ही स्वीकार किया था। अथवा यो कहा जाए कि अन्य भारतीय दर्शनो मे दृष्टिभेद के कारण द्रव्यो के परिगणन की आवश्यकता नही समझी गयी।

द्रव्यो का परिगणन करते हुए भारतीय नैयायिको ने द्रव्य के तीन लक्षण दिये है। प्रथम लक्षण है 'द्रव्यत्व जाति से युक्त होना'।[2] यह लक्षण केवल शाब्दिक है, साथ ही इस लक्षण के लिये द्रव्य जाति की सिद्धि भी आवश्यक है। सिद्धान्त चन्द्रिकाकार के अनुसार द्रव्यत्व जाति की सिद्धि निम्नलिखित अनुमान द्वारा होती है 'प्रत्येक समवायि कारण किसी धर्म विशेष से युक्त रहता है, अत रूप आदि गुणो का समवायिकारण द्रव्य भी धर्म विशेष से युक्त है यह धर्म ही द्रव्यत्व जाति है,'[3] इस अनुमान से पूर्व भी दो बातों का सिद्ध होना आवश्यक है प्रथम द्रव्य का समवायिकारण होना, दूसरे प्रत्येक समवायिकारण का धर्मयुक्त होना। अत उपर्युक्त सापेक्ष लक्षण को छोड कर तर्कदीपिका मे 'गुणवान् होना' द्रव्य का लक्षण माना गया है।[4]

---

१. सिद्धान्त मुक्तावली दिनकरी पृ०-६२ ६३
२ तर्कदीपिका पृ० १२
३ सिद्धान्त चन्द्रिका
४. तर्कदीपिका पृ० १२

इस लक्षण पर विचार करने से पूर्व 'लक्षण' की परिभाषा पर विचार कर लेना चाहिए। 'अव्याप्ति अतिव्याप्ति और असम्भव दोषो से रहित परिभाषा को लक्षण कहते है।'[1] अव्याप्ति का अर्थ है 'सम्पूर्ण लक्ष्य के किसी एक भाग मे लक्षण का न पहुँचना,।'[2] अतिव्याप्ति का तात्पर्य है 'सम्पूर्ण लक्ष्य मे विद्यमान होकर लक्ष्य से अतिरिक्त स्थल मे भी लक्षण का सगत होना,'[3] तथा असम्भव का अर्थ है 'सम्पूर्ण लक्ष्य मात्र मे अर्थात् लक्ष्य के किसी अश में भी लक्षण का सगत न होना,।'[4] दूसरे शब्दो मे हम असाधारण धर्म को लक्षण कह सकते है।[5]

लक्षण की उपर्युक्त परिभाषा की पृष्ठभूमि मे जब हम 'गुण युक्त होना द्रव्य का लक्षण है' इस लक्षण पर विचार करते हैं तो इसमे अव्याप्ति रूप लक्षण दोष दिखाई देता है। क्योकि वैशेषिक एव न्याय दर्शन के अनुसार द्रव्य उत्पन्न होकर प्रथम क्षण मे गुणहीन और क्रियाहीन रहता है।[6] उस समय गुण का अभाव होने से द्रव्य मे द्रव्य का लक्षण सगत नही होता। इस लक्षण की सगति के लिए नैयायिको ने 'गुण के साथ रहने वाली सत्ताभिन्न जाति अर्थात् द्रव्यत्व व्याप्य जाति युक्त होना' ऐसी व्याख्या की है, किन्तु इस लक्षण मे भी द्रव्यत्व जाति का शब्दत समावेश न करके प्रकारान्तर से उसका ही कथन किया गया है अत यह लक्षण भी पुन शाब्दिक बन गया है।

द्रव्यत्व का तीसरा लक्षण 'किसी कार्य का समावायिकारण होना है।' यह लक्षण स्पष्टीकरण या परिचय के लिए सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होना है।

द्रव्य लक्षण करते हुए एक असुविधा स्वभावत. उपस्थित होती है कि लक्षण केवल शाब्दिक नही होना चाहिए, साथ ही उचित लक्षण अतिव्याप्ति, अव्याप्त और असम्भव रूप लक्षण दोषो से भी पृथक् होना चाहिए, अर्थात् लक्षण को प्रत्येक द्रव्यो मे व्याप्त होते हुए भी द्रव्य से सर्वथा भिन्न होना चाहिए, जब कि स्थिति यह है कि गुण यदि द्रव्य के साथ रहने वाले है तो वे द्रव्य के अवयव हुए और द्रव्य अवयवी हुआ, तथा अवयव और अवयवी को परस्पर सर्वथा भिन्न कभी नही माना जा सकता। यदि यह कहा जाय कि गुण द्रव्य से नित्य सबद्ध नहीं है तो उनके

---

१ तर्कदीपिका पृ १४ २. तर्ककिरणावली पृ १३ ३. वही पृ० १४ ४. वही पृ० १४ ५ तर्कदीपिका पृ० १४-१६ ६ तर्ककिरणावली पृ १३ ७ तर्कदीपिका पृ० १७

आधार पर द्रव्य का लक्षण किया जाना सभव नहीं है। यह असुविधा प्रत्येक काल और प्रत्येक देश के दार्शनिको के समक्ष उपस्थित हुई है, सम्भवत: इसी लिए इग्लैड के प्रसिद्ध दार्शनिक बर्कले (Berkely) ने तथा बुद्ध ने द्रव्य जैसे किसी तत्त्व को स्वीकार नही किया, किंतु यह कोई उचित समाधान नही है, यदि द्रव्य की स्वीकृति आवश्यक हो। सभवत इस कठनाई से बचने के लिए ही वेदान्तियो ने द्रव्य स्थानीय तत्व को स्वीकार तो किया किन्तु उसे 'माया' नाम देकर अनिर्वचनीय बताया।

द्रव्य नव ही क्यों ?

द्रव्य की परिभाषा करते हुए 'गुणवान् और क्रियावान् होना' द्रव्य का लक्षण माना गया है। चूंकि द्रव्य का यह लक्षण अन्धकार मे भी व्याप्त है अत अन्धकार को दसवा द्रव्य मानना चाहिए। कारण यह है कि 'नीला अन्धकार बढता चला आ रहा है' यह प्रतीति सर्वसाधारण को सदा ही होती है, इस प्रतीति मे अन्धकार मे नीलरूप की स्वीकृति के कारण गुण विद्यमान है तथा 'बढता चला आ रहा है' इस गति की स्वीकृति के कारण क्रिया की सत्ता भी स्वीकृत हो गयी, इस प्रकार अन्धकार मे गुण और क्रिया के विद्यमान होने से अन्धकार को दशम द्रव्य मानना उचित ही नही आवश्यक भी है। इस अन्धकार का पृथिवी जल तथा अग्नि मे अन्तर्भाव नही कर सकने क्योकि ये तीनो दो इन्द्रियो द्वारा गृहीत होते है जबकि अन्धकार केवल एकेन्द्रियग्राह्य है, इसका अन्तर्भाव वायु आदि मे भी सभव नही है क्योकि वायु आदि सभी नीरूप है एव अन्धकार नील वर्ण होने के कारण रूपवान् है, फलत तमको दशम द्रव्य मानना ही चाहिए।

इस आशका का समाधान करते हुए नैयायिको ने 'अन्धकार' को भाव द्रव्य न मानकर तेज का अभाव स्वीकार किया है। उनका कथन है कि 'तम' मे नीलरूप नही है क्योकि रूप के प्रत्यक्ष के लिए प्रकाश की अपेक्षा होती है जबकि प्रकाश की स्थिति मे तम समाप्त हो जाता है। तम मे नीलरूप तथा चलन क्रिया की प्रतीति प्रकाशक दीप आदि की गति से उत्पन्न प्रकाशाभाव की भ्रान्त प्रतीति है। इस प्रकार तम तेज का अभाव रूप है।[1] यहा प्रश्न उठ सकता है कि यदि तेज और तमस् परस्पर अभाव रूप है तो तसम् को तेज का अभाव न मानकर तेज को ही तमस् का अभाव क्यो न स्वीकार किया जाए ? किन्तु इस आशका का समाधान स्पष्ट है कि

१ तर्कदीपिका पृ०११-१२

'तेज को द्रव्य न मानने पर उष्ण स्पर्श का आश्रय द्रव्य पृथक् मानना पड़ेगा।' न्यायकन्दलीकार श्रीधर ने अन्धकार को केवल नीलरूप मात्र माना है अतः नीलरूप मात्र होने से वह गुण है, किन्तु आचार्य प्रभाकरके अनुयायियो ने इस तमस् को तेज का अभाव नही किन्तु तेज के ज्ञान का अभाव माना है। कुछ दार्शनिको ने तमस् को तेज का अभाव मानते हुए भी तमस् को तेज के स्थान पर द्रव्य मानने का प्रयत्न किया है किन्तु इस पक्ष का समाधान पूर्व ही दिया जा चुका है। इस प्रकार सिद्धान्त रूप से तमस् को तेज द्रव्य का अभाव मानना ही सर्वाधिक उपयुक्त है।

गुण

वैशेषिक सूत्रो मे (१) रूप (२) रस (३) गन्ध (४) स्पर्श (५) सख्या (६) परिमाण (७) पृथक्त्व (८) सयोग (९) विभाग (१०) परत्व (११) अपरत्व (१२) बुद्धि (१३) सुख (१४) दुख (१५) इच्छा (१६) द्वेष (१७) प्रयत्न ये सत्रह गुण माने गये थे, किन्तु प्रशस्तपाद ने (१) गुरुत्व (२) द्रवत्व (३) स्नेह (४) सस्कार (५) धर्म (६) अधर्म तथा (७) शब्द इन सात गुणो को और जोड दिया एव सख्या चौबीस कर दी, साथ ही इस बढी हुई सख्या को 'च' शब्द द्वारा सूत्रकार अभिमत भी सिद्ध किया।[1] तर्क दीपिका के अनुसार 'गुणत्व जाति से युक्त, अथवा द्रव्य और कर्म से भिन्न जाति युक्त पदार्थ को गुण कहा जाता है'।[2] जाति युक्त पदार्थ केवल तीन है द्रव्य गुण और कर्म। इस प्रकार द्रव्य और कर्म से भिन्न जाति वाला पदार्थ केवल गुण ही है। इसे ही दूसरे शब्दो मे 'द्रव्य से भिन्न स्थिर पदार्थ मे रहने वाली जाति से युक्त गुण है' कह सकते है। वैशेषिक के अनुसार कर्म केवल पाच क्षणो तक ही स्थिर रहता है अत वह अस्थिर पदार्थ है। स्थिर पदार्थ केवल दो रहे द्रव्य और गुण। इस प्रकार द्रव्य भिन्न नित्य द्रव्य मे रहने वाली गुणत्व जाति है उससे युक्त गुण ही है, अत यह लक्षण अनुचित नही है। इस लक्षण मे 'द्रव्य अवृत्ति' विशेषण द्वारा द्रव्यत्व और सत्ता दोनो को पृथक किया गया है। विश्वनाथ ने 'द्रव्य आश्रित होते हुए गुण और क्रिया-हीन होना' गुण का लक्षण किया है।[3] किन्तु इस लक्षण का तीनो दोषो से रहित नही कहा जा सकता। कारण कि द्रव्यत्व जाति स्वय गुण

१ प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ३   २ तर्क दीपिका पृ० १६
३. कारिकावली ८६

और क्रिया से हीन है साथ ही द्रव्याश्रित भी है अतः अतिव्याप्ति दोष उपस्थित होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वनाथ ने यह कथन लक्षण करने की दृष्टि से न करके गुणो के कथन का उपक्रम करते हुए किया है इसीलिए उन्हे कहना भी पडा कि 'द्रव्याश्रितत्व लक्षण नहीहै'।[1] कणाद ने 'द्रव्य मे आश्रित रहने वाला, गुण रहित तथा सयोग और विभाग के प्रति निरपेक्ष कारण गुण है' ऐसी गुण की परिभाषा दी है।[2]

इस प्रकार गुण द्रव्य से पृथक् पदार्थ है। द्रव्य स्थिर पदार्थ है जो कि किन्ही धर्मों (विशेषताओ Qualities) का आश्रय है, यह निश्चय ही गुणों से भिन्न है, क्योकि गुण मे गुण नही रह सकते, यह किसी पर आश्रित नही है, जबकि गुण और कर्म दोनो ही धर्म है अतएव अन्य पर आश्रित भी हैं। इनमे से कर्म पञ्च क्षणावस्थायी धर्म है। कर्म भी जब स्थिर रूप से रहे तो उसे गुण कहा जा सकेगा। जैसे हाथ पैर आदि का चलना अनित्य धर्म होने से कर्म है, किन्तु वही गति पृथिवी आदि ग्रहो मे गुण के रूप मे स्थित है, क्योकि वह नित्य कर्म है। इसी प्रकार उष्णस्पर्श,जो एक गुण है, द्रव्य की गति (कर्म)से उत्पन्न होता है, जबकि गुरुत्व गुण के कारण पतन(अवक्षेपण) रूप कर्म की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार गुण कर्म का जनक है और कर्म गुण का, फलत 'गुण और कर्म दोनो ही वैशिष्ट्य (Quality) है, अत एक है' यह कथन अनुचित न होगा। दोनो मे अन्तर केवल यह है कि एक स्थिर वैशिष्ट्य है और दूसरा अस्थिर।

इस प्रकार गुणो और कर्मों के बीच कोई सुदृढ विभाजन रेखा न होने के कारण कहना पडता है कि 'भारतीय नैयायिक गुणो के सम्बन्ध मे अधिक गम्भीर चिन्तन कर सके है, इसमे सन्देह है।' साथ ही यह भी निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि 'कर्म के सम्बन्ध मे अधिक गहराई तक नही पहुच सके है।

इसमे सन्देह नही कि गुण पदार्थ को स्वीकार करने मे आधार बहुत ही सुदृढ़ है किन्तु जहा तक चौबीस विभागो का प्रश्न है प्रत्येक की उपयोगिता सिद्ध नही की जा सकती।

जैसा कि गुण विवेचन के प्रारम्भ मे कहा जा चुका है कि महर्षि कणाद ने केवल १७ सत्रह गुणो का ही परिगणन किया था। व्याख्याकारों ने

---

१. (क) मुक्तावली पृ ४३६ (ख) दिनकरी पृ. ४३६

२. वैशेषिक दर्शन १.१.१६

इसमें सात और जोड़ दिये । उपस्कार के लेखक शकर मिश्र ने लिखा है कि सूत्रकार ने अत्यन्त प्रसिद्ध होने के कारण परवर्ती आचार्यों द्वारा परिगणित गुणो का शब्दत उल्लेख न कर 'च' शब्द के द्वारा उनका सकेत किया है[1] जो भी हो इस वृद्धि की गुञ्जाइस वहा अवश्य है । उत्तरवर्ती नैयायिकों ने परत्व, अपरत्व और पृथक्त्व को कम करते हुए इक्कीस गुण सिद्ध किये हैं। उन्होने लिखा है कि परत्व तथा अपरत्व भी ज्येष्ठत्व, कनिष्ठत्व एव सन्निकृष्टत्व की भाति अनावश्यक है, पृथक्त्व केवल अन्योन्याभाव ही है । कुछ विद्वानो ने लघुत्व, मृदुत्व, कठिनत्व तथा आलस्य को भी गुण मान कर गुणो की सख्या २८ करने का प्रयत्न किया है, किन्तु लघुत्व केवल गुरुत्व का अभाव है । मृदुत्व तथा कठिनत्व विलक्षण सयोग से भिन्न नही है । इसी प्रकार आलस्य भी प्रयत्न का अभाव मात्र है ।

कुछ विद्वानो ने अधर्म को धर्म का अभाव सिद्ध करने का उपक्रम किया है, किन्तु वस्तुत अधर्म धर्म का अभाव नही है । इसे विरुद्धधर्म अथवा अनुचित या निषिद्ध धर्म कहा जा सकता है । जैसे उत्तम कर्म का अभाव बुरे कर्म नही है, वह तो अकर्म भी हो सकता है जो कि अच्छे और बुरे दोनो प्रकार के कर्मों का अभाव है। इसी प्रकार सयोग-विभाग, परतत्व-अपरत्व, तथा सुख-दुख एक दूसरे के अभाव रूप न होकर भिन्न स्वरूप वाले ही है । धर्म और अधर्म दोनो के स्थान पर 'अदृष्ट' शब्द अवश्य रखा जा सकता है ।

गुणो मे गुरुत्व शब्द द्वारा दो भावो की अभिव्यक्ति की गयी है भार (Weight) तथा भाराधिक्य (Heaviness), किन्तु लघुत्व इन दोनो मे से केवल भाराधिक्य का प्रतियोगी है । वस्तुत लघुत्व (Lightness) तथा भाराधिक्य (Heaviness) दोनो ही भार के भेद है । इसी प्रकार द्रवत्व, कठिनत्व तथा मृदुत्व तीनो ही सयोग के विविध प्रकार है । आलस्य को प्रयत्न के अभाव अथवा स्थितिस्थापक (सस्कार) मे समाहित माना जा सकता है ।

गुणो का वर्गीकरण नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष तथा एकेन्द्रियग्राह्य एव अतीन्द्रियग्राह्य के रूप मे किया जाता है ।

यद्यपि पूर्व पृष्ठो मे स्थिर या नित्य धर्मों को गुण तथा अस्थिर या अनित्य धर्मों को कर्म कहा गया है, तथा गुण धर्म रूप ही हैं अत अनित्य-

१. वैशेषिक उपस्कार १ १ ६

गुण शब्द में कर्म के साथ भ्रम हो सकता है, अतः इस प्रसग में स्मरण रखना चाहिए कि यहा नित्य गुण शब्द का प्रयोग 'नित्य द्रव्य मे आश्रित गुण' तथा अनित्य गुण शब्द का प्रयोग 'अनित्य द्रव्य मे आश्रित गुण' अर्थ मे किया गया है। पृथ्वी जल अग्नि वायु ये चार द्रव्य कार्यावस्था मे अनित्य है अत इनमे विद्यमान गुण भी अनित्य होगे, तथा परमाणुरूप कारणास्था मे ये द्रव्य नित्य है, अत इनमे आश्रित गुण भी नित्य होगे।

विश्वनाथ के अनुसार वायु मे 'स्पर्श सख्या परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व तथा वेग (सस्कार) ये नौ गुण है।[1] तेज (अग्नि) में स्पर्श आदि उपर्युक्त आठ गुण तथा रूप, द्रवत्व और वेग नामक सस्कार ये ग्यारह गुण है।[2] जल मे तेज मे विद्यमान उपर्युक्त गुणो के साथ गुरुत्व रस और स्नेह ये चौदह गुण रहते है।[3] पृथ्वी मे स्नेह के अतिरिक्त तेजगत समस्त गुण एव गन्ध विद्यमान है।[4] वायु आदि मे विद्यमान ये गुण यथावसर नित्य अथवा अनित्य है। आकाश आदि शेष द्रव्य चू कि नित्य है अत उनमे विद्यमान गुण भी नित्य है। आत्मा मे बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, भावना (सस्कार), धर्म और अधर्म ये चौदह गुण है।[5] काल और दिशा मे सख्या, परिणाम, पृथक्त्व, सयोग और विभाग ये पाच-पाच गुण है।[6] आकाश मे इन पाच गुणो के अतिरिक्त शब्द गुण और अधिक है।[7] ईश्वर मे सख्या, परिमाण, सयोग, विभाग, पृथक्त्व, बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न ये आठ गुण है।[8] मन मे परत्व, अपरत्व, सख्या, परिमाण, सयोग, विभाग, परत्व तथा वेग (सस्कार) ये आठ गुण है।[9]

सामान्यगुण

गुणो का दूसरे प्रकार का वर्गीकरण सामान्य और विशेष रूप मे किया जाता है। विश्वनाथ के अनुसार सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, असासिद्धिक (नैमित्तिक), द्रवत्व, गुरुत्व तथा वेग (सस्कार) ये **सामान्यगुण** कहे जाते है।[10]

विशेषगुण

बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह,

१ भाषापरिच्छेद २६		२ वही	३०	३ वही	३१
४. वही	३२	५ वही	३३	६ वही	३३
७. वही	३३	८ वही	३४	९ वही	३४
१० वही	९१-९२				

सांसिद्धिक द्रवत्व, धर्म, अधर्म, भावना (सस्कार) तथा शब्द ये विशेषगुण कहे जाते है ।[1]

गुणो का तृतीय प्रकार का वर्गीकरण एकेन्द्रिय ग्राह्य, द्वीन्द्रिय ग्राह्य तथा अतीन्द्रिय तीन वर्गो मे किया गया है । विश्वनाथ के अनुसार सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह इन गुणो का ग्रहण दो इन्द्रियों द्वारा, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्दो का ग्रहण एक-एक इन्द्रियो द्वारा होता है तथा गुरुत्व, धर्म, अधर्म एव भावना (सस्कार) अतीन्द्रिय है ।[2]

कर्म

कणाद के अनुसार कर्म के पाच प्रकार है —उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन ।[3] कणाद के इस विभाजन को ही परवर्त्ती आचार्यों ने स्वीकार किया है । चू कि भ्रमण, रेचन, स्यन्दन, ऊर्ध्वज्वलन, तथा तिर्यग्गमन आदि भी कर्म के प्रकार है, जिन्हे गमन के अन्तर्गत समाहित किया जाता है, अत कर्म के इस विभाजन का अधिक उचित नही कहा जा सकता । नीलकण्ठ के अनुसार इस प्रसग मे महर्षि की इच्छा का ही समादर करते हुए पाच विभाग ही करने चाहिए ।[4] हम कर्म का वास्तविक विभाजन तीन भागो मे कर सकते है — (१) ऊर्ध्व या अधोगमन, (२) पार्श्वगमन (३) तिर्यगमन । इस उचित विभाजन को छोडकर ऋषि ने पाच विभाग क्यो किये है इसका उत्तर अब तक अप्राप्त है ।

कणाद के अनुसार कर्म उसे कहा जाता है जो 'एक द्रव्य मे रहता हो, किन्तु गुण न हो तथा सयोग एव विभाग के प्रति साक्षात् कारण भी हो ।'[5] लक्षण के पूर्वार्ध विशेषण द्वारा कर्म को द्रव्य तथा सयोग आदि से पृथक् किया गया है तथा शेष उत्तरार्ध विशेषण रूप अ श कर्म का परिचायक तत्व है । तर्क दीपिका मे इसे ही 'सयोग के प्रति असमवायिकारण, शब्द द्वारा लक्षित कराया गया है ।'[6] वैशेषिक सूत्र के टीकाकार शकर मिश्र ने कर्म के कुछ अन्य लक्षण भी प्रस्तुत किये है इन लक्षणो मे भाषान्तर से

---

१. वही ९०-९१
२ वही ९२-९४
३. वैशेषिक सूत्र १ १ ७
४ तर्कदीपिका प्रकाश
५. वैशेषिक सूत्र १ १ १७
६ तर्कदीपिका पृ० १९

'नित्य पदार्थ में न रहने वाली तथा सत्ता की साक्षाद् व्याप्य जाति से युक्त को ही कर्म कहा गया है।'[1] यहां शब्दान्तर से कर्मत्व जाति से विशिष्ट पदार्थ को कर्म माना गया है, क्योंकि परसामान्य 'सत्ता' साक्षाद् द्रव्य गुण और कर्म मे रहती है। कर्म से भिन्न द्रव्य तथा उनमे विद्यमान गुण नित्य भी है अत उन द्रव्यो एव गुणो मे विद्यमान द्रव्यत्व और गुणत्व से भिन्न कर्मत्व जाति ही शेष रह जाती है। इस प्रकार उक्त लक्षण मे प्रकारान्तर से कर्मत्व जाति विशिष्ट को ही कर्म कहा गया है। कर्मत्व जाति विशिष्ट को कर्म कहते हुए किया गया यह लक्षण परिचायक की अपेक्षा शाब्दिक ही अधिक है।

सामान्य

सूत्रकार कणाद ने सामान्य का कोई स्पष्ट लक्षण नही दिया था। आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार 'अनुवृत्ति प्रत्यय अर्थात् अनेक मे एकत्व बुद्धि के हेतुको सामान्य कहते है'।[2] तर्कसग्रहकार अन्नभट्ट ने 'नित्य तथा एक होते हुए अनेक मे विद्यमान धर्म को सामान्य कहा है।'[3] इस लक्षण मे तीन खण्ड है नित्य होना, एक होना तथा अनेक मे विद्यमान होना। द्वित्व आदि सख्या एक होती है साथ ही अनेक मे विद्यमान भी रहती है किन्तु वह नित्य नही है। परमाणु नित्य तथा अनेक मे विद्यमान है किन्तु वे एक नही अत्यन्ताभाव नित्य और एक होकर भी अनेकानुगत नही होता, अत इन सबको सामान्य नही कह सकते। इस लक्षण मे अनेक मे विद्यमान रहने का अर्थ है समवाय सम्बन्ध मे अनेक मे वर्त्तमान रहना।

बैलेण्टाइन (Ballantyne) आदि पाश्चात्य दार्शनिकों ने सामान्य के स्थान पर जीनस (Genus) शब्द का व्यवहार किया है, किन्तु जीनस का तात्पर्य सामान्य की भाति केवल अवच्छेदक धर्म से ही न होकर विशेष की भाति व्यावर्तक या व्यवच्छेदक धर्म से भी है। वस्तुत दोनो धर्मो (अवच्छेदक तथा व्यावर्तक धर्मो) मे कोई विशेष अन्तर भी नहीं है। क्योकि अपर सामान्य अवच्छेदक या अनुगत धर्म के रूप मे जहा अनेक पदार्थों मे एकत्व बुद्धि का हेतु होता है वही भिन्न अनेक पदार्थो मे भेद बुद्धि का कारण भी। उदाहरणार्थ गोत्व जाति जहा अनेक वर्ण एव अनेक आयु की गौ मे अनुगत बुद्धि

१ वैशेषिक उपस्कार भाष्य १ १, १७

२ प्रशस्तपादभाष्य पृ० ४

३ तर्क सग्रह पृ० १६४

को उत्पन्न करती है, वही गो भिन्न अश्व-बडवा, महिषी आदि से भेद बुद्धि को भी उत्पन्न करती है। हा परसामान्य अवश्य ही व्यवच्छेद बुद्धि का हेतु नही है उससे केवल अनुगत बुद्धि ही उत्पन्न होती है, जैसे कि विशेष द्वारा केवल व्यवच्छेद बुद्धि ही उत्पन्न होती है। इसलिए सामान्य और विशेष को दो पदार्थ न मानकर यदि एक पदार्थ माना जाता तथा सामान्य के तीन भेद (१) परसामान्य, (२) परापरसामान्य (३) अपरसामान्य किये जाते तो बैलेण्टाइन (Ballantyne) का जीनस (Genus) शब्द अधिक सामान्तर पडता। सूत्रकार कणाद को भी सम्भवत यही अभिप्रेत था, इसीलिए उन्होने सामान्य और विशेष को बुद्धि सापेक्ष्य बताया था।[1] वस्तुत किसी धर्म के सामान्य होने के लिए उत्तर काल मे जिन प्रनिबन्धो का प्रयोग किया गया है उसके कारण सामान्य और विशेष के पृथक्-पृथक् उपादान और लक्षण की आवश्यकता हुई। इसी कारण पीछे आकर सामान्य शब्द का अर्थ सीमित हो गया। सामान्य का पर और अपर रूप मे विभाजन भी इसी सीमित अर्थ के कारण ही किया गया है।

आगे चलकर सामान्य को पुन दो खण्डो में विभाजित किया गया है (१) अखण्ड सामान्य (२) सखण्ड सामान्य। अखण्ड सामान्य पदार्थ से साक्षात् सबद्ध होता है, इसे जाति भी कहते है। सखण्ड सामान्य का पदार्थ से परम्परया सम्बन्ध होता है, इसका दूसरा नाम उपाधि है।[2] जैसे द्रव्यत्व और कर्मत्व द्रव्य और कर्म से साक्षात् सम्बद्ध है, अत इन्हे जाति कहा जाता है। सखण्ड या परम्परया सम्बद्ध धर्म वस्तु के वास्तविक धर्म नही होते किंतु अपेक्षावश माने जाते है, जैसे दण्डित्व प्रमेयत्व। यहा दण्ड सयोग की अपेक्षा से ही दण्डित्व कहा गया है, दण्ड सयोग हटते ही दण्डित्व धर्म भी हट जाएगा, इसीलिए इसे परम्परया सबद्ध कहा जाता है। पदार्थगत प्रत्येक धर्मविशेष को जाति नही माना जाता। उदाहरणार्थ अन्धापन (अन्धत्व) आदि जाति नही है। इसी प्रकार यदि एकत्र हुए कुछ मनुष्यो के एक समूह को हम राष्ट्रियता, भाषा, शारीरिकगठन, वर्ण (रग), बुद्धि, शिक्षा, चारित्रिक विकास आदि के आधार पर विभाजित करने का प्रयत्न करे तो प्रत्येक दृष्टि से बने वर्गों मे समान व्यक्ति नही रह सकते। एक

---

१ वैशेषिक दर्शन, १ २ ७।

२. दीपिका किरणावली पृ० २२

व्यक्ति राष्ट्रियता के कारण कुछ व्यक्तियो के साथ एक वर्ग मे आता है,' किन्तु वही व्यक्ति भाषा के आधार पर अन्य व्यक्तियो के साथ अन्य वर्ग में रहता है । इन्ही व्यक्तियो के शिक्षा और चरित्र के आधार पर अलग-अलग वर्ग बनेंगे । इन वर्गों के विभाजन मे हम जिन सामान्य धर्मों को आधार बनाएगे वे जाति नही कहे जा सकते ।

आचार्य उदयन के अनुसार किसी धर्म के जाति मानने में निम्नलिखित बातो का अभाव होना आवश्यक है [1]—

१-व्यक्ति अभेद—जो धर्म केवल एक ही व्यक्ति मे हैं उसे जाति नही कह सकते . जैसे आकाश मे विद्यमान आकाशत्व ।[2]

२-तुल्यत्व —तुल्यधर्म जाति नही कहे जा सकते । जैसे घटत्व और कलशत्व शब्दवाच्य समान धर्म को अभिधान भेद अलग अलग जाति नही माना जाएगा, क्योकि दोनो धर्म सर्वथा तुल्य है।[3]

३-सकर—कुछ पदार्थों को यदि भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से दो दो वर्गो मे विभाजित करे जिनमे कुछ तो दोनो प्रकार के वर्ग मे साथ साथ रहे किन्तु कुछ प्रथम प्रकार के विभाजन मे कुछ पदार्थों या द्रव्यो के साथ रहते हुए दूसरे प्रकार के विभाजन मे अन्य पदार्थो या (द्रव्यो) के साथ रहे तो ऐसे विभाजन मे विद्यमान आधार भूत धर्म को सकर धर्म कहते है । जैसे पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश और मन इन द्रव्यो को भूत और अभूत के रूप मे विभाजन करने पर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश 'भूत' वर्ग मे तथा मनस् 'अभूत' वर्ग मे आएगा पुन इन्हे ही मूर्त्त अमूर्त्त के रूप मे विभाजित करे तो पृथ्वी जल अग्नि वायु और मन 'मूर्त्त' कहाए गे एव आकाश 'अमूर्त्त' । चू कि मन और आकाश एक बार एक वर्ग मे रहते है, किन्तु पुनर्विभाजन मे अन्य सब द्रव्य तो साथ रहते हैं किन्तु ये दोनो क्रमश भूत और अमूर्त्त नही बन पाते,[4] अत भूतत्व और मूर्त्तत्व को सकर धर्म होने के कारण जाति नही माना जाएगा ।

४-अनवस्था: जाति मे कल्पित धर्म को भी जाति नही मानते, क्योकि जाति मे जाति स्वीकार करने पर प्रत्येक जातियो मे जात्यन्तर स्वीकार करने पर जातियो की कल्पना का अन्त ही न हो सकेगा, जैसे द्रव्यत्व जाति मे द्रव्यत्वत्व आदि जातियो की कल्पना नही की जाती ।[5]

---

१ (क) द्रव्य किरणावली (ख) कणाद रहस्यम् पृ० १५६
२ दिनकरी पृ० ७७ ३ वही पृ० ७७ ४. वही पृ० ७७
५. वही पृ० ७८

५-रूपहानि.–किन्ही विशेष युक्तियो के द्वारा जहा जाति को अनावश्यक मानकर उसका निषेध किया गया है वहा विद्यमान धर्म को जाति नही माना जाता, जैसे विशेषत्व धर्म, चू कि विशेषत्व व्यावर्त्तक अर्थात् व्यवच्छेदक धर्म है अनुगत प्रतीति का हेतु धर्म नही, अत अनन्त विशेषो मे विद्यमान होने पर भी विशेषत्व धर्म को जाति नही माना जाता ।[1]

६-असम्बन्ध–जिस धर्म का व्यक्ति से सम्बन्ध करने के लिये कोई सम्बन्ध ही न हो वह कल्पित धर्म जाति नहीं माना जा सकता, जैसे समवायत्व । समवाय वह सम्बन्ध है जिस सम्बन्ध से कोई जाति या धर्म द्रव्य अथवा गुण आदि मे रहता है । यदि समवायत्व को धर्म या जाति माने तो उसे समवाय मे रहना चाहिए । अब प्रश्न यह होता है कि समवायत्व समवाय मे किस सम्बन्ध से रहेगा, उसके लिए अतिरिक्त समवाय सम्बन्ध मानना आवश्यक होगा, अत सम्बन्ध के अभाव मे समवाय मे कल्पित समवायत्व धर्म जाति नही माना जा सकता ।[2]

इस प्रकार हम कह सकते है कि द्रव्य, गुण, कर्म इन तीन पदार्थों मे विद्यमान धर्म द्रव्यत्व तथा गुणत्व कर्मत्व तो जाति है शेष सामान्य विशेष और अभाव मे विद्यमान धर्मों को जाति नही कहा जा सकता ।

विशेष

विशेष पदार्थ को अपर सामान्य से पृथक् करने के कारण अन्त्यविशेष भी कहा जाता है । यह एक धर्म विशेष है जो जाति से भिन्न है, तथा प्रत्येक नित्य द्रव्य (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के परमाणुओ तथा आकाश आदि पाच द्रव्यो मे विद्यमान रहता है **विशेष** का कार्य जाति के अनुगत प्रतीति कार्य से सर्वथा विपरीत व्यावृत्ति (भेद) ज्ञान को उत्पन्न करना है । इस प्रकार यह प्रत्येक परमाणु या आकाश आदि मे परस्पर भेद ज्ञान का कारण है । इसके साथ ही **विशेष** को 'स्वतोव्यावर्तक' अर्थात् स्वय विशेष को भी सबसे भिन्न करने वाला कहा गया है ।[3] इस प्रकार विशेष पदार्थ के दो कार्य हुए नित्य द्रव्य मे व्यावृत्ति बुद्धि उत्पन्न करना, तथा विशेष मे परस्पर व्यावृत्ति बुद्धि का कारण होना । विशेष मे यदि यह द्वितीय विशेषता न मानी जाय तो विशेष का परस्पर भिन्न बताने के लिए विशेषान्तर की या पदार्थान्तर की कल्पना आवश्यक होगी ।

१. वही पृ० ७८ ७९ २ वही पृ० ७९ ८०

३. Notes on Tarkasangraha by Bodas P. 94

सिद्धान्त चन्द्रिका मे विशेष पदार्थ को मानने की आवश्यकत बताते हुए कहा गया है कि घट आदि पदार्थों को पट आदि पदार्थों से भिन्न मानने के लिए जिस प्रकार घटादि मे कपाल आदि की समवाय सम्बन्ध से विद्यमानता है उसी प्रकार परमाणु आदि मे परस्पर भेदक कोई अन्य तत्व नही है अत. विवश होकर विशेष पदार्थ का आश्रय लेना ही होगा।[1]

विशेष की कल्पना वैशेषिको का निज आविष्कार है। यद्यपि कणाद ने मूल सूत्र मे विशेष को पूर्णतया स्पष्ट नही किया था, किन्तु सामान्य को विशेष से भिन्न बताते हुए 'अन्त्य विशेषो से भिन्न' कहा था, अर्थात् कोई धर्म यदि अनुगत प्रतीति का कारण रहता है तो उसे सामान्य कहा जाता है, और जो धर्म अन्त्य परमाणु का धर्म होने से अनुगत प्रतीति का हेतु न बन कर व्यावर्त्तक या भेदक हो तो उसे **विशेष** कहा जाता है। वैशेषिक से सहमत परवर्ती नैयायिकों ने भी इसे इसी रूप मे स्वीकार किया है। विशेष को स्वीकार करने के लिए उनकी युक्ति का उल्लेख ऊपर की पक्तियो मे किया जा चुका है। अब यहा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि परमाणुओ मे परस्पर भेद (व्यावर्त्तन) के लिए ही विशेष पदार्थ को स्वीकार करने की आवश्यकता है तो **विशेष** को स्वतन्त्र पदार्थ न मान कर परमाणुओ मे ही यह व्यावर्त्तक (भेदक) धर्म क्यो न स्वीकार कर लिया जाए? इस शका का समाधान प्रशस्तपाद ने इस रूप मे दिया है कि परमाणुओ मे चूंकि अन्य अनेक धर्म है अत उसमे यह धर्म नही माना जा सकता, जबकि श्वमास मे अशुचित्व और दीप मे प्रकाशकत्व के समान **विशेष** मे व्यावर्तकत्व (स्वतो व्यावर्त्तकत्व) धर्म ही अन्यतम होने से उसके मानने मे कोई आपत्ति नही हो सकती।[2]

समवाय

समवाय एक सबध है जो कार्य और कारण, द्रव्य और गुण, क्रिया और क्रियावान्, जाति और व्यक्ति तथा विशेष और नित्यद्रव्य के बीच रहा करता है। सूत्रकार ने यद्यपि समवाय के सम्बन्ध मे केवल इतना ही कहा था कि 'काय मे कारण जिससे रहता है वह समवाय है'[3] किन्तु भाष्यकार प्रशस्त पाद ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'अयुतसिद्ध आधार आधेय

---

१ सिद्धान्त चन्द्रिका। २ प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १६६-७०।

३ वैशेषिक ७ २ २६

भाव से अवस्थित द्रव्य गुण कर्म सामान्य और विशेष पदार्थों का कार्य कारण भाव होने पर अथवा कार्य कारण भाव के अभाव मे भी 'इसमे यह है' इस ज्ञान का कारण भूत सम्बन्ध **समवाय** है।[1] अन्न भट्ट ने समवाय की परिभाषा करते हुए लिखा है कि 'नित्य सबध को **समवाय** कहते है'।[2] यह सम्बन्ध उन दो वस्तुओ के बीच होता है जो कभी पृथक् नही हो सकते जैसे अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् जाति व्यक्ति तथा विशेष और नित्य द्रव्य। समवाय नित्य सम्बन्ध है, जबकि सयोग सम्बन्ध, जो कि गुण है, अनित्य सम्बन्ध है। अयुतसिद्ध वे पदार्थ कहे जाते है जो पृथक् नही रह सकते अपितु एक दूसरे पर आश्रित है। जैसे घट एव कपाल, या घट एव घटगुण। अयुत शब्द का व्युत्पत्ति लब्ध अर्थ भी यही है कि 'जो न तो सयुक्त सिद्ध किये जा सके और न विभाजित'। इस प्रकार के केवल पाच युग्म है जिन्हे ऊपर की पक्तियो मे गिनाया जा चुका है।

समवाय पदार्थ और उसका नित्यत्व अन्य 'भाव' पदार्थों की भाति हा नैयायिको ने तर्क के आधार पर सिद्ध किया है। उनका तर्क है कि जैसे 'इस कुण्डी मे दही है' 'इस घर मे मनुष्य है' यह ज्ञान दही और कुण्डी, घर और मनुष्य के बीच सम्बन्ध रहने पर ही सभव हो पाता है इसी प्रकार इस द्रव्य मे गुण कर्म और जाति है, इस गुण मे गुणत्व है, इस कर्म मे कर्मत्व है, परमाणुओ मे विशेष है यह ज्ञान भी सम्बन्ध के बिना सभव नही है। यह सम्बन्ध सयोग नही हो सकता, क्योकि सयोग युतसिद्ध पदार्थो मे ही सम्भव है, सयोग के लिए निमित्त के रूप मे कर्मान्तर का होना आवश्यक है, सयोग के साथ विभागान्तर का होना भी अनावश्यक है अत इन स्थलो मे सयोग सम्बन्ध नही माना जा सकता, फलत यह सम्बन्धान्तर ही होगा जिसे यहा **समवाय** कहा गया है। समवाय का नित्यत्व सम्बन्धात्मक है, क्योकि यह सम्बन्ध न तो उत्पन्न होता है न विनष्ट ही होता है, जब तक कि वस्तु का ही उत्पत्ति या विनाश न हो। द्रव्यादि की उत्पत्ति और विनाश के साथ ही सम्बन्ध की स्थिति है। अन्नभट्ट आदि अधिकाश वैशेषिक इसे इन्द्रियग्राह्य दो पदार्थों के ही सम्बन्ध के रूप मे स्वीकार नही करते, क्योकि अतीन्द्रिय आकाश और शब्द के मध्य भी यही सम्बन्ध रहता है।

समवाय पदार्थ न्याय वैशेषिक दर्शन का आधार स्तम्भ है, समवाय के

---

१. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १७१ २ तर्क सग्रह १६५

आधार पर ही सम्पूर्ण **कारणवाद** तथा **परमाणुवाद** के सिद्धान्त स्थिर है। इसी आधार पर इन्हे कल्पनावादी मे यथार्थवादी की श्रेणी मे अलग किया जा सकता है। न्याय के विद्यार्थियो के लिए जहा **समवाय कुञ्जी** है, वही साख्य और वेदान्त ने इसे ही आधार मानकर न्याय का खण्डन किया है। शकराचार्य ने **समवाय** सिद्धान्त की निर्बलता के प्रसङ्ग मे कहा है कि "चू कि सयाग गुण है अत उसका द्रव्य से सम्बन्ध किसी सम्बन्ध विशेष से होगा और वह सम्बन्ध हो **समवाय** है, तथा यह समवाय दो पदार्थों का सम्बन्ध मात्र है, तो अब प्रश्न यह है कि **समवाय** भी दोनो पदार्थों मे किस सम्बन्ध से रहता है, क्या अतिरिक्त समवाय से ? यदि हा तो उस समवाय के लिए भी अन्य समवाय मानना होगा, इस प्रकार अनवस्था दोष उपस्थित होगा। इस अनवस्था से बचने के लिए यदि न्याय वैशेषिक **समवाय** को गुण न मानकर अतिरिक्त पदार्थ मानता है एव तादात्म्य सम्बन्ध मे द्रव्यादि मे उसकी विद्यमानता स्वीकार करता है तो सयोग को ही इसी रूप मे अर्थात् द्रव्यादि मे तादात्म्य सम्बन्ध से अवस्थित क्यो न मान लिया जाए'[1] इसीलिए वे समवाय सम्बन्ध को नही मानते। सयोग सम्बन्ध सर्वत्र अनित्य होता हो, कर्मान्तर जनित होता हो तथा विभागान्तावस्थायी होता हो ऐसी बात नही है, काल तथा आकाश का परमाणु से सयाग नित्य ही है इसके लिए हेतु के रूप मे कर्मान्तर की आवश्यकता नही होती, और न यह विभागान्त अवस्थायी ही है। यदि सयाग द्रव्यान्तर सयोग के समय अनित्य रहता है, यह कहा जाये, तो यही स्थिति समवाय की भी है, वह भी तो वस्तु की उत्पत्ति और विनाश के साथ-साथ उत्पन्न और विनष्ट होता रहता है। समवाय को यदि कार्य कारण के सम्बन्ध के रूप मे ही मानना है तो कारण का ही कार्य मे तादात्म्य सम्बन्ध से क्यो न स्वीकार कर लिया जाए ? समवाय के मूल अयुतसिद्धत्व पर भी शकराचार्य ने दृढ आक्षेप किया है उनका कहना है कि गुण और गुणी, अवयव और अवयवी दो वस्तुये ही नही है फिर उनके सम्बन्ध के लिए समवाय की मान्यता का कोई प्रश्न ही नही रहता।[2] इस प्रकार न्याय वैशेषिक विचार धारा का मूल आधार 'समवाय' स्वय ही आधारहीन सिद्ध हो जाता है।

अभाव

जैसाकि प्रारम्भ मे ही कहा जा चुका है प्राचीन वैशेषिकों ने केवल भाव

---

१ वेदान्त सूत्र शाकरभाष्य २ २ १३

२ वही २ २ १३।

पदार्थों का ही विवेचन किया था, अतएव वैशेषिक सूत्रों तथा प्रशस्तपाद-भाष्य मे अभाव का उल्लेख नही मिलता। सप्त पदार्थो के लेखक शिवादित्य ने सर्वप्रथम अभाव पदार्थ का विवेचन किया है। इस अभाव पदार्थ का स्वीकार करने के कारण ही वैशेषिक शक्ति नामक अन्य पदार्थ तथा तमस् नामक दसम द्रव्य की मान्यता से बच पाते है। इस प्रकार एक अभाव पदार्थ को स्वीकार करने मे वे अनेक स्थानो पर गौरव से बच जाते हैं।

पाश्चात्य दार्शनिक वैलेण्टाइन (Ballantyne) आदि ने भी **'निगेशन'** (Negation) के रूप मे इसे स्वीकार किया है। कुछ पाश्चात्य दार्शनिको ने इसे **नानइक्जिस्टेन्स** (Non-existence) नाम से स्वीकार किया है, किन्तु यह नाम अभाव मात्र के लिए प्रयुक्त न कर अन्योन्याभाव के लिए प्रयुक्त करना अधिक अच्छा होगा।

सामान्य रूप से अभाव चार प्रकार का माना गया है—(१) प्रागभाव, (२) प्रध्वसाभाव, (३) अत्यन्ताभाव (४) अन्योन्याभाव।

प्रागभाव —अनादि काल मे वस्तु की उत्पत्ति के पूर्व क्षण तक विद्यमान वस्तु के अभाव को प्रागभाव कहते है। **प्रध्वंसाभाव**—वस्तु के विनाश काल से लेकर अनन्त काल तक विद्यमान वस्तु के अभाव को प्रध्वसाभाव कहते। **अत्यन्ताभाव** वस्तु जहा है उस स्थल या उस काल को छोडकर शेष समस्त भूतल पर विद्यमान त्रिकाल सबद्ध अभाव को अत्यन्ताभाव कहा जाता है। **अन्योन्याभाव** :—एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सापेक्ष अभाव अन्योन्याभाव कहाता है।

विश्वनाथ ने अभाव के सर्व प्रथम दो भेद किये है—(१) ससर्गाभाव (२) अन्यान्याभाव, तथा ससर्गाभाव को पुन तीन खण्डो मे विभाजित किया है।[1] उनके अनुसार **अन्योन्याभाव** प्रतियोगि आश्रित अभाव का कहते हैं। इस अभाव मे एक वस्तु की विद्यमानता मे अन्य वस्तु का अभाव तथा एक वस्तु के अभाव मे अन्य वस्तु की सत्ता अनिवार्यत रहती है। **ससर्गाभाव** किसी वस्तु या द्रव्य का पूर्ण अभाव कहा जाता है, जैसे-इस भूमि पर घडा नहीं है (इह भूतले घटा नास्ति) इस वाक्य द्वारा वस्तु (घडा) का अभाव पूर्णत प्रतिपादित होता है। इसी प्रकार **प्रागभाव** और **प्रध्वसाभाव** मे भी काल विशेष म द्रव्य का पूर्ण अभाव अभिहित होता है, जबकि **अन्योन्याभाव** केवल दो वस्तुओ का भेद सिद्ध करता है। अथवा यो कह सकते है कि **संसर्गाभाव** मे

१ कारिकावली १२-१३

एक अधिकरण मे किसी द्रव्य आदि का अभाव बताया जाता है, जबकि **अन्योन्याभाव** मे दो वस्तुओ को एक दूसरे का अभाव। इस प्रकार **अन्योन्याभाव** का अन्तर्भाव किया जाना सम्भव नही है ।

अन्योन्याभाव मे दोनो अधिकरणो या प्रतियोगियो को एक कारक में रखते हुए वाक्य रचना की जाती है, जबकि **संसर्गाभाव** मे प्रत्येक प्रतियोगी को भिन्न कारक मे रखना अनिवार्य होता है । जैसे —'घट पटो न' यहां अन्योन्याभाव है एव 'अत्रगृहे घटो न' इस वाक्य मे ससर्गाभाव है। कुछ लोगो का कहना है कि 'वह घडा वस्त्र नही है, (घट पटो न) इसी बात को घड़े मे पटत्व नही है (घटे पटत्व नास्ति) और 'पट मे घटत्व नही है' (पटे घटत्व नास्ति) वाक्यान्तर से भी कहा जा सकता है, चू कि प्रथम वाक्य मे अभाव की प्रतीति **अन्योन्याभाव** के रूप मे तथा द्वितीय वाक्य मे **संसर्गाभाव** के रूप मे होती है, अत दोनो मे वास्तविक भेद न होकर शाब्दिक भेद है।"[१] वस्तुत. यह कथन उपयुक्त नही है, कारण कि प्रथम वाक्य मे घट और पट मे भेद की प्रतीति होती है जबकि द्वितीय वाक्य मे घट मे पटत्व और पट मे घटत्व जाति का अभाव सूचित होता है, अत दोनो वाक्यो को समानार्थक नही कहा जा सकता। इा **प्रागभाव** को वस्तु की अनुत्पत्ति तथा **प्रध्वसाभाव** को वस्तु का विनाश अवश्य कहा जा सकता है ।

अभाव की लघुतम परिभाषा '**भावभिन्नत्व**' की जा सकती है। **सिद्धान्त** चन्द्रादय मे 'प्रतियोगिज्ञानाधीनविषयत्व' [अर्थात् 'जिस वस्तु का अभाव है उस वस्तु के ज्ञान के आधीन किन्तु ज्ञानान्तर का विषय होना' अभाव का लक्षण दिया गया है । विश्वनाथ ने 'द्रव्यादि छ पदार्थों मे से किन्ही की सत्ता के साथ अन्य की असत्ता' यह लक्षण दिया है। अभाव का यह लक्षण स्वत भी अभाव पर आश्रित है, अत उचित नही है।[२] सर्व दर्शन सग्रह मे 'समवाय से भिन्न होते हुए भी जो समवाय सम्बन्ध की अपेक्षा नही रखता वह अभाव है, ऐसा लक्षण, दिया गया है, नैयायिक अभाव को अनुयोगी* मे विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध से युक्त मानते है। '**घटाभाव युक्त भूतल' है'** इस वाक्य मे भूतल विशेष्य तथा **घटाभाव** विशेषण हैं।

---

१ Notes on tarkasangrha By Bodas p 100

* 'यत्राभाव स अनुयोगि', अर्थात् जहा किसी वस्तु का अभाव है उसे अनुयोगी कहते है।

२ न्याय सिद्धान्त मुक्तावली पृ० ६१

वेदान्ती अभाव की मान्यता से सहमत नही है उनका कहना है कि अभाव की मान्यता एक शाब्दिक कल्पना मात्र है। यदि वस्तुत. अभाव भिन्न पदार्थ हो तो पटाभाव और घटाभाव मे कुछ वास्तविक अन्तर होना चाहिए। किन्तु अन्तर वास्तविक न होकर केवल काल्पनिक या आरोपित है। विशेषण का भी कोई रूप होता है, विशेषण द्वारा विशेष्य म कोई वैशिष्टय उत्पन्न होता है किन्तु घटाभाव से युक्त भूतल है (घटाभाववद्भूतलम) म घटाभाव अभावात्मक विशेषण ही है, फलत भूतल मे कोई वैशिष्ट्य उत्पन्न नही होता। सभवत इसीलिए कणाद ने पदार्थो के परिगणन मे अभाव का कोई उल्लेख नही किया था। यद्यपि परवर्ती विद्वान कारणाभावात्कार्याभाव'' तथा 'असत क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थान्तरम्, सूत्रो म अभाव शब्द का प्रयोग देख कर अभाव पदार्थ को कणाद सम्मत कहते है। उदयनाचार्य के अनुसार '**अभाव पदार्थ**' के उल्लेख न होने का कारण अभाव पदार्थ का न होना नही है अपितु पदार्थो का निर्देश केवल प्रधानतया कर दिया गया है, स्वरूपवान् होते हुए भी अभाव का निर्देश उनके द्वारा केवल इसलिए नहीं किया गया कि जिन पदार्थो का अभाव बताना है उनके निरूपण पर ही उनके अभाव का निरूपण आश्रित है।[3]

इति पदार्थ विमर्श

—०—,०

१ वैशेषिक सूत्र १५९। २ वैशेषिक सूत्र ३२९

३ किरणावली-पदार्थ प्रकरण।

२

द्रव्य विमर्श

पृथिवी —

कणाद ने 'रूप रस गन्ध स्पर्श युक्त को पृथिवी कहा था'[1] किन्तु रूपवान् जल और अग्नि भी है, रस जल मे भी है अत लक्षण वाक्य मे इनका समावेश उपयुक्त नही है, ऐसा मानकर परवर्त्ती विद्वानो ने '**गन्ध युक्त पृथिवी** है'[2] इतना ही कहा है। आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार 'पृथिवीत्व से युक्त को **पृथिवी** कहा जाता है,'[3] किन्तु यह लक्षण लक्ष्य का परिचय कराने वाला होने की अपेक्षा शाब्दिक अधिक हो गया है। इसलिए '**गन्ध युक्त होना**' ही पृथिवी का उपयुक्त लक्षण कहना चाहिए 'गन्ध युक्त' का अर्थ है **गन्ध का समवायिकारण** होना। गन्ध युक्त मे गन्ध का योग समवाय सम्बन्ध मे विवक्षित है, अन्यथा दिशा और काल मे भी दैशिक और कालिक सम्बन्ध मे गन्ध योग है अत अतिव्याप्ति दोष हो सकता है।

अन्नभट्ट ने तर्कदीपिका मे इस लक्षण मे तीन दोषो की उद्भावना की है।[4] उनका कहना है कि गन्ध केवल दो प्रकार का माना गया है सुरभि और असुरभि, किन्तु जब सुरभि युक्त और असुरभि युक्त दो समवायिकारणो के सयोग मे कोई कार्य उत्पन्न होता है तो वहा सुरभि और असुरभि गन्धो का मिलकर या तो दोनो का ही विनाश मानना होगा अथवा दोनो के सयोग से युक्त 'चित्रगन्ध' की कल्पना करनी होगी, जबकि ऐसे स्थलो पर गन्धाभाव अथवा चित्रगन्ध दोनो ही वैशेषिको को अमान्य है। किन्तु इसका समाधान बहुत ही स्पष्ट है कि दो समवायिकारणो से उत्पन्न द्रव्य के एक अश मे सुरभि तथा दूसरे अश मे असुरभि गन्ध की स्थिति मानी जा सकती है।

---

१ वैशेषिक सूत्र २,१,१,
२ तर्क सग्रह पृ० २६
३ प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १०
४ तर्कदीपिका पृ० २७-२८

इस लक्षण पर दूसरी शका यह कि प्रथम क्षण मे प्रत्येक द्रव्य निर्गुण और निष्क्रिय रहा करता है, अत उस स्थिति मे यह लक्षण सगत न हो सकेगा, किन्तु इस शका का समाधान द्रव्य लक्षण मे किये गये ढंग से ही हो जाएगा, अर्थात् 'गन्ध के साथ रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य (पृथिवीत्व) जाति से युक्त को **पृथिवी** कहते है, इस प्रकार की व्याख्या से इस दोष की निवृत्ति हो जाएगी ।

इस लक्षण मे तीसरा दोष 'जल मे गन्ध की प्रतीति तथा पाषाण मे गन्ध की अप्रतीति से होता है', किन्तु वस्तुत जल मे गन्ध की प्रतीति विद्यमान नही है वह तो जल मे मिश्रित पार्थिव अश मे विद्यमान है । इसी प्रकार पाषाण मे वस्तुत गन्ध का अभाव नहीं है अपितु वहा विद्यमान होकर भी गन्ध अप्रकट या तिरोहित है इसीलिए पाषाण से निर्मित भस्म मे गन्ध की अनुभूति होती ही है ।

पृथिवी-गुण —

कणाद ने यद्यपि पृथिवी के लक्षण के प्रसङ्ग मे केवल रूप रस गन्ध और स्पर्श गुणो की चर्चा की थी किन्तु अन्य प्रसङ्ग मे उन्होने अन्य गुणो का भी यथा स्थान उल्लेख किया था, इसीलिए आचार्य प्रशस्त पाद ने सकलन करके **रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व तथा सस्कार** इन चौदह गुणो की सत्ता स्वीकार की थी ।[1] विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने भी इसे ही स्वीकार किया है ।[2]

पृथिवी दो प्रकार की मानी जाती है, नित्य पृथिवी तथा अनित्य पृथिवी । **अनित्य पृथिवी** पुन. तीन भागो मे विभाजित की जाती है **शरीर, इन्द्रिय, और विषय** ।[3] अन्नभट्ट ने पृथिवी का यह पुन विभाजन अनित्य पृथिवी का न मानकर पृथिवी मात्र का माना है । इस दृष्टि से परमाणु ज्ञान का विषय होने के कारण विषय माने जा सकते है ।

---

१. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ११ २ कारिकावली ३१

३. (क) वैशेषिक सूत्र १७० (ख) प्रशस्तपादभाष्य पृ० १२ ।

शरीर:—

सामान्यत: **'आत्मा के लिए भोग प्राप्ति का आश्रय शरीर है' शरीर का** यह लक्षण किया जाता है,[1] किन्तु स्पष्टता के लिए जो 'चेष्टा (क्रिया) का आश्रय हो साथ ही अन्तिम अवयवी भी हो, यह लक्षण अधिक उपयुक्त है ।[2] अन्तिम **अवयवी** शब्द का अर्थ है कि जो स्वय तो अनेक अवयवों मे उत्पन्न हो किन्तु सयुक्त होकर दूसरे अवयवी का समवायि कारण न बनता हो ।[3] न्याय दर्शन मे **शरीर** को चेष्टा इन्द्रिय **और** अर्थ का आश्रय कहा गया है ।[4] शरीर दो प्रकार का है **योनिज और अयोनिज** । शुक्र और शोणित के सयोग से उत्पन्न शरीर को **योनिज** कहते **है** । योनिज शरीर भी **जरायुज और अण्डज** भेद से दो प्रकार का है । शुक्र और शोणित के सम्पर्क के बिना ही उत्पन्न शरीर को **अयोनिज** कहते **है** । जैसे - देवर्षियो का शरीर धर्म विशेष के कारण अणुओ से ही उत्पन्न होता है । इसी प्रकार क्षुद्र जन्तुओ के यातनामय शरीर भी अधर्म विशेष के कारण अणुओं से ही उत्पन्न होते है ।[5]

इन्द्रिय —

पृथिवी का द्वितीय विभाग **इन्द्रिय** रूप है । **'जो शब्द से अतिरिक्त उद्भूत विशेषगुण[6] का आश्रय न हो, साथ ही ज्ञान के कारण भूत मनस् के सयोग का आश्रय हो, उसे इन्द्रिय कहते हैं** ।[7] चू कि ज्ञान के कारण भूत मन के सयोग का आश्रय आत्मा भी है, इन्द्रिय लक्षण उसमे अतिव्याप्त न हो, इसलिए लक्षण वाक्य मे 'शब्द से अतिरिक्त विशेषगुण का आश्रय न हो' इस अश का समावेश किया है । आत्मा चू कि बुद्धि सुख दु ख आदि अनेक विशेष गुणो का आश्रय है अत यह लक्षण उसमे अतिव्याप्त न होगा । लक्षण वाक्य मे शब्द से अतिरिक्त विशेष गुणों का ही निषेध किया गया है शब्द का नही, अत: शब्द का आश्रय आकाश श्रोत्र कुहर गत होने पर **इन्द्रिय** कहाता ही है ।

---

१ (क) न्यायमञ्जरी पृ० ४५ (ख) तर्कदीपिका पृ० २९

२ वैशेषिक दर्शन उपस्कार भाष्य । पृ० १२४

३ न्याय दर्शन विश्वनाथ वृत्ति १ १ ११ ४. न्याय दर्शन १.१ ११

५ प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १३

६ विशेषगुणो के परिचय के लिए प्रथम अध्याय गुण-विवेचन द्रष्टव्य है ।

७ उपस्कार भाष्य पृ० १२४

चू कि इन्द्रिया पार्थिव जलीय तैजस आदि होती है, अत उनमे पृथिवी आदि के गुणों का होना आवश्यक ही है, अन्यथा उन्हे पार्थिव आदि नही कह सकते एव विशेष गुणो की सत्ता रहने पर उनमे इन्द्रिय लक्षण अव्याप्त होगा; उस अव्याप्ति निवारण के लिए लक्षण में विशेष गुणो के विशेषण के रूप मे उद्भूत शब्द दिया गया है, फलत घ्राण आदि इन्द्रियो मे लक्षण की अव्याप्ति न होगी।

उपर्युक्त लक्षण के अतिरिक्त इन्द्रिय के कुछ अन्य लक्षण भी प्राप्त भी प्राप्त होते है. जैसे–'शरीर से सयुक्त तथा अतीन्द्रिय हो, ज्ञान की उत्पत्ति मे कारण हो', एव 'स्मृति उत्पन्न न करने वाली तथा ज्ञान को उत्पन्न करने मे मन के सयोग का आश्रय हो उसे **इन्द्रिय** कहते है,[१] इत्यादि। इन्द्रिया दो प्रकार की है **आन्तरिक और बाह्य**। बाह्य इन्द्रिया पाच है - श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना (जिह्वा) तथा नासिका। नैयायिकों के अनुसार इनमे श्रोत्र, त्वचा और रसना केवल गुण ग्राहक है।[२]

विषय —

विषय का अर्थ **ज्ञान का विषय होकर भोग के लिए उपयोगी होना है।**'[३] चू कि अतीन्द्रिय परमाणु भोग के विषय नही हो सकते इसलिए उन्हे **विषय** नही माना जाता। विश्वनाथ ने इसीलिए द्व्यणुकादि से ब्रह्माण्ड पर्यन्त को ही विषय माना है, परमाणु को नही।[४] शरीर और इन्द्रिय भी ज्ञान के विषय हो सकते है फिर भी इनका पृथक् ग्रहण केवल स्पष्टता के लिए किया गया है।[५] वृक्ष आदि **शरीर है** या **विषय** यह प्रश्न नैयायिको के समक्ष बहुत समय तक रहा है। वैशेषिकसूत्र के भाष्यकार शकरमिश्र ने वृक्ष मे चेष्टा और इन्द्रियों की स्पष्ट सत्ता प्रगट न होने के कारण उसे **शरीर** नही माना है।[६] तर्कसग्रहकार अन्नभट्ट भी इसी मत को स्वीकार करते है। वैशेषिक के भाष्यकार प्रशस्तपाद वृक्ष आदि को शरीर न मानकर **विषय** ही

१. (क) तत्व चिन्तामणि। (ख) उपस्कार भाष्य पृ० १२४

२ कारिकावली–५३-५६।		३ न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पृ. १६२

४ भाषा परिच्छेद ३८

५ (क) न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पृ १६४		(ख) सिद्धान्त चन्द्रिका।

६. वैशेषिक उपस्कार ४ २ ५

मानते है[1], किन्तु भाषा परिच्छेदकार विश्वनाथ ने इन्हे अयोनिज शरीर स्वीकार किया है।[2]

जल-तेजस्

शीत स्पर्श युक्त को **जल**, तथा उष्ण स्पर्श युक्त को **तेजस् (अग्नि)** कहा जाता है। इनका विभाजन पृथिवी के समान ही है। जलीय शरीर वरुण लोक मे तथा तैजस् शरीर आदित्य लोक मे विद्यमान रहता है। जलीय इन्द्रिय रसना तथा तैजस् इन्द्रिय नेत्र है। शरीर के सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि पार्थिव शरीर मे पार्थिव परमाणुओ की प्रधानता होती है अत एव उसे 'पार्थिव-शरीर' कहा जाता है यद्यपि जल आदि के परमाणु भी निमित्त के रूप मे विद्यमान अवश्य रहते है।[3] यही स्थिति जलीय शरीर आदि की है इनमे यथाशरीर जल आदि की प्रधानता रहती है तथा शेप द्रव्यो के परमाणु निमित्त के रूप मे विद्यमान रहते हैं।[4] दूसरी बात यह है कि पार्थिव शरीर **योनिज** और **अयोनिज** दोनो प्रकार का होता है जबकि **जलीय** आदि केवल **अयोनिज** ही होते है योनिज नही।[5]

जलीय इन्द्रिय **रसना** जिह्वाग्र पर स्थित है, तथा तैजस इन्द्रिय **चक्षु** कृष्णताराग्रवर्ती है। नैयायिको के अनुसार श्रोत्र, त्वचा, रसना और घ्राण अपने स्थान पर अवस्थित रहते हैं तथा इन्द्रिय स्थान पर ही उपस्थित विषय का साक्षात्कार करते है, किन्तु नेत्र (चक्षु) विषयस्थल पर पहुच कर विषय का ग्रहण करता है।[6] किन्तु नवीन विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि चक्षु मे प्रकाश पहुचने के लिए कृष्णतारा द्वार है। नेत्र इन्द्रिय उसके अतिरिक्त रेटिना (Retina) है। सूर्य आदि के प्रकाश के कारण विषय की प्रतिच्छाया उस पर पडती है एव 'रेटिना' मे विद्यमान शक्ति उसका ग्रहण करती है।

---

१ प्रशस्त पाद भाष्य पृ० १३

२ भाषा परिच्छेद पृ० १५७, १५६।

३ भाषा परिच्छेद पृ० १५८ ४ भाषा परिच्छेद पृ० १८६

५ उपस्कार भाष्य ४ २ ५

६ (क) न्याय दर्शन वात्स्यायन भाष्य पृ० १४२

(ख) न्याय दर्शन विश्वनाथ वृत्ति पृ० ६२

(ग) न्याय मजरी प्रमेय प्रकरण पृ० ५०

जलीय **विषय** नदी और समुद्र आदि है'[1]। तैजस विषय चार प्रकार का है **भौम** पृथिवी पर विद्यमान अग्नि। **दिव्य** जल से बढने वाली विद्युत तथा सूर्य सम्बन्धी अग्नि। **औदर्य** शरीर मे पाचन आदि क्रिया की हेतु उदरस्थ अग्नि। **खनिज** सुवर्ण आदि।[2]

यद्यपि सुवर्ण मे पीत (सुनहला) रग तथा गुरुत्व (भारी पन) आदि कुछ ऐसे गुण विद्यमान है, जो केवल पृथिवी मे ही रहा करते है, फिर भी नैयायिक सुवर्ण को पार्थिव न मानकर **तैजस** ही मानते है। उनका तर्क है कि **द्रवत्व** दो प्रकार का है **स्वाभाविक** (सासिद्धिक) और **नैमित्तिक**। **नैमित्तिक द्रवत्व** पृथिवी और तेजस् दो द्रव्यो मे रहता है, घृत मे **नैमित्तिक द्रवत्व** है, साथ ही उसमे गन्ध गुण भी है, अत उसे पार्थिव माना जाता है। यह **नैमित्तिक** द्रवत्व अग्नि सयोग से जल जाता है। सुवर्ण मे भी **नैमित्तिक द्रवत्व** है उसमे गन्ध गुण की सत्ता नही है साथ ही वह अत्यन्त अग्नि के सयोग से प्रज्वलित भी नही होता, अत वह **पार्थिक** नही हो सकता, निदान पार्थिव मे भिन्न नैमित्तिक द्रवत्व युक्त होने से सुवर्ण **तैजस है**।[3] मीमासको ने धातु रूप एक पृथक् द्रव्य स्वीकार किया है, किन्तु नैयायिक उससे सहमत नही है।

वायु

वायु रूप रहित स्पर्श **गुण युक्त द्रव्य** है, इस का विभाजन भी पृथिवी आदि के समान नित्य और अनित्य के रूप मे किया जाता है। साथ ही वह पृथिवी आदि के समान परमाणु रूप मे नित्य' तथा शरीर इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार का अनित्य है। प्रशस्तपाद आदि प्राचीन आचार्य **प्राण** को मिलाकर **अनित्य (कार्य) वायु** के चार भेद स्वीकार करते है।[4] किन्तु **प्राण** वस्तुत शरीर के अन्तगत चलने वाले वायु को ही कहते है, अत इसकी गणना शरीर, इन्द्रिय या विषय के अन्तर्गत ही होनी चाहिए पृथक् नहीं, किन्तु ऐसा पता चलता है कि यह प्रश्न नव्य नैयायिकों मे चिर काल तक विचारणीय बना रहा है, तर्कसग्रह के रचना काल तक भी अन्नभट्ट सभवत किसी एक निर्णय पर न पहुच सके थे, इसीलिए उन्होने कार्य वायु के तीन भेद बता कर प्राण आदि का पृथक् परिगणन किया है तर्क दीपिका मे

१ तर्क सग्रह पृ० ३३   २ वही पृ० ३४
३ भाषा परिच्छेद पृ० १७६   ४ प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १७

'ननु प्राणस्य कुत्रान्तर्भाव' प्राण का अन्तर्भाव कहा होगा' इस प्रश्न को देखकर ऐसा पता चलता है मानो वे अपना कुछ अभिमत प्रगट करना चाहते हों, किन्तु उत्तर मे **'शरीरान्तः संचारी'** इत्यादि देखकर निराश होना पडता है। विश्वनाथ ने प्राण आदि का अन्तर्भाव विषय मे किया है, वे कहते है 'प्राण से लेकर महावायु पर्य्यन्त सभी इसके विषय है, ।'[1] पृथिवी आदि के समान वायव्य शरीर वायुलोक मे माना जाता है । इन्द्रियो मे त्वचा वायवीय इन्द्रिय है। अन्य इन्द्रिया शरीर के किसी एक भाग मे अवस्थित रहती है, किन्तु त्वचा सर्व शरीर व्यापी इन्द्रिय है।

प्राण—

विश्वनाथ के अनुसार प्राण आदि वायु के **विषय है** । 'शरीर के अन्तर्गत चलने वाले वायु को **प्राण** कहते है'[2] इस परिभाषा के अनुसार यद्यपि प्राण एक ही है किन्तु हृदय आदि अनेक स्थानो मे अवस्थित होने तथा विविध कार्य होने से उसके निम्नलिखित पाच भेद माने जाते है प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान[3]। इनमे **प्राण** हृदय मे स्थित रहता है, मुख और नासिका उसके प्रवेश और निर्गमन के मार्ग है। प्राण फेफडे मे पहुच कर रक्त मे ओपजन पहुचाते हुए प्रत्येक प्राणी के जीवन का हेतु है । **अपान** गुदा मे स्थित रहता है, तथा मल आदि को शरीर से बाहर निकालने का कार्य सम्पन्न करता है। **समान** नाभिमण्डल मे स्थित वायु को कहते है, खाये हुए भोजन का पाचन इसका कार्य है। कण्ठ प्रदेश मे स्थित प्राण (वायु) का **उदान** कहते है। वर्णो का उच्चारण, तथा भोजन आदि पदार्थों को मुख से उदर तक प्रेषित करना, इसके कार्य है । सम्पूर्ण शरीर मे व्यापक रहने वाले वायु का **व्यान** कहते है शरीर की प्रत्येक नस नाडियो मे रक्त सचार करना इसका कार्य है ।[4] इनके अतिरिक्त पाच अन्य प्राणो का उल्लेख परम्परागत ग्रन्थो मे मिलता है वे है **नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त** और **धनञ्जय**, किन्तु न्याय शास्त्र के ग्रन्थो मे इनका कही विवेचन नही मिलता।

वायु मे **स्पर्श, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग विभाग, परत्व अपरत्व,** और **वेग** ये नौ गुण विद्यमान है ।[5] वायु मे रूप की सत्ता नही है इसलिए

१ कारिकावली पृ० १८६ २ तर्क सग्रह पृ० ३८
३ प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १६ ४ प्रशस्तपाद भाष्य विवरण पृ० १६
५. कारिकावली पृ १३६

प्राचीन नैयायिकों के मत मे वायु का प्रत्यक्ष नही होता, क्योंकि उनकी मान्यता है कि बिना **उद्भूत-रूप** के किसी द्रव्य का प्रत्यक्ष सभव नही है। इनके अनुसार वायु के ज्ञान के लिए निम्नलिखित प्रकार से अनुमान करना चाहिए 'वायु के चलने पर प्रतीत होने वाला, शीत एव उष्ण स्पर्श से भिन्न स्पर्श किसी द्रव्य मे आश्रित है गुण होने से, जैसे रूप गुण सदा द्रव्य आश्रित रहता है, अत यह स्पर्श भी द्रव्याश्रित ही है। इसे पृथिवी म आश्रित नही कह सकते, क्योंकि इस स्पर्श के साथ रूप नही है। पार्थिव उद्भूतस्पर्श जहा भी रहेगा वहा पार्थिव रूप भी प्रगट रहता ही है। इसे जलीय या तैजस स्पर्श भी नही कह सकते, क्योंकि यह स्पर्श शीत एव उष्ण नही है। इसे आकाश काल आदि द्रव्यों मे आश्रित नही मान सकते, क्योंकि वे विभु द्रव्य है उनमे आश्रित होने पर स्पर्श भी विभु होता, अत परिशेषात् इस स्पर्श का आश्रय वायु को ही मानना होगा।'[1] उपर्युक्त प्रकार से वायु का अनुमान करने के अनन्तर उन प्राचीन नैयायिकों ने अनुमान प्रक्रिया द्वारा ही वायु को प्रत्यक्ष सिद्ध करने का प्रयत्न किया। वह अनुमान प्रक्रिया निम्नलिखित है —**वायु प्रत्यक्ष है, प्रत्यक्ष होने वाले स्पर्श का आश्रय होने से, जो-जो द्रव्य प्रत्यक्षस्पर्श वाले हैं वे सभी प्रत्यक्ष है, जैसे पृथिवी आदि, उसी भाति प्रत्यक्षस्पर्श का आश्रय वायु भी है, अतः वायु प्रत्यक्ष है।** किन्तु यह न्याय वाक्य उपाधि विशिष्ट होने से **व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास** युक्त होगा। व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास उसे कहते है जिस के साथ एक धर्म विशेष ऐसा विद्यमान हो जो साध्य के साथ सदा विद्यमान रहे किन्तु हेतु के साथ सर्वत्र न रह सकता हो।[2] प्रस्तुत अनुमान मे प्राचीन नैयायिकों के अनुसार **उद्भूत रूपवत्व** (साध्य) प्रत्यक्ष के साथ तो सदा ही रहता है किन्तु हेतु भूत प्रत्यक्ष स्पर्शाश्रयत्व के साथ नही रह सकता, अत यह हेतु **व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास है**।[4]

वस्तुत प्राचीन नैयायिकों की प्रत्यक्ष परिभाषा बहुत सकीर्ण है, वे केवल उस द्रव्य को ही प्रत्यक्ष मानते है जिसका **चाक्षुष प्रत्यक्ष** होता है। इसलिए उनके अनुसार जो भी द्रव्य प्रत्यक्ष का विषय हो उसमे उद्भूतरूपवत्व अवश्य होना चाहिए। 'यह उद्भूतरूपवत्व जहा नही है उस द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष नही हो सकता अत वह प्रत्यक्ष नही है' यह सिद्धान्त मानने पर इस हेतु मे '**उद्भूतरूपवत्व** उपाधि ही विद्यमान है', यह मानना होगा।

---

१ उपस्कार भाष्य २ १. १६।
२ उपस्कार भाष्य (पूर्व पक्ष)। पृ ५५।
३ तर्क सग्रह पृ० ११४। ४ वही पृ० ११४।

नव्य नैयायिक विश्वनाथ, एव शकर धूर्जटि आदि बाह्यद्रव्य प्रत्यक्ष के प्रति तीन **असाधारण कारण** (कारण) मानते है चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति **उद्भूत रूप,** स्पार्शन प्रत्यक्ष के प्रति **उद्भूत स्पर्श**, तथा बहिरिन्द्रियो द्वारा किया जाने वाले प्रत्यक्ष मात्र के प्रति आत्मा मे विद्यमान विशेष गुण एव शब्द से भिन्न विशेष गुण ।[1] इस प्रकार नव्य नैयायिको के अनुसार उद्भूत स्पर्श युक्त वायु का प्रत्यक्ष होगा ही ।

ऊपर की पक्तियो मे लिखा गया है कि प्राचीन नैयायिक वायु की स्थिति अनुमान द्वारा सिद्ध कहते है, किन्तु वर्त्तमान वैज्ञानिक युग मे इस अनुमान की आवश्यकता नही रह गयी है । क्योकि विज्ञान के अनुसार तीन प्रकार के द्रव्यों की स्थिति निश्चित की जा चुकी है (१) ठोस (solid) (२) द्रव (Flued) (३) गैस (gaseus), इस विभाजन के अनुसार पृथिवी ठोस है, जल द्रव है, और वायु गैस रूप है । ये तो प्रत्यक्षत. स्वय सिद्ध है । अब प्रश्न केवल तेज का रह जाता है, इसे इन तीनो मे कहा रखा जाये ? ठोस द्रव्याश्रित होने के कारण इसे पृथिवी मे रखना चाहिए किन्तु नैयायिक इसे उष्ण स्पर्श तथा भास्वरशुक्ल रूप के कारण पृथक् मानते है, वैज्ञानिक इस उष्ण स्पर्श और भास्वर शुक्ल रूप को रासायनिक प्रक्रिया का ही परिणाम मानता है । तेज को पृथक् द्रव्य नही । विज्ञान और दर्शन के बीच एक द्रव्य के विषय मे जो मतभेद है उसका कारण सम्भवत यह है कि भारतीय दर्शन (न्याय) के विकास के समय 'उष्णता और भास्वर शुक्ल गुण की उत्पत्ति रासानियक प्रक्रिया से हो सकती है' इस बात का ज्ञान भारतीय दार्शनिको को न था, इसीलिए उन्होने तेज को पृथक् द्रव्य स्वीकार किया था ।

सृष्टि-उत्पत्ति क्रम –

नैयायिको के अनुसार अब तक वर्णित द्रव्यो पृथिवी, जल, अग्नि और वायु के परमाणुओ के द्वारा ही सृष्टि का निर्माण हुआ करता है । उसकी प्रक्रिया यह है कि 'ईश्वर की इच्छा से परमाणुओ मे गति प्रारम्भ होती है एव गतिशील दो परमाणुओ मे सयोग होता है, इन सयुक्त परमाणुद्वय से द्व्यणुक का जन्म होता है । पुन तीन द्व्यणुको के सयोग से **त्रसरेणु** का जन्म होता है, इसी त्रसरेणु को **त्र्यणुक** या **त्रुटि** कहते हैं । इन चार त्रसरेणुओ के सयोग से **चतुरणुक** की उत्पत्ति होती है, इसी क्रम से **महती पृथिवी** आदि जन्म लेते हैं । आचार्य प्रशस्त पाद इसी प्रक्रिया से सर्व प्रथम वायु की उत्पत्ति,

१ (क) मुक्तावली पृ० २४३ । (ख) सिद्धान्त चन्द्रिका ।

पुनः जल की तदनन्तर पृथिवी की, इस के अनन्तर उस महोदधि मे अग्नि की उत्पत्ति होती है'[1] ऐसा मानते है।

विनाश क्रमः --

विनाश क्रम मे नव्य तथा प्राचीन नैयायिको मे मतभेद है—प्राचीन नैयायिको के अनुसार सर्वप्रथम द्वयणुक के समवायिकारण परमाणुद्वय मे विभाग अथवा द्वयणुक के असमवायिकारण सयोग का नाश होने से परमाणु द्वय के सयोग का नाश होता है। उसके बाद त्रसरेणु के समवायिकारण द्वयणुको मे नाश होने से त्रसरेणु का विनाश हो जाता है, इस प्रकार जिस क्रम से उत्पत्ति होती है उसी क्रम से कारणनाश पूर्वक कार्यनाश होता है।

नव्य नैयायिक द्वयणुक के नाश के लिए असमवायिकारण का नाश तथा शेष त्र्यसरेणु आदि के नाश के लिए समवायिकारण का नाश मानने मे गौरव का दर्शन कर, केवल असमवायिकारण (समवायि कारण मे विद्यमान सयोग) के नाश को ही विनाश के प्रति हेतु मानकर विनाश कि प्रक्रिया अन्तिम कार्य से प्रारम्भ करते हैं। वेदान्त मे भी नव्य न्याय स्वीकृत प्रक्रिया को ही स्वीकार किया गया है। शकराचार्य ने तो प्राचीन न्याय की प्रक्रिया का अच्छा परिहास किया है वे लिखते है कि 'प्राचीन नैयायिकों के विनाश क्रम मे द्वयणुक के विनाश के बाद महापृथिवी के विनाश तक कुछ क्षणो का समय तो अवश्य लगेगा ही, उस मध्यकाल मे कार्य बिना समवायिकारण के ही स्थित रहेगा। यदि कोई यह कहे कि उस समय कार्य अवान्तर समवायिकारण (परमाणुओ) पर आश्रित रहेगा, तो वह ठीक नही है क्योंकि महाकार्य से परमाणुओ का साक्षात्सम्बन्ध ही नही है। घट का परमाणुओ से सम्बन्ध द्वयणुक आदि की परम्परा से है।'[2] शकराचार्य की इस मान्यता को समझने के लिए एक लौकिक उदाहरण पर्याप्त होगा प्राचीन नैयायिको के अनुसार नीव दीवाल और छत के क्रम से बने हुए भवन के विनाश के लिए सर्व प्रथम नीव गिरायगे, पुन दीवाल और फिर छत। इस क्रम मे प्राचीन नैयायिको का भवन एक क्षण बिना नीव के रह सकेगा, तथा नीव के विनाश के बाद भी दो क्षण छत स्थिर बनी रहेगी। सृष्टि विनाश क्रम की वेदान्त दर्शन सम्मत नव्य नैयायिको की प्रक्रिया वस्तुत विचारणीय है. लोक मे एक वृक्ष विनाश

---

१ प्रशस्तपाद भाष्य पृ २१-२२।

२. ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य-२ ३. १६

(वृक्ष को काटने) की प्रक्रिया ऊपर से प्रारम्भ न करके यथा सम्भव नीचे से ही प्रारम्भ की जाती है, चिकित्सा के प्रसङ्ग मे भी रोग सम्बन्धी उपद्रवो की शान्ति के उपाय न करके रोग के मूल को ही दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। प्रज्वलित अग्नि को शान्त करने के लिए ज्वाला (लपटो) को शान्त करने का प्रयत्न न करके अग्नि इन्धन के सयोग के नाश का ही प्रयत्न किया जाता है। इसी प्रकार मूल भूत कार्य द्व्यणुक के कारण परमाणुद्वय के सयोग नाश की प्राचीन नैयायिको की कल्पना अनुचित नही है ।

प्रलय:—

नैयायिक प्रलय दो प्रकार का मानते है, **अवान्तर प्रलय** तथा **महाप्रलय**। प्रलय सिद्धि के लिए वे **'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्'**[1] इस वैदिक श्रुति को उपस्थित करते है,[2] किन्तु इस श्रुति के द्वारा **अवान्तर प्रलय** की सिद्धि मे कोई सहायता नही मिलती, **महाप्रलय** का समर्थन अवश्य मिलता है। क्योकि इस श्रुति मे 'यथा पूर्व सूर्य और चन्द्र की रचना की बात कही गयी है, अवान्तर प्रलय मे सूर्य चन्द्र द्युलोक आदि का विनाश नही स्वीकार किया जाता, अन्यथा महा प्रलय और अवान्तर प्रलय मे अन्तर ही क्या रह जाएगा। अत एव इस श्रुति मे महाप्रलय के बाद सृष्टि की पुन रचना का कथन है यह मानना ही अधिक उचित होगा।

परमाणु वाद

भारतीय दर्शन, विशेषत न्याय वैशेषिक, मे 'परमाणु सिद्धान्त' एक मौलिक सिद्धान्त माना जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार पृथिवी, जल, अग्नि और वायु अनित्य तथा परमाणु जन्य है, इसी दृष्टि से वैशेषिक के नव्य अथवा प्राचीन दोनो ही ग्रन्थो मे पृथिवी आदि का द्विविध बताते हुए उनका नित्य और अनित्य के रूप मे विभाजन किया जाता है। कार्य पृथवी का विभाग पूर्वक विनाश होने पर चारो के समान रूप से ही अन्तिम अवयव के रूप मे **परमाणु** ही शेष रहते है। परमाणुओ की सिद्धि के लिए नैयायिको ने निम्नलिखित अनुमान प्रक्रिया का आश्रय लिया है—'प्रत्येक **चाक्षुषद्रव्य अथवा कार्य द्रव्य सावयव है, जो सावयव नहीं है, वह कार्यद्रव्य** या चाक्षुप नहीं है, **जैसे वस्त्र। तथा द्व्यणुक भी सावयव है क्योकि** वह महत्कार्य का आरम्भक है,'[3] वह अवयव

१. ऋग्वेद १० १९० ३।   २ तर्क दीपिका पृ० ४५।

३ (क) उपस्कार भाष्य ४ १. २   (ख) न्याय मुक्तावली पृ० १५५

(**अन्तिम अवयव**) ही परमाणु है। चूं कि परमाणु मे पुन अवयव की कल्पना करने मे अनवस्था दोष होगा, अत परमाणु मे अवयव की कल्पना उचित नही है।[1] इनमे द्व्यणुक की सख्या से त्रसरेणु मे **महत्परिमाण** आरम्भ होता है, तथा उस महत्परिमाण से महापृथिवी आदि का परिमाण उत्पन्न होता है। द्व्यणुक के परिमाण को भी **महत्परिमाण** कह सकते है, किन्तु उस परिमाण की उत्पत्ति मे परमाणु परिमाण कारण नही, अपितु परमाणुगत द्वित्व सख्या द्व्यणुक परिमाण की जनक है। परमाणु के परिमाणु से किसी परिमाण की उत्पत्ति नैयायिको को अभीष्ट नही है। उनका कथन है कि परमाणु के परिमाण मे किसी द्रव्य के परिमाण की उत्पत्ति मानने पर जैसे महत्परिमाण से महत्तर परिमाण की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार अणु परिमाण से अणुतर परिमाण की ही उत्पत्ति होगी, ऐसा स्थिति मे द्व्यणुक मे महत्परिमाण के स्थान पर अणुतर परिमाण को स्वीकार करना होगा।[2] इसीलिए आचार्य प्रशस्तपाद ने '**कारणत्व पारिमाण्डल्य (परमाणु परिमाण) से भिन्न मे हो है**' ऐसा स्वीकार किया है।[3] यहा यह स्मरणीय है कि जहा कार्य के प्रति **सयोग असमवायिकारण है** वहा कारण परिमाण से उत्पन्न कार्य परिमाण कारण की अपेक्षा उत्कृष्टतर अर्थात् महत्तर होगा, किन्तु जहा कार्य के प्रति **विभाग असमवायिकारण है** वहा कारण के परिमाण से उत्पन्न कार्य का परिमाण उत्कृष्टतर न होकर हीनतर होगा।

यहा एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या द्व्यणुक मे विद्यमान अणुत्व परमाणु मे विद्यमान अणुत्व से भिन्न है ? दोनो परिमाणो को समान तो नही कहा जा सकता है क्योकि कारण और कार्य के परिमाण मे अन्तर होना स्वाभाविक नही है। नैयायिको के अनुसार दोनो परिमाणो मे अन्तर है। उनके अनुसार द्व्यणुक परिमाण को **अणुपरिमाण** तथा परमाणु परिमाण को **पारिमाण्डल्य** कहते है, किन्तु यह तो शाब्दिक उत्तर हुआ। क्योकि अणुपरिमाण और पारिमाण्डल्य मे अन्तर अस्पष्ट ही रहा। इसके स्पष्टीकरण के लिए द्व्यणुक के अणुपरिमाण की उत्पत्ति को ही देखना होगा। जैसा कि ऊपर की पक्तियो मे स्पष्ट किया जा चुका है कि परिमाण अपने समान जातीय उत्कृष्ट परिमाण को ही उत्पन्न करता है फलत परमाणु द्रय

१ न्याय सिद्धान्त मुक्तावली पृ० १०५
२ वही पृ० १५५
३ प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ६

के सयोग से उत्पन्न द्वयणुक का परिमाण यदि परमाणु के परिमाण से उत्पन्न माना जाये, तो परमाणु के अणु परिमाण से द्वयणुक में अणुतर परिमाण उत्पन्न होगा किन्तु क्या द्वयणुक परिमाण को अणुतर मानना उचित होगा ? सभवत नही इस कठिनाई से बचने के लिए नैयायिको की परम्परा मे यह मान लिया गया है कि द्वयणुक का परिमाण दो परमाणुओ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसी प्रकार त्रसरेणु का परिमाण भी तीन द्वयणुक अथवा छ परमाणुओं के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है अर्थात् द्वयणुक का परिमाण परमाणुगत सख्या से तथा त्रसरेणु का परिमाण द्वयणुक गत सख्या से उत्पन्न हैं। इसीलिए नैयायिको ने परमाण की उत्पत्ति के तीन कारण स्वीकार किये है **परिमाण, कारण की सख्या एव प्रचय**। महर्षि कणाद ने **"कारण-बहुत्वाच्च'** सूत्र द्वारा परिमाण के इन तीनों कारणो की ओर सकेत करते हुए **बहुत्व** (कारण गत सख्या) पर बल दिया है। इस प्रकार द्वयणुक तथा त्रसरेणु के परिमाण मे **कारण बहुत्व** ही कारण है, जबकि त्रसरेणु से आगे **कारणपरिमाण** तथा **प्रचय** को भी कारण स्वीकार कर सकते है। इस प्रकार परमाणु का परिमाण **पारिमाण्डल्य, द्वयणुक का** परिमाण **दो परमाणु परिमाण** एव त्रसरेणु का परिमाण **तीन द्वयणुक-परिमाण** अथवा छ परमाणु परिमाण है जो कि महत्परिमाण कहा जाता है। इस महत्परिमाण की उत्पत्ति मे कारण गत सख्या कारण है। समान सख्या वाले तथा समान परिमाण वाले कारणो से उत्पन्न कार्यों मे जब असमान परिमाण उत्पन्न होता है तो वहा उस असमानता का कारण **'प्रचय** (सयोग विशेष) हुआ करता है।

समान प्रचय की स्थिति मे परिमाण भेद का कारण प्रचय न होकर कारणगत सख्या भेद होता है। इसीलिए विभाग द्वारा कार्य नाश करने पर कारणो मे (कार्य के खण्डो मे) सख्या भेद दृष्टिगत होता है, उदाहरणार्थ समान प्रचय वाले किन्तु असमान परिमाण वाले पत्थर के परमाणुओं में परस्पर समान परिमाण ही होता है अत यदि समान खण्ड करें तो दोनों पत्थरो के खण्डो मे सख्यागत भेद होगा। इससे सिद्ध होता है कि उन दोनों पत्थरों के परिमाण के निर्माण में प्रचय भेद कारण न होकर समवायिकारण-गत संख्या भेद कारण है।

इस प्रकार हम निश्चयपूर्वक यह स्वीकार कर सकते हैं कि किसी भी कार्य का परिमाण कारण के **संख्या, परिमाण एव प्रचय पर आश्रित है।**

---

१. वैशेषिक सूत्र ७ १ ९

इनमे भी सख्या सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, कारण परिमाण तथा प्रचय कार्य-परिमाण के प्रति गौण है। सभवत इसीलिए वैशेषिक सूत्रो के रचयिता कणाद ने परिमाण तथा प्रचय की उपेक्षा करते हुए 'कारण बहुत्वाच्च' सूत्र मे बहुत्व-का ही शब्दत उल्लेख किया है शेष दोनो का 'च' शब्द द्वारा सकेत दिया है।

परमाणु की सिद्धि के लिए एक अन्य युक्ति डा० रोअर (Dr. Roer) ने दी है कि यदि हम नित्यपरमाणुओ को स्वीकार नही करते तो उसका तात्पर्य होता है कि हम समवायिकारण के सम्बन्ध को भी स्वीकार नही करते। जैसे हम महत् से क्रमश महत्तर के विकास मे परममहत् आकाश, काल, दिशा अथवा आत्मा तक पहुँचते है उसी प्रकार कारणो मे लघुतम कारण को भी हमे स्वीकार करना चाहिए। यह लघुतम कारण ही परमाणु है, जो स्वत सिद्ध हो जाता है।[1]

भारत एवं ग्रीक मे परमाणुवाद :—

यह परमाणुवाद ही वैशेषिको को अन्य दार्शनिक सम्प्रदायो से अलग करता है। अन्य दार्शनिक सम्प्रदायो ने भी आगे चलकर इस परमाणुवाद का अनुगमन किया है। ग्रीक दार्शनिको द्वारा स्वीकृत परमाणुवाद भी इससे अत्यधिक निकट है। ल्यूसिपस (Leucippus) ने प्रत्येक प्रकार के शरीर निर्माण के लिए कारणभूत अनेक कणो की कल्पना की है, जो कि परस्पर भिन्न हैं एव खाली स्थान मे बिखरे रहते है। पाश्चात्य-दार्शनिको मे एपिकुरस (Epicurus) के अनुयायियो ने उन कणो का सर्वप्रथम परमाणु (Molecule Atom) का नाम प्रदान किया था। उनके अनुसार भी यह विश्व परस्पर भिन्न, अविभाज्य, एव नित्य परमाणुरूप समवायिकारण से उत्पन्न है। इम्पीडोकिल (Empedocle) तथा ऐनाक्सागोरस (Anaxagoras) ने मन और आत्मा को भी परमाणुजन्य ही स्वीकार किया है, जबकि महर्षि कणाद ने आत्मा को परमाणुजन्य नही माना है, उनके अनुसार मन अवश्य अणु है। ल्यूसिपस (Leucippus) तथा डेमोक्रेटस (Democritus) ने आत्मा और मन दोनो को ही परमाणुजन्य नही माना है। डाल्टन (Dalton) का परमाणुवाद तो कणाद के परमाणुवाद मे सर्वथा अभिन्न है, डाल्टन के इस परमाणुवाद पर ही समस्त रसायन विज्ञान आधारित है। यह परमाणुवाद सामान्यत बहुत सीधा और सुलझा हुआ प्रतीत होता है, किन्तु

1. Roers Translation of Bhaṣa Paricched (Bibliotheca Indica) P. 16 note

विचार करने पर इतना ही उलझनपूर्ण भी है। परन्तु यह अन्य दार्शनिक विवेचन के लिए प्रेरणा प्रदान करता है। शंकराचार्य एवं अन्यवेदान्तियों द्वारा इसकी कठोर आलोचना के कारण यद्यपि इसका (परमाणुवाद का) महत्व कम हो गया है, किन्तु फिर भी इसके आविष्कारक के श्रेय में किसी प्रकार भी न्यूनता नहीं आती।[1]

आकाश

कणाद ने द्रव्यों मे होने वाले निष्क्रमण और प्रवेशन के आधार पर आकाश की सिद्धि की है, साथ ही शब्द को भी आकाश का गुण सिद्ध किया है।[2] प्रशस्तपाद ने आकाश को सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नही समझी। उन्होंने जातिघटित लक्षण करने की परम्परा के कारण सर्वप्रथम आकाश काल दिशाओं मे जाति का निषेध किया है, और परिचय की दृष्टि से उसमे (आकाश मे) विद्यमान गुणों शब्द, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग और विभाग की सत्ता का सकेत किया है।[3] भाषापरिच्छेदकार विश्वनाथ ने 'आकाश में रहने वाले गुणों मे शब्द ही एक मात्र वैशेषिक गुण है'[4] ऐसा कहते हुए 'शब्द आकाश का लक्षण होने योग्य है' इस बात का सकेत दिया है। परवर्ती नैयायिक अन्नभट्ट आदि शब्द को ही आधार बनाकर आकाश का लक्षण करते भी है।[5] अन्नभट्ट कृत आकाश लक्षण मे गुण पद के प्रयोग के सम्बन्ध मे कारण खोजते हुए वाक्यवृत्तिकार मेरुशास्त्री तथा सिद्धान्तचन्द्रोदयकार श्रीकृष्ण धूर्जटि ने कल्पना की है कि 'मीमासा मे शब्द को द्रव्य माना गया है, किन्तु शब्द द्रव्य न होकर गुण है, इस प्रतिपादन के लिए यहा गुण शब्द प्रयुक्त है।' किन्तु यह उचित प्रतीत नही होता, शब्द का द्रव्यत्व निषेध तो 'शब्द' का गुण मे पाठ करने से ही हो जाता है। नीलकण्ठशास्त्री तथा न्यायबोधिनीकार गोवर्द्धन पण्डित ने 'विशेष गुणो मे से 'शब्द' एक मात्र आकाश मे ही रहता है' इसकी प्रतीति के लिए 'गुण' पद का प्रयोग माना है।

यह शब्द विशेषगुण ही आकाश को अन्य द्रव्यो से पृथक् करता है। सर्वदर्शन सग्रह मे आकाश की निम्नलिखित परिभाषा दी गयी है—'संयोग से

1. M. R. Bodas : Notes on Tarkasangraha.

२. वैशेषिक २. १ २२, २४-२७। ३. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० २३-२४

४. भाषा परिच्छेद का० ४४ ५. तर्क संग्रह पृ० ४५

उत्पन्न न होने वाले विशेष गुणो का आश्रय नित्य द्रव्य आकाश है'[1] यह लक्षण भी आकाश को अन्य द्रव्यो से पृथक् करने सक्षम है।

पाश्चात्य दर्शन मे आकाश के स्थान पर **ईथर** (ether) नामक द्रव्य स्वीकार किया गया है, किन्तु पाश्चात्य दर्शनिकों के अनुसार ईथर प्रकाश और उष्णता का आश्रय है, शब्द का नहीं। उनके अनुसार शब्द वायु का गुण है।

नैयायिको का आकाश एक, विभु तथा नित्य है। एक आकाश मे भी घटाकाश मठाकाश (घडा और घर के अन्दर का आकाश) आदि व्यवहार उपाधि भेद से होता है। प्रत्येक स्थान मे शब्द की उपलब्धि होने से उसे **विभु माना** गया है। विभु होने के कारण ही आकाश **अतीन्द्रिय** एव **अनुमेय है**। आकाश की सिद्धि के लिए अनुमान प्रक्रिया निम्नलिखित रूप मे हो सकती है 'शब्द पृथिवी, जल, तेज, वायु, काल, दिशा, आत्मा और मन से भिन्न द्रव्य मे आश्रित है, क्योकि यह समवायिकारण से उत्पन्न होता है किन्तु इन आठ द्रव्यो मे आश्रित नही रहता। जैसे रूप आदि द्रव्य क आश्रित है अन्य क आश्रित नही।'[2] ऊपर की पक्तियो मे आकाश को विभु द्रव्य कहा गया है, नैयायिको के अनुसार 'समस्त मूर्त्त द्रव्यो से सयुक्त रहना **विभुत्व** कहाता है।'[3] मूर्त्त का तात्पर्य है 'परिच्छिन्न परिमाण वाला होना अथवा क्रिया युक्त द्रव्य होना।' चूंकि असीमित परिमाण वाले द्रव्य मे क्रिया नही रह सकती, अत दोनो लक्षणो मे कोई मौलिक अन्तर नही है। मूर्त्त द्रव्य पाच है—**पृथिवी, जल, तेजस, वायु और मन'**।[4] अब तक जिन द्रव्यों का वर्णन किया गया है उन द्रव्यो को भूत भी कहते है, इन पाच भूतो मे आकाश के अतिरिक्त सभी भूत **मूर्त्त** है। मूर्त्त द्रव्यो मे '**मनस्**' के अतिरिक्त सभी **भूत** है। ये भूत ही सकल विश्व के उपादान कारण है। विशेष गुणो के आश्रय द्रव्यो म केवल आत्मा ही एक ऐसा द्रव्य है जो न **भूत** है और न **मूर्त्त** ही। जबकि प्रारम्भिक चार **भूत और मूर्त्त** दोनो है।

काल

दैशिक से भिन्न परत्व, अपरत्व, युगपद्, अयुगपद्, चिर एव क्षिप्र आदि प्रती-

१. सर्व दर्शन सग्रह पृ० ८५
२. प्रशस्तपाद विवरण पृ० २४
३. तर्कदीपिका पृ० ४६
४. कारिकावली २५

तियों का असमवायि कारण काल कहा जाता है।[1] परवर्ती नैयायिकों में अन्नभट्ट ने लौकिक व्यवहार परम्परा के आधार पर लक्षण किया है, उनके अनुसार 'अतीत आदि के व्यवहार का कारण काल कहा जाता है'[2] इस लक्षण में कारण का अर्थ असाधारण निमित्तकारण है, उपादान नहीं, 'बचपन बीत गया' (बाल्यमतीतम्) आदि प्रयोगों में उपादानकारणभूत 'अवस्था विशेष' को काल नहीं कहा जाता, और नहीं ही साधारण निमित्तकारण दिशा आदि को ही काल कहा जाता है। लोक व्यवहार पर आधारित इस लक्षण से काल के वास्तविक स्वरूप पर यद्यपि विशेष प्रकाश नहीं पड़ता, किन्तु इससे इतना तो स्पष्ट होता है कि भारतीय दर्शन में व्यावहारिक पक्ष की उपेक्षा नहीं की गयी है।

भाषापरिच्छेदकार विश्वनाथ कृत काल लक्षण इसकी अपेक्षा अधिक उपयुक्त है, उनके अनुसार सभी उत्पन्न होने वाले पदार्थों का कारण तथा समस्त विश्व का आश्रय, परत्व अपरत्व बुद्धि का असाधारण कारण काल ही है।[3] मुक्तावली में विश्वनाथ ने स्वयं इसकी व्याख्या करते हुए लक्षण को प्रशस्तपादकृत लक्षण के अधिक निकट पहुंचा दिया है। उस व्याख्या के अनुसार 'कालिक परत्व अपरत्व आदि बुद्धि का असाधारण निमित्तकारण काल है।'[4] अन्नभट्ट और विश्वनाथ के लक्षण में मौलिक अन्तर केवल यह है कि अन्नभट्ट ने लौकिक व्यवहार को आधार माना है, जबकि विश्वनाथ ने मानसिक प्रतीति को। विश्वनाथ का लक्षण अधिक सूक्ष्म दृष्टि पर आधारित है, यों तो जो प्रतीति का विषय होगा वह व्यवहार का भी विषय होगा, इस दृष्टि से 'प्रतीति' और 'व्यवहार' पर आधारित दोनों लक्षण समान है यह भी कहा जा सकता है। इस समानता के साथ ही दोनों में वैशिष्ट्य भी है, वह यह कि अन्नभट्ट ने काल को व्यवहार का कारण कहा है जो कि निस्सन्देह सर्वग्राह्य है, जबकि विश्वनाथ उसे (परत्वापरत्व) प्रतीति का कारण कहते है, 'इस प्रतीति के प्रति एकमात्र कारण काल है' इसे सर्व सम्मत रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रतीति के प्रति अन्य कारण भी हो सकते हैं फिर इस कारण को एक स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अन्नभट्टकृत काल लक्षण विवाद से

१. (क) वैशेषिक सूत्र २.२.६ (ख) प्रशस्तपाद भाष्य पृ० २९
२. (क) तर्क संग्रह पृ० ४६ (ख) तर्क दीपिका पृ० ४७
३. भाषा परिच्छेद ४५-४६ ४. मुक्तावली पृ० १९७

अधिक परे हैं। समय व्यवहार का कारण किस प्रकार बनता है इस प्रश्न का उत्तर किसी भारतीय अथवा पाश्चात्य दार्शनिक ने देने का कष्ट नही किया है।

साख्य ने काल को स्वतन्त्र द्रव्य या पदार्थ आदि न मानकर उसे आकाश मे समाहित कर लिया है, तथा कुछ नव्य नैयायिको ने काल और दिशा को आत्मा मे समाहित करने का प्रयत्न किया है। काल चूंकि अशरीरी एव अप्रत्यक्ष है, अत उसकी सिद्धि के लिए अनुमान की आवश्यकता होती है, वह अनुमान इस प्रकार का हो सकता है—'अनेक दिनो के अन्तर से उत्पन्न युवक की अपेक्षा वृद्धव्यक्ति मे विद्यमान परत्वबुद्धि या व्यवहार का कोई असमवायि कारण है। यहा रूप इत्यादि कारण नही हो सकते क्योकि रूप-रस और गन्ध वायु मे विद्यमान न होने से ये वायु मे परत्वबुद्धि या परत्व-व्यवहार के कारण नही हो सकेगे। स्पर्श चूंकि उष्ण और शीत भेद से भिन्न प्रकार है, एव वे स्पर्श प्रकार एक द्रव्य मे एक साथ नही रह सकते, अत स्पर्श भी कारण नही हो सकता। अवच्छिन्न परिमाण चूंकि विजातीय गुण का कारण नही होता तथा दिनादि (सूर्य परिस्पन्द) का समानाधिकरण भी वह नही होता, अत उसे भी 'परत्व' प्रतीति या व्यवहार का कारण नही मान सकते। परत्व प्रतीति के लिए कारण सूर्य परिस्पन्द और वस्तु दोनो से सयुक्त होने वाला विभु द्रव्य ही हो सकता है, चूंकि परत्व उत्पन्न करने वाला द्रव्य स्वय से सयुक्त होकर उस समय मे विद्यमान सभी द्रव्यो (वस्तुओ) मे परत्व गुण उत्पन्न करता है, जबकि आकाश स्वसयुक्त समानकालिक सभी भेरी आदि मे शब्द गुण उत्पन्न नही करता, अत आकाश को परत्व का जनक नही मान सकते। विभु आत्मा के सम्बन्ध को भी द्रव्यान्तर मे विद्यमान धर्म की द्रव्यान्तर मे प्रत्यासत्ति का कारण नही मान सकते, अन्यथा विभुत्वेन आत्मा से सयुक्त वाराणसीस्थ उपरञ्जक के द्वारा आत्मा से सयुक्त पाटलिपुत्रस्थ स्फटिक मे उपरञ्जन मानना होगा, अत परिशेषात् इस प्रकार की परत्वापरत्व प्रतीति के असमवायि कारण के रूप मे काल की स्वीकृति अनिवार्य है।'[1]

आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार यद्यपि काल के द्वारा ही क्षण लव निमेष आदि महाप्रलय पर्यन्त समय-सूचक पदो का व्यवहार लोक मे प्रचलित है, किन्तु वास्तविक रूप से काल आकाश के समान एक है और

---

१. वैशेषिक उपस्कार भाष्य २ २. ६.

नित्य है, तथा क्षण आदि व्यवहार औपाधिक है। कुछ नैयायिक क्षण निमेष आदि प्रतीति का वास्तविक मानकर उनके समूह को काल कहना चाहते हैं, किन्तु प्राचीन नैयायिक सम्भवतः बिना किसी सबल प्रमाण के केवल प्रतीति के आधार पर किसी द्रव्य को अथवा उसके प्रकारों को स्वीकार करने को प्रस्तुत न थे। काण्ट (Kant) ने भी सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है कि 'केवल प्रतीति के आधार पर काल और दिशा की वास्तविकता को स्वीकार करना उचित नहीं है, क्योंकि केवल प्रतीति के आधार पर किसी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता, कारण यह है कि प्रतीति तभी संभव है जब कि उसके सम्बन्ध में पूर्व से ही कोई भावना विद्यमान हो।'[1]

दिशा

काल के समान ही दिशा का लक्षण भी प्रतीति और व्यवहार पर आधारित है। सूत्रकार ने 'इससे यह निकट है, इस प्रतीति के कारण को दिशा माना था'।[2] भाष्यकार प्रशस्तपाद ने भी उसीको दूसरे शब्दों में 'पूर्व पर आदि प्रतीति के कारण को दिशा कहा है।'[3] नव्य नैयायिकों में विश्वनाथ ने 'दूर निकट आदि प्रतीति के कारण को दिशा कहा है,[4] तथा अन्नभट्ट ने 'प्राची आदि व्यवहार के हेतु होनेको दिशा का लक्षण' कहा है।[5] जैसाकि काल विवेचन के प्रसंग में कहा जा चुका है 'प्रतीति' पर आधारित लक्षण अधिक सूक्ष्म दृष्टि से उद्भूत है तथा अधिक उपयुक्त भी, व्यवहार चूंकि औपाधिक भेद पर भी आधारित हो सकता है, अतः उसे लक्षण की दृष्टि से अधिक प्रशस्त नहीं कहा जा सकता। सर्वदर्शन संग्रह के अनुसार 'जिसमें कोई विशेष गुण नहीं केवल सामान्य गुण है, जो अणु नहीं किन्तु महत् परिमाण युक्त है तथा काल से भिन्न है, उसे दिशा कहा जाता है।[6] यह लक्षण परम्परा के अनुसार प्रतीति या व्यवहार मात्र पर आधारित नहीं है। विशेषगुण से हीन केवल सामान्य गुण वाले तीन द्रव्य हैं काल, दिशा और मनस्। इनसे मनस् को पृथक् करने के लिए 'महत्परिमाण युक्त' विशेषण तथा काल को पृथक्

1. Kant. Critique of Pure Reason.

२. वैशेषिक २.२.१०

३. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० २८

४. कारिकावली ४६.

५. तर्कसंग्रह पृ० ४७

६. सर्वदर्शन संग्रह पृ० ८५

करने के लिए 'काल से भिन्न' विशेषण दिया गया है। परिशेषात् यह लक्षण दिशा को ही लक्षित करेगा।

दिशा भी काल के समान एक है, साथ ही विभु और नित्य भी है। एक दिशा मे 'प्राची' आदि की प्रतीति उपाधि भेद से होती है। परत्व और अपरत्व दैशिक और कालिक दोनो ही है। नाम की एकता होने पर भी दोनो के आधार भिन्न भिन्न है कालिक परत्व और अपरत्व उत्पत्तिकाल अथवा क्रिया के सम्बन्ध पर आधारित होता है, जबकि दैशिक मूर्त्त सयोग पर।[1] क्योकि अमूर्त्त पदार्थों मे दैशिक परत्व अपरत्व तथा अजन्य (नित्य) पदार्थो मे कालिक परत्व अपरत्व नही होता।

दिशा और काल का अन्तर स्पष्ट करने के लिए शकरमिश्र ने 'नियत उपाधि उन्नायक को काल' तथा 'अनियत उपाधि उन्नायक को दिशा' कहा है।[2] किन्तु शकरमिश्र का यह विश्लेषण ठीक नही कहा जा सकता, क्योकि कालिक परत्व अपरत्व के समान ही दैशिक परत्व अपरत्व भी सदा ही नियत स्थान पर ही आधारित रहता है, यह अवश्य है कि यह दैशिक परत्वा-परत्व सापेक्ष अर्थात् अपेक्षाबुद्धि पर आधारित है। 'यह इससे पूर्व है, 'यह इससे परे है, इत्यादि ज्ञान अपेक्षाबुद्धि पर आश्रित है, किन्तु यह अपेक्षाबुद्धि दैशिक की भांति कालिक परत्वापरत्व के लिए भी आवश्यक है। 'यह इससे वृद्ध (पर) है' 'यह इससे युवा (अपर) है' इत्यादि प्रतीति अपेक्षा बुद्धि के बिना सभव नही है। जैसे स्थान विशेष नियत न रहने पर दैशिक परत्व और अपरत्व अनियत रहता है उसी प्रकार परत्व और अपरत्व के लिए अपेक्षित काल नियत न रहने पर कालिक परत्व और अपरत्व भी अनियत ही रहता है।

आकाश और दिशा—न्यायवैशेषिक मे आकाश एव दिशा को पृथक्-पृथक् द्रव्य स्वीकार किया है। यद्यपि दोनो मे कोई विशेष अन्तर नही है, फिर भी उन्होने आकाश को भूत माना है किन्तु दिशा को भूत नही। इसके अतिरिक्त उनकी मान्यता के अनुसार दोनो मे निम्न लिखित अन्य अन्तर भी है (१) आकाश शब्द का समवायि कारण है, जब कि दिशा किसी का भी

---

१. सिद्धान्त चन्द्रोदय। २. वैशेषिक उपस्कार २. २ १०

समवायि कारण नही है। (२) दिशा प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ का साधारण कारण है, जब कि आकाश किसी पदार्थ का साधारण कारण नही है। (३) आकाश एक भूत द्रव्य है, जब कि दिशा केवल मानसिक प्रतीति मात्र है। (४) आकाश शब्द के कारण विषय की भांति प्रतीत होता है जबकि दिशा की केवल आत्मगत अनुभूति होती है। इस प्रकार नैयायिकों के अनुसार दोनो सर्वथा पृथक्-पृथक् द्रव्य है, किन्तु यह सब भेद तो केवल तब तक है, जब तक दोनो को पृथक् स्वीकार किया गया है। यदि इनमें से किसी एक को पृथक् कर दे अर्थात् न माने तो क्या कार्य नही चल सकता ? चूकि दिशा की स्वीकृति किसी सबल प्रमाण पर आधारित न होकर प्रतीति या व्यवहार पर आधारित है, अत. उक्त प्रश्न का समाधान कठिन नही है। ऐसा प्रतीति होता है कि नैयायिकों को यह अभीष्ट नही है कि किसी द्रव्य को समस्त कार्य द्रव्यों का साधारण कारण स्वीकार करते हुए, उसे ही एक कार्य विशेष का उपादान कारण भी स्वीकार करे। उनके अनुसार 'आकाश सभी कार्यों का साधारण कारण माना जाए साथ ही वह शब्द का समवायि कारण भी हो' यह उचित नही है, सम्भवत इसीलिए नैयायिकों ने कारण की परिभाषा 'अन्यथा सिद्ध से भिन्न'[1] विशेषण जोडते हुए की है, तथा पाच अन्यथासिद्धो मे 'अन्य कार्य के प्रति जिसका पूर्व होना अर्थात् कारणत्व सिद्ध है, उसे उस कार्य के प्रति (तृतीय) अन्यथासिद्ध स्वीकार किया है।[2] सम्भवत न्यायसिद्धान्त के विकास काल मे विश्व के कारण के रूप मे पृथ्वी आदि की भांति ही आकाश जनमानस मे स्वीकृत हो चुका था, अतएव नैयायिकों के समक्ष उसे समवायिकारण अथवा पाच भूतो मे अन्यतम स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नही रह गया था, फलत उन्होने प्रत्येक कार्य पदार्थ के कारण तथा परत्वापरत्व के असाधारण कारण के रूप मे दिशा को पृथक् द्रव्य के रूप मे स्वीकार करना ही अधिक उचित समझा है।

आत्मा

आठवा द्रव्य आत्मा है। न्याय सूत्रकार गौतम ने 'इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान के आश्रय को आत्मा कहा है।[3] कणाद ने इच्छा, द्वेष,

---

१. कारिकावली १६

२. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पृ० ११८

३ न्यायसूत्र १.१.६

प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान आदि मनोगत अतीन्द्रिय विकार के साथ प्राण अपान निमेष उन्मेष तथा जीवन को भी आत्मा के लिङ्ग के रूप मे स्वीकार किया है।[1] उपर्युक्त वचनो मे इच्छा द्वेष आदि गुणो को आत्मा का लिङ्ग कहा है। यहां लिङ्ग का तात्पर्य आत्मा की स्वीकृति के लिए अपेक्षित अनुमान के हेतु से है, अर्थात् इन गुणो मे किसी को भी हेतु मानकर आत्मा की सिद्धि की जा सकती है। उपर्युक्त गुणो को लक्षण मानने पर सुख और दुःख जैसे परस्पर विरोधी गुणो मे से एक के अनिवार्य अभाव की स्थिति मे लक्षण कभी भी सगत न हो सकेगा।

आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार आत्मत्व विशिष्ट को आत्मा कहते है।[2] किन्तु यह लक्षण शाब्दिक है, क्योकि आत्मा के ज्ञान पर ही आत्मत्व का ज्ञान आश्रित है। परवर्ती नैयायिको मे विश्वनाथ ने इन्द्रिय एव शरीर आदि के अधिष्ठाता को तथा अन्नभट्ट आदि ने ज्ञान के आश्रय को आत्मा कहा है।[3] समवाय सम्बन्ध से ज्ञान का आश्रय केवल आत्मा है। यद्यपि दैशिक और कालिक सम्बन्ध से दिशा और काल भी ज्ञान के आश्रय है, किन्तु यहा (नैयायिको की दृष्टि मे) समवाय सम्बन्ध से ही ज्ञान का आश्रय होना विवक्षित है। नैयायिको के अनुसार आत्मा दो प्रकार की है—ईश्वर और जीव, इनमे ईश्वर एक है, जीव अनेक, ईश्वर सर्वज्ञ है, जीव अल्पज्ञ, विभु और नित्य दोनो ही है।[4] दोनो ही अप्रत्यक्ष अर्थात् अनुमेय है। यद्यपि एकता और अनेकता आदि कुछ मौलिक भेद के कारण आत्मा और ईश्वर को पृथक् द्रव्य मानने के तर्क दिये जा सकते है, किन्तु नैयायिको ने ज्ञानाश्रय के रूप मे दोनो को एक द्रव्य के रूप मे ही स्वीकार किया है।[5] चूकि आत्मा प्रत्यक्ष नही है अत उसकी सिद्धि नैयायिक निम्नलिखित अनुमान प्रक्रिया से कहते है 'इन्द्रियो की क्रियाए कर्तायुक्त है, क्योकि वे कारण की क्रियाए है, जैसे वास्य (वसुला या कुल्हाडो) आदि साधनो की क्रिया कर्ता से युक्त होती है।[6] कणाद ने भी कहा है कि 'ज्ञान की साधन भूत इन्द्रिया एव ज्ञान के विषय की प्रसिद्धि ही इन दोनो से भिन्न आत्मा की सिद्धि मे प्रमाण है,'[7] आत्मा की सिद्धि के अनन्तर नैयायिक परमात्मा की

१ वैशेषिक सूत्र ३ २ ४
२ प्रशस्तपादभाष्य पृ० ३०
३ कारिकावली ४७।
४ तर्कसंग्रह पृ० ४८
५. मुक्तावली पृ० २०७
६. वही पृ० २०६
७. वैशेषिक सूत्र ३.१.२

सिद्धि के लिए भी अनुमान का ही आश्रय लेते हैं, वह अनुमान प्रकार निम्न लिखित हैं 'पृथिवी अंकुर आदि (प्रसिद्ध) कार्य कर्त्ता से उत्पन्न है, क्योंकि वे घडे आदि के समान कार्य है'[1]। उनके अनुसार जीवात्मा परमात्मा से पृथक् है और प्रत्येक शरीर मे भिन्न है, प्रत्येक व्यक्ति मे विद्यमान जीवात्मा के लिए अनुमान इस प्रकार किया जा सकता है - 'बुद्धि आदि गुण पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा और मन से भिन्न किसी द्रव्य विशेष मे आश्रित हैं, क्योंकि ये गुण है और गुणो का द्रव्याश्रित होना अनिवार्य है। चूंकि बुद्धि आदि गुण है, और इन आठ द्रव्यो पर आश्रित नही है, जैसे कि रूप गुण है, और वह पृथिवी आदि द्रव्यो पर आश्रित रहता है, उसी प्रकार बुद्धि आदि भी द्रव्याश्रित अवश्य है।'[1]

आत्मा अनन्त है अत इनमे आत्मत्व जाति मानकर इन्हे एक लक्षण के अन्तर्गत किया जाता है। क्यो क जाति गत लक्षण ही नैयायिको को सर्वाधिक प्रिय है, अत प्रशस्तपाद और उनके उत्तरवर्त्तियो ने आत्मा का जातिगत लक्षण ही किया है, जिसकी चर्चा इसी प्रकरण मे की जा चुकी है। नैयायिको के अनुसार यह आत्मत्व जाति आत्मा और परमात्मा मे समान रूप से ही विद्यमान रहती है, यद्यपि परमात्मा या ईश्वर सर्वशक्तिमान्, एक, सकल सृष्टि का कर्त्ता और अधिष्ठाता, आनन्दमय, नित्य, शुद्ध बुद्ध, और मुक्त स्वभाव है, एव जीव इससे भिन्न अल्पशक्तिमान्, अनेक, असर्वज्ञ (अल्पज्ञ), विश्व मे अनेक बन्धनो से युक्त सुख दु खादि बन्धनो मे आबद्ध है। इस प्रकार भिन्न आत्मा और परमात्मा मे जाति मानकर नैयायिको ने उन्हे एक द्रव्य मे समाहित किया है। नैयायिको ने चैतन्य को आत्मा नही माना है, क्योकि चैतन्य वृक्ष आदि मे भी है, जिनमे वे आत्मत्व नही मानते।

यहा एक प्रश्न विचारणीय है कि मनुष्य आदि प्राणियो मे विद्यमान चैतन्य युक्त जीव एव परमात्मा को समान कोटि अथवा समान जाति वाला मानने की प्रवृत्ति नैयायिको मे क्यो उत्पन्न हुई ? इसका एक समाधान एक तो यह दिया जा सकता है कि वैशेषिक मे पहले आत्मा को जीवात्मा के रूप मे ही स्वीकार किया गया था, ईश्वर का उल्लेख इसमे न था। इसीलिए गौतम और कणाद ने सूत्रो मे ईश्वर की चर्चा भी न की थी। दूसरा समाधान यह हो सकता है कि वैशेषिक और न्याय प्रारम्भ मे अनीश्वरवादी थे। वे या तो ईश्वर

१. तर्कदीपिका पृ० ५०

को मानते ही न थे अथवा बाह्य विश्व के दर्शन मे ईश्वर का विवेचन उन्होने आवश्यक नही समझा था; किन्तु परवर्ती नैयायिको ने देखा कि ईश्वर का विवेचन भी आवश्यक है तो उन्होने कणाद अथवा गौतम निर्दिष्ट पदार्थों के अन्तर्गत ही ईश्वर को समाविष्ट करने का प्रयत्न किया। चूंकि उत्तरकालीन न्यायवैशेषिक मे अभाव सहित सात पदार्थ ही स्वीकृत हुए थे, उन सात पदार्थों मे आत्मा ही ऐसा था, जिसमे ज्ञानत्व विशेष साधर्म्य से ईश्वर का अन्तर्भाव सभव था, फलत श्रीधर ने सर्व प्रथम ईश्वर का उल्लेख करते हुए आत्मा मे उसके अन्तर्भाव का प्रयत्न किया। यहा एक बात ध्यान देने की है कि नैयायिको द्वारा पृथिवी आदि जड द्रव्यो के बीच मे ही आत्मा का द्रव्य के रूप मे वर्णन करना उनकी भौतिकता की प्रवृत्ति को सिद्ध करता है।

ईश्वर सिद्धि--तर्क दीपिका मे अन्नभट्टने चार्वाक बौद्ध आदि अनीश्वरवादी दार्शनिको का उत्तर के रूप मे ईश्वर सिद्धि के लिए प्रमाण दिये है, उनका कथन है कि "रूप आदि प्रत्यक्ष योग्य गुणो के अभाव के कारण ईश्वर का प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञान सम्भव नही है, चूंकि अनुमान प्रमाण भी प्रत्यक्ष प्रमाण पर ही आश्रित हुआ करता है, अत प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव मे अनुमान द्वारा भी ईश्वर की सिद्धि सभव नही है, वेद भी ईश्वर की सिद्धि मे प्रमाण नही हो सकते, क्योकि वेद की प्रामाणिकता स्वय ही ईश्वर सिद्धि के अभाव मे सन्दिग्ध है' इत्यादि चार्वाको के तर्क उचित नही है। ईश्वर सिद्धि प्रत्यक्ष द्वारा भले ही सिद्ध न हो किन्तु उसकी अनुमेयता मे सन्देह नही हो सकता," अनुमान प्रकार विगत पृष्ठो मे दिया जा चुका है।[1]

इस प्रसग मे यह स्मरणीय है कि ईश्वरसिद्धि के लिए किया जाने वाला अनुमान निम्नलिखित चार मान्यताओ पर आधारित है। (१) 'विश्वव्यापी कर्तृत्व सम्बन्ध, (२) प्रत्येक कार्य का चेतन तथा विचारशील कर्त्ता से युक्त होना (३) यह विश्व भी इसी प्रकार का एक कार्य है, (४) इसका कर्ता निश्चय ही सामान्य से इतर एक विशेष शक्ति से सम्पन्न है, इन मान्यताओ के सम्बन्ध मे नैयायिको का विश्वास है कि (१) विश्वव्यापी कर्तृत्व सम्बन्ध स्वत सिद्ध है, तथा अनुभव से उसकी पुष्टि होती है। (२) द्वितीय मान्यता भी हमारे दैनिक अनुभव से सिद्ध है, हम देखते है कि घट रूपी कार्य कुशल कुम्भकार द्वारा ही सम्पन्न होता है, उस कुम्भकार मे चेतना और विचार-

---

१. पृष्ठ ५८

शीलता भी आवश्यक है। इसी प्रकार वस्त्र भी चेतनासम्पन्न कुशल एवं विचारशील तन्तुवाय से निर्मित होता है, इनके बिना घट या पट की उत्पत्ति असम्भव है। (३) निश्चल कार्य को जन्म देने वाली परमाणु मे विद्यमान 'गति' विशेष के लिए भी एक विवेकशील चेतन कर्त्ता का होना आवश्यक है, विवेकशील चेतन कर्ता सामान्य न हो कर असामान्य है, एव कार्य के पूर्व से ही विद्यमान है, अन्यथा परमाणुओ मे गति का उत्पन्न होना सम्भव नही है। (४) सकल विश्व का कार्यत्व भी दैनिक अनुभव से सिद्ध है वृक्ष वनस्पतियो एव पशुपक्षियो का जन्म हम नित्य ही देखते हैं, इन कार्यों के पीछे निश्चय ही एक चेतन शक्ति है, जो कि प्रतिक्षण इनका नियमन करती है, क्योकि इन कायो के पीछे एक विशेष प्रकार की नियमितता दृष्टिगत होती है, केवल अदृष्ट से ही यह विशेष प्रकार का नियमन सम्भव नहीं है (४) इस विश्व सृष्टि के नियमन के लिए प्रत्येक कार्य के पूर्व नित्य रूप से विद्यमान सर्वव्यापक सर्वशक्ति सम्पन्न ईश्वर है, जो कार्य विश्व से भिन्न है, अन्यथा विश्व का निर्माण एव विनाश सम्भव नही है।

चूंकि ये समस्त मान्यताए सामान्य अनुभव पर ही आधारित हैं, अत. यदि प्रतिवादी अपने अनुभव के आधार पर इनमे से किसी एक या अधिक को अस्वीकार कर दे तो उपर्युक्त सभी अनुमान प्रक्रिया धराशायी हो जाती है।

तर्कदीपिका मे अन्नभट्ट ने इसी प्रसङ्ग मे कर्तृत्व की परिभाषा देते हुए लिखा है कि 'उपादान के ज्ञान के साथ अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान, करने की इच्छा तथा क्रिया से युक्त होना कर्त्तृत्व कहाता है।'[1] नैयायिको की इस कर्त्तृत्व की परिभाषा के मूल मे कुछ मान्यताए निहित है --कोई भी कार्य क्रिया के बिना सभव नही, क्रिया इच्छा के बिना सभव नही है, तथा इच्छा भी तब तक निष्क्रिय बनी रहती है, जब तक कि कार्य के उपादानो का प्रत्यक्ष न हो जाए। इस प्रकार कर्तृत्व के लिए ज्ञान इच्छा और क्रिया तीनो का ही होना आवश्यक है। कर्तृत्व की इस परिभाषा को यदि सक्षिप्त करना चाहे तो केवल 'कृतिमत्व' कह सकते है क्योकि कृति के लिए चिकीर्षा आदि स्वतः अपेक्षित होगी ही।

ईश्वर सिद्धि के प्रसग मे उपर्युक्त युक्तियो मे तृतीय और चतुर्थ सब से निर्बल एवं नैयायिको के पक्ष को निर्बल बढाने वाली हैं, जैसे—'**यह सकल विश्वकार्य है**' इसे प्रत्येक वादी और प्रतिवादी नही स्वीकार करता, अत. यह मान्यता

१ तर्कदीपिका पृ० ५०

स्वय ही साध्य है। हम कुछ वस्तुओ को उत्पन्न होते देखकर विश्व के प्रत्येक पदार्थ को उत्पन्न (कार्य) नही मान सकते। स्वय नैयायिक भी आकाश, काल, दिशा, आत्मा, और मन इन द्रव्यो को तथा इन नित्य द्रव्यो मे विद्यमान गुण, सामान्य, विशेष, समवाय, एव अत्यन्ताभाव को नित्य मानते हैं। इसी प्रकार सकल सृष्टि भी नित्य हो सकती है। कुछ पदार्थों को नित्य मानने पर ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता भी सन्दिग्ध कही जा सकती है, क्योंकि उन नित्य पदार्थों का उत्पादन और विनाशन ईश्वर के सामर्थ्य से परे है। ईश्वर मे इच्छा की यही स्थिति है, क्योंकि इच्छा का कोई मूल होना चाहिए, ईश्वर मे इच्छा का मूल क्या है? यदि सुख आदि इच्छा का मूल है, तो सुख दुख से युक्त ईश्वर और जीवात्मा मे अन्तर ही क्या रहा? ईश्वर मे इच्छा का अभाव मानने पर उसमे कर्तृत्व सिद्ध न होसकेगा, तथा कर्तृत्व के अभाव मे ईश्वर सिद्धि ही सम्भव नही। साथ ही ईश्वर मे कर्तृत्व सिद्ध न होने पर मे विश्व का कार्यत्व सिद्ध न होगा, एव ईश्वर सिद्धि सम्भव न हो सकेगी। न्याय सिद्धान्त की इन निर्बलताओ के कारण ही वेदान्त आदि दर्शनो ने न्याय सिद्धान्त का खण्डन किया है।

प्रशस्तपाद के भाष्यकार आचार्य उदयन ने कुसुमाञ्जलि मे ईश्वर की सिद्धि के लिए कुछ अन्य युक्तिया भी दी हैं—[1]

(१) विश्व का **कार्यत्व** ईश्वर सिद्धि मे प्रमाण है।

(२) परमाणु से द्वयणुक की उत्पत्ति का **आयोजन** भी ईश्वर का साधक है।

(३) विश्व के समस्त पदार्थों का यथावत् **धारण** (धृति) से भी ईश्वर सिद्ध होता है।

(४) विश्व के पदार्थों का **विनाश** आदि भी ईश्वर को सिद्ध करता है।

(५) **पट** अर्थात् वस्त्र आदि बुनने की कला तथा ऐसी ही अन्य कलाओ का सर्वप्रथम आविष्कार भी ईश्वर के बिना सभव नही है, तथा वह प्रथम आविष्कारक ही ईश्वर है।

(६) **वेद को प्रामाणिक मानना** भी ईश्वर के सम्बन्ध मे प्रमाण है। ईश्वरकृत होने से ही वेद प्रामाणिक स्वीकार किये जाते है। बिना कर्ता का

१. —कुसुमाञ्जलि ५.१

ज्ञान प्राप्त किये हम किसी ग्रन्थ को प्रमाणिक या अप्रामणिक नही मान सकते। चूंकि वेद प्रामाणिक स्वीकृत हैं, अत उसका कर्त्ता ईश्वर अवश्य है। वेद स्वय भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं।

(७) वेदो की अर्थ पूर्ण वाक्य योजना भी उसके 'कर्त्ता का कुशल और सर्वज्ञ होना' सिद्ध करती है, वह कुशलकर्ता ईश्वर ही हो सकता है।

(८) द्वयणुक की उत्पत्ति दो परमाणुओ के सयोग से होती है। उसका परिमाण भी दो परमाणुओ के आधार पर ही उत्पन्न होता है, इस उत्पादन मे सख्या विशेष का ज्ञाता कोई अवश्य है, वह ईश्वर ही हो सकता है।

उदयनाचार्य की उपर्युक्त युक्तिया स्वय ही सिद्धि की अपेक्षा रखती है, अत वे ईश्वर की साधक-कैसे हो सकती हैं। यथा विश्व के कार्यत्व के सम्बन्ध पूर्व पृष्ठो मे चर्चा हो चुकी है। कर्तृत्व के समान विश्व का धारणकर्तृत्व भी उन्ही युक्तियो से विचारणीय है। वेदो की प्रामाणिकता बौद्धो को सर्वथा अमान्य है, अत उसके आधार पर ईश्वर की सिद्धि करना कैसे सम्भव है? इत्यादि।

ईश्वर का स्वरूप—

ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध मे दार्शनिको के विविध विचार हैं। एक का विचार है कि ईश्वर शरीर हीन है, क्योकि शरीर की प्राप्ति अदृष्ट से होती है, तथा ईश्वर अदृष्टहीन है, अत वह अशरीरी है। दूसरा वर्ग उसे शरीरी और अशरीरी दोनो ही मानता है। उसमे स्वय अदृष्ट ससर्ग न होने पर भी वह प्राणिवर्ग के अदृष्ट से शरीर धारण करता है, जैसे एक स्त्री पति के अदृष्ट-वश रूप आदि से युक्त शरीर धारण करती है। इस परम्परा मे स्वय से भिन्न प्राणियो के अदृष्ट को भी कारण के रूप मे स्वीकृति दी गई है। गीता में भी अनेक कारणो के साथ अदृष्ट को भी अन्यतम कारण स्वीकार किया गया है,[1] यद्यपि वहा स्व अदृष्ट अथवा पर अदृष्ट की कोई चर्चा नही है। तीसरी परम्परा परमाणुओ को ईश्वर का शरीर मानती है। चौथी परम्परा आकाश को ईश्वर का शरीर स्वीकार करती है। एक अन्य परम्परा के अनुसार ईश्वर के दो शरीर हैं . प्रथम कार्य शरीर, दूसरा निर्माण से पूर्व कार्य वस्तु शरीर। छठी परम्परा परमात्मा मे अदृष्ट के बिना भी केवल इच्छामात्र से उत्पन्न होने वाला शरीर मानती है : जैसे कि राक्षस या देव आदि केवल इच्छामात्र

१ भगवद्गीता १८. १४.

मे अदृष्ट के बिना ही माया शरीर धारण करते हैं। उपर्युक्त किसी भी परम्परा के अनुसार कार्य शरीर मानने मे सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि प्रत्येक कार्य के पूर्व उसके कर्त्ता मे इन्द्रिय और बौद्धिक चेतना की आवश्यकता होती है, ईश्वर के कार्यशरीर की उत्पत्ति के लिए इन्द्रिय आदि सम्पन्न कर्त्ता किसे माना जाए ?

नव्य नैयायिको ने ईश्वर मे आठगुण माने है,[1] वे है– सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न। न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन ईश्वर मे लिंग के रूप मे ज्ञान की ही सत्ता स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार ईश्वर मे जीवात्मा के समान सुख और दुःख नही है, वह तो नित्य आनन्द स्वरूप है, श्रुति भी उसे ऐसा ही स्वीकार करती है।

जीवात्मा—

जीव आत्मा ईश्वर से भिन्न है। ईश्वर सुख दुःखादि रहित है जीव इनसे युक्त। जीव इन्द्रिय आदि का अधिष्ठाता, बन्धमोक्ष का अधिकारी एव जन्यज्ञान से युक्त है जबकि ईश्वर इन सभी से रहित नित्य मुक्त एव सर्वज्ञ है। जीव सख्या मे अनन्त है. ईश्वर एक तथा सर्वव्यापक है।

जीवात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध मे भी अनेक मत है—जिनमे मुख्य निम्नलिखित है—(१) शरीर आत्मा है, (२) इन्द्रिया आत्मा है, (३) मन आत्मा है, (४) क्षणिक विज्ञान आत्मा है, (५) नित्य विज्ञान आत्मा है, (६) इन सबसे भिन्न सबका अधिष्ठाता आत्मा है।

१. शरीर ही आत्मा है—

यह प्रथम मत चार्वाक का है। उसका कथन है कि "चूंकि सर्वत्र होने वाली 'मैं मनुष्य हूँ' 'मैं ब्राह्मण हूँ' इत्यादि प्रतीति का साक्षात्सम्बन्ध शरीर से ही है, शरीरातिरिक्त से नही, अत शरीर ही आत्मा है। यह शरीर भी चार्वाको में सम्प्रदाय भेद से पञ्चभौतिक चतुर्भौतिक तथा एकभौतिक माना जाता है।[2] शरीर यद्यपि पृथिवी आदि परमाणुओ का सयोगमात्र है, जोकि स्वय जड है, किन्तु जिसप्रकार अन्न, जल और गुड आदि द्वारा प्रस्तुत मदिरा में स्वय ही मादकता उत्पन्न हो जाती है।[3] अथवा जैसे—ताम्बूल, कत्था, चूना

१. कारिकावली ३४। २. साख्यदर्शन ३ १७-१९।
३. वही ३.२३।

और सुपारी आदि मे अविद्यमान लालिमा उनसे ही उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार जड भूतों से उत्पन्न शरीर मे चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है।[1]

किन्तु चार्वाक का यह देहात्मवाद[2] नैयायिको को प्रिय नही है, वे इस सिद्धान्त के विरोध मे निम्नलिखित युक्तिया देते है १—शरीर को आत्मा मानने पर शरीर के नाश हो जाने पर उसके द्वारा किये गये पाप और पुण्य का भी नाश मानना होगा, अत शरीर आत्मा नही है।[3]

२—पाप पुण्य के अभाव मे नवजातशिशु मे सुख और दु ख की प्रतीति नही होनी चाहिए, शरीर को आत्मा मानने पर नव शरीर मे पाप-पुण्य की सत्ता तो सम्भव है ही नही। अत शरीर आत्मा नही है।[4]

३—मृत शरीर मे चेतना के दर्शन न होने से शरीर को आत्मा नहीं मान सकते।[5]

४—शरीर को आत्मा मानने पर शरीर के अग हाथ पैर आदि का नाश होने पर आत्मा का भी नाश मानना होगा।

५—शरीर प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील है, अत बचपन मे देखे हुए विषय का युवावस्था मे स्मरण सभव न हो सकेगा।[6] बचपन और यौवन का शरीर एक ही है यह नही मान सकते, क्योंकि यौवन के समय बाल्यावस्था के शरीर का नाश हो जाता है, शरीर के परिमाण का भेद ही इसमे प्रमाण है। 'कारण गत ज्ञान (गुण) कार्य मे सक्रान्त होगा, ऐसा भी नही मान सकते, अन्यथा माता द्वारा अनुभूत का गर्भस्थ शिशु को तदनन्तर बालक को स्मरण होना अनिवार्य होगा। अत शरीर को आत्मा नही मान सकते।[7]

६—शरीर को आत्मा मानने पर अन्य शरीर के कर्म का अन्य को उपभोग करना पड़गा।[8]

---

१. सर्वसिद्धान्त सग्रह
२. न्यायमञ्जरी से उद्धृत पृ० ५-१०
३. न्यायसूत्र ३ १.४
४ कणाद रहस्यम्
५. कारिकावली—४८
६. तर्क दीपिका पृ० ५१
७. न्याय कुसुमाञ्जलि पृ० ६५
८. न्यायदर्शन वात्स्यायन भाष्य पृ० ११७

७—शरीर को चेतन मानने पर बालक की स्तन पीने की प्रवृत्ति सभव न होगी, क्योंकि उसे ज्ञान नही है, कि इसमे भूख का नाश होगा, नित्य आत्मा न मानने के कारण पूर्व जन्म का सस्कार भी नही मान सकते ।[1]

८—बालक का मुख विकास हर्ष का परिचायक है, हर्ष स्मरण से ही उत्पन्न होता है, स्मरण पूर्व अनुभव जन्य है, बालक को इस जन्म मे कोई अनुभव नही है, अत वह पूर्वजन्म का ही हो सकता है, किन्तु पूर्वजन्म की मान्यता शरीर को आत्मा मानने पर सभव नही है, अत शरीर से भिन्न आत्मा है ।

चार्वाको की एक परम्परा चैतन्य को शरीर का धर्म न मानकर परमाणुओ का धर्म मानती है । उसका कथन है कि बाल्यकाल के शरीर के परमाणु यौवन शरीर मे भी स्थिर रहते है । इसलिए परमाणुओ मे चैतन्य मानने पर बाल्य काल मे अनुभूत अर्थ का यौवन मे स्मरण हो सकेगा । किन्तु नैयायिक इस पक्ष को स्वीकार नही करते, वे युक्ति देते है कि परमाणु के धर्म अतीन्द्रिय है, इसीलिए लौकिक पुरुष परमाणु के धर्म को इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नही कर सकते । साथ ही परमाणु धर्म होने के कारण चैतन्य और स्मरण दोनो को ही अतीन्द्रिय मानना होगा । दूसरा दोष यह है कि एक भाग के शरीर से पृथक् हो जाने पर उन परमाणुओ के अभाव मे उस अनुभव का स्मरण भी न हो सकेगा । इसलिए चैतन्य को परमाणु का धर्म नही माना जा सकता ।[2]

इन्द्रिय ही आत्मा है —

दूसरा पक्ष इन्द्रियात्मवाद का है अर्थात् इन्द्रिय ही आत्मा है । क्योकि 'मैं देखता हू,' 'मैं शब्द सुनता हू' इत्यादि प्रतीति इन्द्रियो से ही सम्बद्ध है । किन्तु नैयायिक इस पक्ष को भी नही मानते वे कहते है कि —

१—यदि इन्द्रिय आत्मा होती तो 'मैंने घडे को देखा है, मैं ही उसे छू रहा हू, यह एकत्व प्रतीति नही हो सकती, क्योकि नेत्र और श्रोत्र आदि इन्द्रिया भिन्न-भिन्न है, अत जिसने देखा है वही स्पर्शकर्त्ता नही हो सकता ।[3]

२—प्रत्येक क्रिया कर्त्ता के बिना सभव नही है, एव कर्त्ता की क्रिया

---

१. न्याय कुसमाञ्जलि पृ० ६६

२. न्यायमजरी प्रमेयप्रकरण पृ० ४२ ३. तर्क दीपिका पृ० ५१

कारण (साधन) के बिना सम्भव नही है, तथा कारण व्यापार कर्ता के बिना सम्भव नही है ।[1] इस प्रकार कर्ता और कारण भिन्न-भिन्न सिद्ध होते है; फलत. कारण रूप आत्मा इन्द्रियो से भिन्न है ।

३—यदि चक्षु आदि इन्द्रिया ही आत्मा है तो चक्षु आदि इन्द्रिय विशेष के नष्ट हो जाने पर पूर्व अनुभूत का स्मरण सम्भव न था, किन्तु इन्द्रिय विनाश हो जाने पर भी स्मरण होता ही है,[2] अत इन्द्रियो से भिन्न कोई आत्मा है, यह सिद्ध होता है ।

मन आत्मा है:—

तीसरा मत है कि 'मन आत्मा है', वह नित्य एव अभौतिक है, अत इस इस पक्ष मे स्मरण असम्भव नही है' । किन्तु नैयायिको को यह पक्ष भी स्वीकृत नही है । उनका कथन है कि मन चू कि अणु है, अत. मन मे विद्यमान ज्ञान सुख आदि का प्रत्यक्ष सम्भव न हो सकेगा, क्योकि प्रत्यक्ष के लिए गुणो के आश्रय द्रव्य मे महत्व का होना अनिवार्य है ।[3] इसके अतिरिक्त अणु मन मे दो ज्ञान एक काल मे नही रह सकते, अत 'देखना' और 'स्मरण करना' दोनो एक साथ न हो सकेगा या तो दर्शन होगा या स्मरण ही । साथ ही प्रत्यक्ष के समय पूर्व ज्ञान समाप्त हो जाने पर अन्य काल मे पूर्व ज्ञान भी सभव नही है, अत. पूर्व ज्ञान का आश्रय विशेष भिन्न स्वीकार करना होगा । इसके अतिरिक्त उस ज्ञानाधिकरण से भिन्न एक करण भी मानना होगा । यदि मन को करण मानते है, तो ज्ञानाधिकरण रूप भिन्न आत्मा की स्वीकृति आवश्यक होगी । मन को अधिकरण मानने पर इससे भिन्न ज्ञान और स्मरण क्रिया का एक कारण मानना होगा । इस स्थिति मे अन्तर केवल शाब्दिक रह जाएगा, व्यावहारिक नही ।[4]

विज्ञान आत्मा है—

तीसरा मत विज्ञान को आत्मा मानता है, विज्ञान दो प्रकार का है, क्षणिक विज्ञान और नित्य विज्ञान । विज्ञानवादी कहते है कि 'विज्ञान' चू कि स्वत. प्रकाश रूप है, अत उसे चेतन मानने में कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। यद्यपि भाव

---

१. मुक्तावली पृ० २०६

२ क भाषा परिच्छेद ४८ ख. वि० मुक्तावली २१२

३. न्याय मुक्तावली पृ० २१४ ४. न्याय दर्शन ३. १. १७

पदार्थ होने के कारण विज्ञान भी अनित्य है, किन्तु पूर्व विज्ञान उत्तर विज्ञान का हेतु है, सुषुप्ति में भी आलय विज्ञान की धारा निर्बाध रूप से रहती है, तथा कस्तूरी से सुवासित वस्त्र के निकट सम्पर्क मे आये हुए वस्त्र जिस प्रकार स्वय सुवासित हो जाते है, एव अन्य वस्त्रो को भी सुवासित करते रहते है, उसी प्रकार वासना का सक्रमण होने से पूर्व विज्ञान द्वारा साक्षात्कृत विषय का उत्तर विज्ञान द्वारा स्मरण भी अनुचित न होगा।

नैयायिक विज्ञानवादियों के इस सिद्धान्त से सहमत नही है, वे कहते है कि चू कि विज्ञान का विषय समस्त विश्व है, अत आत्मा को भी सर्वज्ञ होना चाहिए। इसके अतिरिक्त सुषुप्ति मे भी ज्ञान की सत्ता होने पर वहा भी विषय का अवभासन मानना होगा, क्योकि ज्ञान सदा विषय युक्त ही होता है विज्ञान को आत्मा मानते हुए पूर्वविज्ञान की वासना का सक्रमण उत्तर विज्ञान मे मानना होता है, किन्तु यदि इस प्रकार कारण से कार्य मे वासना का संक्रमण स्वीकार करते हैं, तो कारण माता की वासनाओं का सक्रमण कार्य-पुत्र मे भी मानना होगा और ऐसा मानने पर माता द्वारा देखे गये विषय का पुत्र को स्मरण होना चाहिए। इस प्रकार 'क्षणिक विज्ञान को आत्मा नही मान सकते।'[1] नित्य विज्ञान को आत्मा मानने पर पूर्व वर्णित सर्वज्ञत्व दोष उपस्थित होगा ही, अत नित्य विज्ञान को भी आत्मा नही मान सकते।[2] इस प्रकार शरीर इन्द्रिय मन और विज्ञान से भिन्न आत्मा है।

आत्मा का विभुत्व —

आत्मा के सम्बन्ध मे एक प्रश्न और विचारणीय है कि उसका परिमाण **क्या है—विभु, मध्यम अथवा अणुपरिमाण**। आत्मा को मध्यम परिमाण का नही मान सकते, क्योकि मध्यम परिमाण का अर्थ होगा शरीरपरिमाण, और शरीर मे वृद्धि ह्रास होता है, अत आत्मा के परिमाण मे शरीर के साथ वृद्धि और ह्रास को स्वीकार करना पडेगा। इसके अतिरिक्त विभिन्न जन्मो मे प्रतियोनियो मे शरीर के परिमाण मे अन्तर होने से आत्मा के परिमाण मे भी अन्तर मानना होगा। जैसे चीटी आदि के शरीर मे ह्रस्व मध्यम परिमाण तथा हस्ती आदि के शरीर मे दीर्घ मध्यम परिमाण इत्यादि। किन्तु नित्य आत्मा मे परिमाण-

---

१. न्याय सिद्धान्त मुक्तावली पृ० २१४-२१६

२. वही पृ० २१६

गत अनित्यता उचित नही है, अत आत्मा को **मध्यम परिमाण नही मान** सकते।

आत्मा **अणु परिमाण** वाला भी नही है, क्योकि अणु परिमाण वाला आत्मा सम्पूर्ण शरीर के सुख-दुख का ज्ञाता नही हो सकता, नही ही अणुपरिमाण मे अनेक ज्ञानो का होना ही सम्भव है, अनेक ज्ञान के अभाव मे स्मरण भी सभव नही है। इस प्रकार 'जो मै घडे का द्रष्टा हू, वही मैं घडे को छू रहा हू" इत्यादि प्रतीति भी न हो सकेगी। फलत. 'आत्मा **विभु परिमाण वाला है**' यही मानना होगा।

आत्मा का प्रत्यक्ष —

न्याय सूत्र के रचयिता गौतम और उनके अनुयायी आत्मा का ज्ञान **मानस प्रत्यक्ष** से मानते है, जबकि कणाद के अनुयायी इसे अनुमेय मानते हैं। गौतम के अनुयायियों का कथन है कि 'घट ज्ञान के समान 'इद सुखम्' ('यह सुख है') इस ज्ञान की प्रतीति नही होती अपितु 'अह सुखी' ('मै सुखी हू') यह प्रत्यक्षात्मक प्रतीति होती है, इस प्रतीति मे आत्मा का प्रत्यक्ष स्वतः हो जाता है[1] चू कि अनुमान प्रत्यक्ष के बिना सम्भव नही है, अत आत्मा को अनुमेय मानने के लिए भी उसे प्रत्यक्ष मानना ही होगा।[2]

योग भी आत्मा को प्रत्यक्ष का विषय मानता है उसके अनुसार चित्त-वृत्तियों का निरोध होने पर आत्मा अपने स्वरूप मे स्थित होता है[3] अर्थात् उसका साक्षात्कार करता है। कणाद के अनुयायी तथा नव्य नैयायिक उद्भूतरूप को अथवा उद्भूतरूप और स्पर्श को प्रत्यक्ष मे असाधारण कारण मानते है, एव आत्मा मे उद्भूतरूप और उद्भूत स्पर्श के न होने से उनके अनुसार आत्मा का प्रत्यक्ष नही हो सकता, किन्तु अनुमान ही होता है। इस अनुमान मे आत्मा के इच्छा द्वेष प्रयत्न आदि गुण अथवा प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन और मन की गति तथा इन्द्रियो के विकार आदि हेतु कहे जाते है।[4] आत्मा की सिद्धि के लिए अनुमान प्रक्रिया इसी प्रकरण मे दी जा चुकी है।

---

१ न्यायमञ्जरी पृ० ७
२. वही पृ० ७
३. योगदर्शन १. १. २-३
४ क न्यायमजरी प्रमेय प्रकरण पृ० ८
ख वैशेषिक सूत्र ३.२.४
ग. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ११-१४

मनस्

'मन्यते अनेन इति तन्मन.' इस व्युत्पत्ति के अनुसार मन केवल ज्ञान का साधन ही नही है, अपितु वह सुखादि साक्षात्कार के कारण होने के साथ ही बाह्यप्रत्यक्ष का भी मुख्य साधन है। नैयायिको ने अन्तिम विशेषता पर ही अधिक बल दिया है, यद्यपि वे आन्तर साक्षात्कार को भी अस्वीकार नही करते। इस प्रकार मन मे दोनो विशेषताए है वह सुखादि प्रत्यक्ष का असाधारण कारण है और बाह्यप्रत्क्ष का साधन भी है। इस प्रकार मन स्वय इन्द्रिय है, और साथ ही अन्य इन्द्रियो का सहायक भी। चूकि अन्य इन्द्रिया केवल बाह्य विषय के प्रत्यक्ष का ही कारण है, अत मन अन्य इन्द्रियो से भिन्न सिद्ध होता है।

विश्वनाथ के अनुसार सुखादि साक्षात्कार मे जो मुख्य साधन (करण) है, उसे मन कहा जाता है।[१] तर्कसग्रहकार अन्नभट्ट के अनुसार 'सुख-दु ख आदि की उपलब्धि के साधन इन्द्रिय को मन कहते है।'[२] प्रस्तुत लक्षण मे उपलब्धि का तात्पर्य है 'आन्तर साक्षात्कार' तथा साधन का अर्थ है सहायक कारण। वाक्यवृत्तिकार मेरुशास्त्री के अनुसार इन लक्षणो मे सुखादि का तात्पर्य है 'आत्मा मे विद्यमान वे सभी धर्म, जिनका साक्षात्कार केवल मन द्वारा होता है। अन्नभट्ट कृत लक्षण मे इन्द्रिय पदका प्रयोग आत्मा और आत्ममन सयोग मे मन के लक्षण की अतिव्याप्ति के निवारण के लिए है, किन्तु यदि लक्षण वाक्य मे साधन पद का अर्थ केवल करण अर्थात् प्रधान साधन समझा जाए तो इन्द्रिय पद के प्रयोग की आवश्यकता नही रह जाती, क्योकि आत्मा सुखादि का आश्रय है, प्रधान साधन नही, तथा आत्ममन सयोग एक व्यापारमात्र है।

तर्क दीपिका मे अन्नभट्ट ने मन का एक अन्य लक्षण दिया है। उसके अनुसार 'जो स्पर्शवान् न होते हुए भी क्रियावान् है, वह मन है।'[३] मन का यह लक्षण यद्यपि आलोचना की दृष्टि से निर्दोष है, किन्तु यह मन का परिचय देने मे सहायक नही है। आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन पाच स्पर्श रहित है, इनमे केवल मन ही सक्रिय है।

---

१ भाषापरिच्छेद ८५ २ तर्क सग्रह पृ० ५२

३ तर्कदीपिका पृ० ५२

मन की सिद्धि के लिए न्याय मे निम्नलिखित युक्तिया दी जाती है—(१) विभु आत्मा और इन्द्रियो का नित्य सम्बन्ध है, तथा पाच ज्ञानेन्द्रिया अपने विषयो से सम्बद्ध होती है, फिर भी एक साथ अनेक ज्ञान नही होते, इसी से निश्चित होता है कि 'मन है'।[१] (२) आत्मा इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष का कभी ज्ञान होना और कभी न होना मन के सम्बन्ध मे प्रमाण है।[२] (३) आत्मा इन्द्रिय और अर्थ का सान्निध्य होते हुए भी ज्ञान सुख आदि का पहले अभाव पुन उत्पत्ति मन रूप करण की सिद्धि मे प्रमाण है।[३] (४) सुखादि का साक्षात्कार चूकि जन्य साक्षात्कार है, अत इसका करण भी अवश्य है, जैसे चाक्षुष साक्षात्कार मे चक्षुरूप करण रहता है।[४] मन की सिद्धि के लिए विभिन्न आचार्यो द्वारा दी गयी युक्तियो मे मुख्यत एक ही बात है कि आत्मा विभु है अत आत्मा और इन्द्रिय के बीच सम्बन्ध मे कभी अन्तराय सम्भव नही अर्थात् इन्द्रिया चेतन आत्मा से नित्य सम्बन्ध है, अत विषय का इन्द्रिय से जब भी सम्बन्ध हो, ज्ञान होना ही चाहिए, किन्तु ऐसा होता नही। इसके अतिरिक्त पाचो ज्ञान इन्द्रियो से एक काल मे ज्ञान नही होता। आत्मा और इन्द्रिय का तथा इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध होने पर भी ज्ञान होने न होने पर कोई कारण होना चाहिए, वह कारण ही मन है। इसके अतिरिक्त आत्मा जब सुख आदि का साक्षात्कार करता है, तो वहा कार्य और कर्त्ता के अतिरिक्त अन्यकरण (मुख्य साधन) का होना भी आवश्यक है, वह साधन ही मन है।

मन असख्य है और प्रत्येक आत्मा के साथ एक एक नियत है।[५] वाक्यवृत्तिकार मेरु शास्त्री ने अन्नभट्ट प्रयुक्त नियत शब्द के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि 'मन आत्मा मे समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध और असम्बद्ध भोग का कारण है यह नियत शब्द का अर्थ है।[६] किन्तु नियत शब्द का यह तात्पर्य अधिक स्पष्ट है . कि प्रत्येक मन एक-एक आत्मा से सम्बद्ध है और मृत्यु के बाद जन्मान्तर मे भी वह उसके साथ रहता है, इसके फलस्वरूप ही विगत संस्कार उद्बुद्ध होते है। चूकि मन अनन्त है अतः उनमे सामान्य धर्म के रूप मे मनस्त्व जाति को भी स्वीकार किया जाता है।

---

१ न्यायसूत्र १ १ १६।
२ वैशेषिकसूत्र ३.२ १।
३ प्रशस्तपादभाष्य पृ० ३५।
४ न्याय मुक्तावली पृ० ४३३
५ तर्क सग्रह पृ० ५२।
६. वाक्यवृत्ति मेरुशास्त्री कृत।

मन अणु है—

अन्य द्रव्यो की अपेक्षा मन की एक स्वतन्त्र विशेषता है कि वह अणु परिमाण वाला है। अणु होने के कारण ही वह आत्मा और विषय के सम्बन्ध का कारण बन पाता है, जिसके फलस्वरूप ज्ञान उत्पन्न होता है। अन्यथा विभु आत्मा का प्रत्येक विषय से नित्य सम्बन्ध है, फलस्वरूप उसे प्रत्येक विषय का नित्य ज्ञान होना चाहिए। मीमासक मन को विभु मानते हैं, इस सम्बन्ध मे उनकी युक्तिया निम्नलिखित है.—१ मन विभु है, क्योकि वह आकाश के समान स्पर्श गुण रहित द्रव्य है।[1] २ मन विभु है, क्योकि वह काल के समान विशेष गुणो से रहित द्रव्य है।[2] ३ जैसे आत्मा ज्ञान के असमवायिकारण सयोग का आश्रय है एव विभु है, उसी प्रकार ज्ञान के असमवायिकारण सयोग का आश्रय होने से मन भी विभु है।[3] किन्तु नैयायिको को मन का यह विभुत्व प्रिय नही है। वे कहते है कि मन को विभु मानने पर विभु मन प्रत्येक इन्द्रियो से एक साथ नित्य सम्बद्ध होगा। ऐसी स्थिति मे समस्त विषयो का ज्ञान सार्वकालिक रूप से नित्य ही होना चाहिए। जहा एक साथ अनेक ज्ञान की प्रतीति होती है वहा प्रतीति भ्रान्त है।[4]

इसके अतिरिक्त मन के विभु होने पर स्वप्न और सुषुप्ति का होना भी सभव न होगा, क्योकि उन अवस्थाओ मे भी इन्द्रिय मन और आत्मा का सयोग होने से ज्ञान की उत्पत्ति आवश्यक होगी। तर्कदीपिका मे इसी तर्क को दूसरे प्रकार से उपस्थित किया गया है, वहा कहा गया है कि चू कि सयोग दो अप्राप्त वस्तुओ की प्राप्ति को कहते है, अत विभु आत्मा और विभु मन की अप्राप्ति कभी दृष्टिगत नही हो सकती (वे नित्य ही मिले हुए है), अत. उनके नित्य सम्पर्क को सयोग नही कहा जा सकता है। यदि कदाचित् दो विभु पदार्थों का भी सयोग मान भी लिया जाये तो वह नित्य सयोग होगा, क्योकि दो विभु

---

१ वैशेषिक उपस्कारभाष्य पृ० १०२ २ वही १०२ ३. वही १०२

४ (क) न्याय सूत्र ३ २ ६१

(ख) भाषा परिच्छेद ८५

(ग) मुक्तावली पृ० ४३४

पदार्थों को विभक्त करने वाला विभाग कभी सभव नही है, फलत सुषुप्ति अवस्था न मानी जा सकेगी, किन्तु मन को अणु मानने पर यह दोष नहीं रहता,[1] क्योकि जब मन पुरीतत् नाडी मे प्रवेश करता है, तब पुरीतत् नाडी से बाहर आत्मा एव मन का इन्द्रियो द्वारा विषय से सयोग न होने से ज्ञान उत्पन्न नही होता, किन्तु पुरीतत् नाड़ी से मन के बाहर आने पर आत्मा एव इन्द्रियो के साथ उसका सम्बन्ध होने पर ज्ञान उत्पन्न होता है। आत्मा को विभु मानने के कारण यहा सन्देह हो सकता है कि पुरीतत् नाडी मे विद्यमान मन के साथ आत्मा का सम्बन्ध है ही, अत वहा ज्ञान का अभाव क्यो है ? किन्तु इसका समाधान स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए आत्मा और मन के सयोग के साथ ही साथ मन और इन्द्रियो का सयोग भी आवश्यक होता है, पुरीतत् नाडी मे विद्यमान मन का आत्मा के साथ सयोग तो अवश्य है, किन्तु मन और इन्द्रियो का सयोग नही है। श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ चू कि नियत स्थान पर रहने वाली है, अतएव मन का उनसे सयोग सम्भव नही है, हा सर्वशरीर-व्यापी त्वगिन्द्रिय से सयोग का सन्देह अवश्य ही सभव है, किन्तु नैयायिक पुरीतत् नाडी मे त्वगिन्द्रिय की व्यापकता नही मानते,[2] अत उस स्थिति मे भी आत्म-सयुक्त मन का त्वगिन्द्रिय से सयोग का अभाव है, अत सुषुप्ति अवस्था मे ज्ञान की सभावना नही हो सकती। साथ ही उद्बोधक के अभाव मे सुषुप्ति अवस्था मे स्मरण भी सभव नही है।

हा एक समस्या रह जाती है, वह है 'सुख दु खादि के ज्ञान की' क्योकि इनके प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय और विषय के सयोग की आवश्यकता नही होती, एव पुरीतत् नाडी मे विद्यमान मन के साथ भी आत्मा का सयोग तो है ही। नैयायिको ने इस समस्या का समाधान ज्ञान मात्र के प्रति 'त्वगिन्द्रिय और मन के अथवा इन्द्रिय और मन के संयोग को मान कर किया है।

सुषुप्तिः—

हृदय के निकट पुरीतत् नामक नाडी विशेष है। जब सुषुप्ति के अनुकूल मन मे क्रिया होती है, तब मन का और इन्द्रियो के सयोग नाश होकर मन और इन्द्रियो का विभाग होता है।[3] उसके अनन्तर मन का पुरीतत्

---

१ वैशेषिक ७.१.२१ २ न्याय मुक्तावली पृ० २४५

३ न्याय मुक्तावली पृ० २४६

नाडी से सयोग और उसमे मन की स्थिति होती है, इसे ही सुषुप्ति कहते है।

नैयायिको के अनुसार 'मन मे क्रिया उत्पन्न होने पर मन और आत्मा के सयोग का नाश और उनका विभाग होकर पुरीतत् मे मन का प्रवेश होता है।'[1] वस्तुत विभु आत्मा से सयुक्त मन आदि द्रव्य का सयोग नित्य अथवा द्रव्य नाश के पूर्व क्षण तक मानना चाहिए, अर्थात् जब तक मन अथवा आत्मा मे से किसी एक का नाश नही होता, तब तक दोनो के सयोग का नाश सम्भव नही है। नैयायिक परम्परा मे सुषुप्ति के प्रसङ्ग मे आत्ममन सयोगनाश मे आत्मा का तात्पर्य **विजातीय आत्मा** से है, अर्थात् विषयसम्बद्ध इन्द्रियसयुक्त आत्मा से मन के सयोग का नाश होता है। तात्पर्य यह है कि किसी भी विशेषता से रहित तो शुद्ध आत्मा हुई, तथा विषयसम्बद्ध इन्द्रियसयुक्त एक विशेष विजातीय आत्मा हुई सुषुप्ति से पूर्व उस विशिष्ट आत्मा से मन के सयोग का नाश होता है। आत्म मन सयोग नाश मे इस विशिष्ट आत्मा से विभाग ही अपेक्षित है। इस प्रकार यह केवल कहने का प्रकार भेद (द्रविड प्राणायाम) ही हुआ सीधे शब्दो इसे आत्म मन सयोग नाश और आत्म मन विभाग के स्थान पर 'मन और इन्द्रिय के सयोग का नाश और मन इन्द्रिय विभाग' का कथन ही अधिक उपयुक्त होगा।

पुरीतत् नाडी अथवा सुषुप्ति की यह कल्पना नैयायिको का कोई निज आविष्कार नही है। बृहदारण्यक[2] उपनिषद् मे भी सुषुप्ति का वर्णन मिलता है, उसके अनुसार 'मन हृदय से निकलकर बहत्तर हजार नाडियो से निकलता हुआ पुरीतत् नाडी मे प्रवेश करता है, उस समय आत्मा को कुछ भी ज्ञान नही रहता।

वेदान्ती पुरीतति नाडी मे मन का प्रवेश न मान कर जीव का प्रवेश मानता है, शेष प्रक्रिया दोनो मे समान ही है। इसी पुरीतत् नाडी को योगी एव वेदान्ती सुषुम्ना नाडी कहते है। इस नाडी का उच्चतम स्थान ब्रह्मरन्ध्र है। योगी पुरुष की आत्मा इसी मार्ग से शरीर से बाहर निकलती है।

मन इन्द्रिय है :—

नैयायिक मन को इन्द्रिय मानते है, यद्यपि गौतम और कणाद ने स्पष्ट रूप से मन के इन्द्रियत्व को कही स्वीकार नही किया, किन्तु उन्होने इसका निषेध

---

१ दिनकरी टीका पृ० २४८ २ बृहदारण्यक उपनिषद् पृ० २११६

भी कही नही किया। आश्चर्य तो यह है कि गौतम ने शरीर का तो स्पष्ट लक्षण देते हुए उसे चेष्टा इन्द्रिय और अर्थ का आश्रय कहा[1] किन्तु वही इन्द्रिय के प्रसङ्ग मे किसी प्रकार का लक्षण दिये बिना ही घ्राण रसन चक्षु त्वक् तथा श्रोत्र इन पाच इन्द्रियो की गणना कर दी।[2] इन इन्द्रियो के स्वरूप और कार्य को देख कर न्याय दर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन ने अवश्य ही '**अपने विषय के ग्रहण करने की क्षमता**' को इन्द्रिय का लक्षण मान लिया है।[3] यही स्थिति कणाद की है, उन्होने भी कही इन्द्रिय का लक्षण नही दिया, तथा मन इन्द्रिय है या नही, इस सम्बन्ध मे भी वे सर्वथा मौन रहे है। वैशेपिक दर्शन के भाष्यकार आचार्य प्रशस्तपाद ने भी कुछ स्पष्टीकरण देना उचित नही समझा। किंतु साख्य की परम्परा मे मन को स्पष्टत इन्द्रिय स्वीकार किया गया है।[4] सम्भवत इसी प्रभाव मे आकर उत्तर काल मे न्याय मे भी मन को इन्द्रिय मान लिया गया। इस मान्यता मे प्रत्यक्ष के परम्परागत लक्षण मे भी विशेष सहायता मिली है। जैसाकि प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति मे भी प्रकट होता है इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है,[5] चू कि सुख आदि के प्रत्यक्ष मे केवल मन ही एक मात्र साधन है अन्य इन्द्रिया नही, अत अगत्या सुखादि साक्षात्कार को प्रत्यक्ष मानने के लिए मन को इन्द्रिय मानना आवश्यक हो गया, इसीलिए परवर्ती नैयायिको को स्पष्टरूप मे मन को इन्द्रिय स्वीकार करना ही पडा।[6] '**अप्रतिषिद्धमनुमत भवति**' इस सिद्धान्त के अनुसार हम इसे (मन का इन्द्रियत्व) गौतम और कणाद आदि का अभिमत भी स्वीकार कर सकते है।

वेदान्त के अनुयायी 'इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्था, अर्थेभ्यश्च पर मन, मनसश्च परावुद्धि'[7] इत्यादि श्रुति विरोध के कारण मन को इन्द्रिय नही मानते, क्योकि इस श्रुति मे मन और इन्द्रियो मे भेद स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है।[8] मन को इन्द्रिय न मानने पर सुख आदि के साक्षात्कार को प्रत्यक्ष मानने

---

१ न्याय दर्शन १ १ ११ — २ वही १ १ १२

३ न्यायदर्शन वात्स्यायनभाष्य १ १ १२ — ४ साख्य कारिका २७

५ न्यायदर्शन १ १.४ — ६ तर्क सग्रह पृ० ५२

७ (क) कठोपनिषद १ ३ ३-४ १ ३ ७, १०-२ ३ १

(ख) मुण्डकोपनिषद् २ १ ३ — ८ वेदान्तसूत्र भामती २ ३३. १५

मे बाधा हो सकती है, इस लिए वे नैयायिक स्वीकृत प्रत्यक्ष लक्षण को ही अस्वीकार कर देते है। यो तो नव्य नैयायिक भी योगिप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष की परिभाषा के अन्तर्गत करने के लिए प्रत्यक्ष की पूर्व परिभाषा को छोड अन्य परिभाषा करते है कि 'जिस ज्ञान में किसी ज्ञानान्तर की सहायता आवश्यक न हो वह प्रत्यक्ष है, किन्तु वे मन को अवश्य ही इन्द्रिय मानते है।

नैयायिको और वेदान्तियो मे यह मौलिक अन्तर होते हुए भी दोनो की दृष्टि मे मन की स्थिति समान ही है। दोनो ही उसे बाह्य इन्द्रियो से भिन्न मानते है, फिर चाहे इन्द्रिय कहे या अन्त करण या कुछ अन्य। यदि मन इन्द्रिय है, तो वह अन्तरिन्द्रिय है, तथा बाह्य इन्द्रियो से सर्वथा भिन्न है। यदि वह इन्द्रिय नही है, तो भी वह इन्द्रियो की अनेक विशेषताओ से युक्त अवश्य है।

३

गुण विमर्श

रूप

केवल चक्षु द्वारा ग्रहण किये जाने वाले गुण को रूप कहते हैं।[1] रूप का यह लक्षण सर्व प्रथम अन्नभट्ट ने किया है। सूत्रकार ने रूप का कोई लक्षण नही दिया था, भाष्यकार प्रशस्तपाद ने केवल '**चक्षु द्वारा ग्रहण किये जाने वाले को रूप**' कहा था, किन्तु चक्षुर्ग्राह्य पृथिवी जल **और** अग्नि द्रव्य भी है, सख्या परिमाण आदि गुण भी है, अत इनमे अतिव्याप्ति निवारणार्थ **मात्र** पद का प्रयोग उत्तरकालीन आचार्यों ने आवश्यक समझा, अब भी रूपत्व जाति का ग्रहण केवल चक्षु द्वारा होने के कारण उसमे रूप लक्षण की अतिव्याप्ति सभव थी, अत लक्षण मे **गुण** पद का भी प्रयोग करना आवश्यक समझा गया।

विश्वनाथ ने भी रूप का लक्षण आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार चक्षु द्वारा ग्राह्य रूप है' इतना ही किया।[2] किन्तु चक्षुग्राह्य से उनका तात्पर्य 'चक्षु-ग्राह्य विशेष गुण से है।[4] विश्वनाथ की इस व्याख्या के अनुसार **मात्र और गुण** पद के प्रयोग की आवश्यकता नही रह जाती। साथ ही **मात्र और गुण** पद के प्रयोग करने पर **और प्रभा घट के बीच सयोग** मे होने वाली अतिव्याप्ति का निवारण भी हो जाता है। अन्नभट्ट गुण पद का **विशेष गुण** अर्थ नही मानते, अत. उन्हे प्रभा और घट के बीच सयोग मे होने वाली अतिव्याप्ति के निवारण के लिए जाति घटित लक्षण मानना पडता है।[5] चूकि सयोगत्व जाति-मान् सयोग गुण केवल चक्षुग्राह्य नही है, अत उनके अनुसार अतिव्याप्ति न होगी। चूकि वैशेषिक परम्परा मे परमाणु मे भी रूप (**अनुद्भूत रूप**) विद्य-

---

१. तर्क सग्रह पृ० ५४ २ प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ४४
३. भाषा परिच्छेद का० १०० ४ न्याय मुक्तावली पृ० ४४५।
५. तर्कदीपिका पृ० ५५

मान है, किन्तु उसका ग्रहण चक्षु द्वारा सभव नही है, इसलिए वाक्यवृत्तिकार मेरुशास्त्री ने त्वचा इन्द्रिय द्वारा अग्राह्य तथा चक्षु द्वारा ग्राह्य गुणत्व से व्याप्य (**अवान्तर या विभाजक**) जाति से युक्त को **रूप** कहते है, इत्यादि लक्षण किया है।[1] उपर्युक्त लक्षणो मे ग्राह्य पद का तात्पर्य सामान्य प्रत्यक्ष से है, योगिप्रत्यक्ष से नही। क्योकि रूप आदि का योगज प्रत्यक्ष तो नेत्र के बिना भी सभव है।

शकर मिश्र ने सामान्य प्रत्यक्ष के लिए पाच बाते आवश्यक मानी है,[2] महत्परिमाण, अनेक द्रव्यवत्व उद्भूतत्व अनभिभूतत्व तथा रूपत्व। **परमाणु मे महत्परिमाण** न होने से उनका प्रत्यक्ष नही होता। द्व्यणुक मे अनेक द्रव्यवत्व न होने से उसका प्रत्यक्ष नही होता। **नेत्रज्योति मे उद्भूतत्व** का अभाव प्रत्यक्ष न होने मे कारण है। दिन मे **नक्षत्रो** का प्रत्यक्ष अनभिभूतत्व के अभाववश नही होता। इसी प्रकार गन्ध और स्पर्श का प्रत्यक्ष रूपत्व के अभाव के कारण सभव नही है। स्मरणीय है कि नैयायिक प्रत्यक्ष के लिए रूप अथवा स्पर्श का होना आवश्यक मानते है, अत उनके मत मे स्पर्श का प्रत्यक्ष तो हो जायगा किन्तु गन्ध का नही। इस का विवेचन पहले किया जा चुका है।[3]

प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक न्यूटन के अनुसार रूप केवल प्रकाश मे है, जिस वस्तु पर जैसी प्रकाश किरणे पडती है, उस वस्तु का वैसा ही रग प्रतीत होता है। प्रकाश की स्वेत किरण मे सभी आधारभूत रग विद्यमान रहते है, इसी कारण एक शीशे के खण्ड द्वारा विभिन्न रगो का पृथक् पृथक् प्रत्यक्ष हो सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार पृथिवी एव जल का कोई निज रूप नही है, इन मे प्रतीत होने वाला रूप तेज का ही रूप है।

रूप के भेद —

रूप के सात प्रकार है—स्वेत, नीला, पीला, लाल, हरा, कपिश मटमैला, और चितकबरा या चित्र। चित्र (चितकबरा) रग के सम्बन्ध यह प्रश्न हो सकता है कि इसको पृथक् मानने की क्या आवश्यकता है, इसे विभिन्न रगो का सयोग क्यो न माना जाए? नैयायिको के अनुसार सयोग आदि गुण तो **अव्याप्यवृत्ति** है, अर्थात् वे किसी द्रव्य के एक अश मे रह सकते है, किन्तु

१. वाक्यवृत्ति रूपप्रकरण २ उपस्कार भाष्य ४ १ ६,८

३ इसी ग्रन्थ के पृष्ठ ४४-४५ देखे।

रूप अव्याप्य वृत्ति न होकर व्याप्यवृत्ति गुण है, अर्थात् रूप सम्पूर्ण द्रव्य मे अनिवार्य रूप से एक ही रहेगा। जैसे अव्याप्यवृत्ति सयोग वृक्षरूप द्रव्य के केवल एक भाग मे ही रहता है, अत बन्दर और वृक्ष का सयोग शाखा मे ही माना जाएगा, वृक्ष मूल मे नही, किन्तु रग की यह स्थिति नही है, प्रत्यक्ष रूप को तो व्याप्यवृत्ति ही होना चाहिए, अर्थात् द्रव्य के सम्पूर्ण अश मे रहना चाहिए, जबकि चित्र द्रव्य मे नीला पीला आदि वर्ण व्यापकरूप से कोई भी नही है, अत **चित्र रूप** को स्वतत्र रूप से मानने की आवश्यकता हुई।[1]

नैयायिको की मान्यता के अनुसार **चित्ररूप** मे **नीला** आदि रूप विद्यमान है, किन्तु वे व्याप्यवृत्ति नही है, अत उनका प्रत्यक्ष नही हो सकता, कारण यह है कि यदि यह माना जाय, कि चित्र मे नील रूप रहता है, और उसका प्रत्यक्ष होता है, तो प्रश्न होगा किस सम्बन्ध मे ? यदि यह कहे कि चित्र मे नील आदि रूप समवाय सम्बन्ध से रहते है और उसका प्रत्यक्ष **सयुक्तसमवेतसमवाय** से होता है, क्योकि द्रव्य मे चक्षु का **सयोग** होता है, तथा द्रव्य मे **चित्र** रूप **समवाय सम्बन्ध** से है, तथा नील रूप चित्र मे **समवाय** सम्बन्ध से विद्यमान है, तो पुन प्रश्न होगा कि चित्ररूप गत **रूपत्व जाति** का प्रत्यक्ष किस सम्बन्ध से माना जाये ? क्या **चक्षुसयुक्तसमवेतसमवेतसमवाय** से ? किन्तु प्रत्यक्ष के लिए स्वीकृत छ सन्निकर्षो मे[2] इस प्रकार का कोई सन्निकर्ष नही है, अत. सप्तम सन्निकर्ष मानना होगा, जो कि गौरव होगा। अत **चित्ररूप** मे भी नील रूप की अव्याप्यवृत्ति धर्म के रुप मे कल्पना नही की जा सकती।

नव्य नैयायिक सयोग आदि के समान ही रूप को भी **अव्याप्यवृत्ति मानते** है। उनका कथन है कि अव्याप्यवृत्ति नील आदि भी रूप नही है, इसे मानने के लिए किसी कारण की कल्पना करनी होगी, जो कि गौरव होगा। एक द्रव्य मे व्याप्य वृत्ति जातीय दो गुणो मे विरोध भी प्रमाण के अभाव होने से नहीं मान सकते। ऐसे स्थलो पर विरोध, लाघव के कारण तथा 'एक रूप है' इस प्रत्यक्ष अनुभव से विरोध के कारण, नही मान सकते। इस प्रसङ्ग मे वे नील वृष की शास्त्रीय परिभाषा उपस्थित करते है[3] जिसमे 'वर्ण से लोहित, मुख और पूछ मे पाण्डुर तथा खुर और सीग मे स्वेत वृष को नील वृष' कहा गया है।[4]

---

१ न्याय मुक्तावली पृ० ४४६

२ सन्निकर्षो को लिए इसी ग्रन्थ का प्रत्यक्ष विमर्श द्रष्टव्य है।

३. न्याय मुक्तावली पृ० ४४७   ४ वही पृ० ४४७-४४८

रूप के उपर्युक्त लक्षण तथा विभाजन से पता चलता है कि रूप से नैयायिकों का तात्पर्य केवल रंग से है, आकार विशेष से नहीं। आकार को नैयायिकों ने अवयव संस्थान विशेष अर्थात् संयोग विशेष माना है, जबकि वेदान्त में आकार को अतद्व्यावृत्ति रूप धर्म ही माना गया है। आकृति चूंकि स्पर्शग्राह्य भी है, अत: नैयायिक उसे रूपान्तर्गत नहीं स्वीकार करते।

न्याय वैशेषिक में पृथ्वी में सातों रूप स्वीकार किये जाते हैं, जबकि जल में केवल अभास्वरशुक्ल तथा तेज में भास्वरशुक्ल ही माने जाते हैं, शेष नहीं।

रस

रसना इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये जाने वाले गुण को रस कहते हैं।[1] यह रस पृथ्वी और जल में विद्यमान रहता है, आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार यह रस ही प्राणियों में जीवन, पुष्टि, बल और आरोग्य का हेतु है।[2] नैयायिकों के अनुसार रस छः प्रकार का है मीठा, खट्टा, नमकीन, कड़ुवा, कषैला, तीता। बैलेंटाइन (Ballantyne) ने कड़ुवा (कटु) और तीता (तिक्त) को परस्पर विरोधी माना है, किन्तु वह उचित नहीं है क्योंकि नीम, करैला आदि का कड़ुआ तथा मिर्च आदि का तीता रस सर्वसामान्य के अनुभव से सिद्ध है।

नैयायिकों ने यद्यपि रूप के प्रसंग में अनेक रूपों के मिश्रित रूप को चित्र कहा था, किन्तु अनेक रसों के मिश्रण को उन्होंने चित्र रस नहीं माना है, उसका कारण यह है कि चक्षु किसी वस्तु के विस्तृत भाग के रूप को एक साथ ग्रहण कर सकती है और इसीलिए उस भाग में अनेक रंगों की सत्ता एक काल में देखी जा सकती है, अत व्याप्यवृत्ति रंग के रूप में चित्र रूप को उन्होंने स्वीकार किया है, किन्तु रसना किसी द्रव्य के विस्तृत भाग का साक्षात्कार नहीं कर सकती उसके द्वारा केवल एक अंश का ही ग्रहण हो पाता है अत किसी द्रव्य के अनेक भागों में स्थित रसों का साक्षात्कार एक साथ संभव नहीं है, अत: उन्हें चित्र रस मानने की आवश्यकता न हुई।

साहित्यशास्त्र में रस विवेचन के प्रसंग में अनेक रसों के मिश्रण को चित्र रस के रूप में पानक रस नाम से चर्चा की गयी है,[3] किन्तु वस्तुत: वहाँ प्रतीति मिश्रण न

---

१. (क) प्रशस्तपादभाष्य पृ० ४५ (ख) कारिकावली १०१

२. प्रशस्तपादभाष्य पृ० ४५ ३ काव्यप्रकाश पृ० ७७

होकर पृथक्-पृथक् काल मे ही होती है, अत. चित्र रस को मानने की आवश्यकता नही होती। यह रस पृथ्वी मे छ प्रकार का तथा जल मे केवल मधुर रहता है।

गन्ध

घ्राण इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये जाने वाले गुण को गन्ध कहते हैं।[1] यह दो प्रकार का है सुरभि और असुरभि। ये दोनो प्रकार के गन्ध अनुभवगम्य है, अत नैयायिको ने इनकी परिभाषा नही की है। उन्होने रस के समान ही गन्ध मे भी चित्र भेद स्वीकार नही किया है। गन्धकी सत्ता केवल पृथ्वी मे है। जल मे प्रतीत होने वाला गन्ध पार्थिव सयोग के कारण पार्थिव ही है।

स्पर्श

केवल त्वचा इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये जाने वाले गुण को स्पर्श कहते है। यह तीन प्रकार का है शीत उष्ण और अनुष्णाशीत[2]। नव्य नैयायिक कठिन और सुकुमार स्पर्श का भी स्पर्श का भेद मानते है। प्राचीन नैयायिको के अनुसार प्रतीत होने वाला कठिन और सुकुमार स्पर्श सयोग का ही प्रकार है, स्पर्श का भेद नही, किन्तु नव्य नैयायिको का कथन है कि चू कि सयोग चक्षुरिन्द्रिय ग्राह्य है, जबकि कठिनता और सुकुमारता चक्षुरिन्द्रिय ग्राह्य नही है, अत इन्हे सयोग नही मानना चाहिए।[3] वस्तुत सयोग सदा ही चक्षुरिन्द्रियग्राह्य हो यह आवश्यक भी नही है क्योंकि जिन द्रव्यो का सयोग हो रहा है वे द्रव्य जिस इन्द्रिय से ग्राह्य होते है, उनमे आश्रित सयोग भी उन इन्द्रियो से ही गृहीत होता है। चक्षुग्राह्य दो पार्थिव द्रव्यो का संयोग चक्षुग्राह्य होगा किन्तु जो द्रव्य चक्षुग्राह्य नही है, उनमे आश्रित सयोग भी चक्षुग्राह्य नही होगा। उदाहरणार्थ हम मन और इन्द्रिय सयोग को ले सकते है, यह कभी चक्षुग्राह्य नही है। इसके अतिरिक्त चक्षु ग्राह्य द्रव्यो के परमाणुओ मे विद्यमान सयोग भी उस स्थिति मे चक्षुग्राह्य नही होता, जबकि उन सयुक्त होने वाले द्रव्यो मे महत्परिमाण न हो, महत्परिमाण न होने के कारण परमाणुद्वय सयोग का प्रत्यक्ष नही होता। इसके साथ ही सयोग को नैयायिको ने दो इन्द्रियो

---

१. प्रशस्तपादभाष्य पृ० ४६ २ प्रशस्तपादभाष्य पृ० ४६.

३. न्याय सिद्धान्त मुक्तावली पृ० ४४६.

द्वारा ग्राह्य माना है।[1] अत. सुकुमार कठिन आदि को गुण (सयोग) मानने पर भी उसे चक्षुग्राह्य होना आवश्यक नही है। तात्पर्य यह है कि सुकुमार एव कठिन के स्पर्श के भेद न मानने मे कोई कारण नही दीखता।

यह स्पर्श केवल पृथ्वी, जल, तेज, और वायु मे ही है, अन्य द्रव्यो मे नही इनमे से जल मे शीत स्पर्श, तेज मे उष्ण स्पर्श तथा वायु और पृथ्वी मे अनुष्णाशीत स्पर्श विद्यमान रहता है।

पाकज गुण—

पृथ्वी मे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पाकज तथा अनित्य है एव पृथ्वी से भिन्न जल तेज और वायु मे अपाकज है। साथ ही नित्य द्रव्य परमाणु मे वही रूपादि नित्य एव अनित्य कार्यद्रव्य मे विद्यमान होने पर वही अनित्य हैं। पृथिवी मे विद्यमान रूपादि को सर्वथा अनित्य मानते हुए 'पार्थिव परमाणु मे विद्यमान गन्ध नित्य है या अनित्य' इस सम्बन्ध मे नैयायिक मौन हैं। क्योकि रूप को नैयायिको ने सलिल आदि मे अपाकज तथा पृथ्वी आदि मे पाकज कहा था[1] चू कि गन्ध सलिल आदि मे नहीं है, अत. यह सामान्य नियम उस पर लागू नही होना चाहिए। यदि गन्ध पार्थिव परमाणु मे नित्य है पाकज नही, तो उसका पृथक् कथन होना चाहिए।

इस प्रसङ्ग मे पाकज का अर्थ विजातीय अग्नि सयोग से उत्पन्न होने वाला गुण है। अग्नि सयोग के कारण पृथ्वी मे पूर्व से विद्यमान अपने रूप रस और स्पर्श नष्ट हो जाते हैं, एव अन्य रूप आदि का जन्म होता है, किन्तु जल और तेज मे इस प्रकार विजातीय तेज सयोग के कारण रूप आदि मे कोई परिवर्तन नही होता। नैयायिको के अनुसार जल के समान ही वायु मे भी विद्यमान आकस्मिक उष्णता पाकज नही है क्योकि, वह प्रतीयमान उष्णता जल अथवा वायु का धर्म नही है, अपितु तेज ही सूक्ष्म रूप से जल अथवा वायु के साथ विद्यमान रहता है। अन्यथा (वह उष्णता जल आदि का धर्म होती तो) अग्नि सयोग का अभाव होने पर उक्त प्रतीत होने वाली उष्णता विलीन न होती, क्योकि पाकज रूपादि अग्नि सयोग का नाश होने पर भी नष्ट नही होते।

रूपादि की पाकज उत्पत्ति के सम्बन्ध मे न्याय और वैशेषिक सम्प्रदायो में

---

१. (क) प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ४४ (ख) भाषा परिच्छेद १०१

परस्पर मौलिक मत भेद हैं। वैशेषिक मत में पाक क्रिया के समय घटगत परमाणु पृथक्-पृथक् हो जाते हैं एव मूल घट का विनाश हो जाता है, सब क्रिया सम्पन्न हो जाने पर अदृष्ट वशात् परिवर्तित रूप आदि वाले परमाणुओ मे पुनः संयोग उत्पन्न होता है, एव सयुक्त परमाणुओ से पुन घट की उत्पत्ति होती है।[1] परमाणुओ मे पाक मानने के कारण इन्हे (वैशेषिको को) पीलुपाकवादी कहा जाता है।[2] न्याय मत में सयोग रहित परमाणुओ मे पाक क्रिया नही मानी जाती अपितु सयुक्त परमाणुओ मे ही मानी जाती है, परिणाम स्वरूप इस मत मे तेज सयोग होने पर घट परमाणुओ के सयोग का नाश नही होता अर्थात् घट मे ही पाक क्रिया एव रूप आदि का परिवर्तन माना जाता है। इनके अनुसार पाक का तात्पर्य 'रूप आदि को परिवर्तित करने वाला विजातीय तेज सयोग है।[3] यह तेज सयोग अनेक प्रकार का है। घट मे यह विशेष प्रकार का सयोग केवल रूप विशेष को ही उत्पन्न करता है, जबकि आम आदि फलो मे विजातीय तेज का सयोग रूप के साथ ही रसगन्ध और स्पर्श चारो मे ही परिवर्तन ला देता है। इस विशिष्ट कार्य का कारण भूत तेज सयोग निश्चय ही घट मे होने वाले तेज सयोग से भिन्न है। इस प्रसग मे विजातीय शब्द का प्रयोग इसलिए किया है, कि स्वर्ण आदि मे होने वाला तेज सयोग चूंकि स्वर्ण के तैजस होने कारण विजातीय नही हैं, अत उसमे पाकज रूपादि उत्पन्न नही होते, यह स्पष्ट हो सके।

वैशेषिको की पाक प्रक्रिया मे घट गत परमाणुओ के विभक्त होने के कारण श्याम घट का विनाश हो जाता है, तथा परमाणुओ मे श्याम रूप का नाश और लाल रूप की उत्पत्ति होती है, तदनन्तर पुनः परमाणुओ मे सयोग होने मे घट की उत्पत्ति होती है। धर्म के विनाश और पुन उत्पत्ति की यह प्रक्रिया वैशेषिको को परमाणु मे पाक मानने के कारण स्वीकार करनी पडती है। उनके अनुसार यदि घट का नाश न माना जाएगा तो सयुक्त एव घनीभूत परमाणुओ के मध्य मे विद्यमान परमाणुओं मे पाक क्रिया सभव न हो सकेगी। विनाश एव पुनः उत्पत्ति की प्रक्रिया के अत्यन्त शीघ्र सम्पन्न होने के कारण यह दृष्टिगत नही हो पाती।

---

१ प्रशस्तपादभाष्य पृ० ४६-४८। न्याय मुक्तावली ४४६, ४५०

२. तर्क दीपिका पृ० ५६-६०

३. तर्क दीपिका किरणावली पृ० ५८

इस पाकज उत्पत्ति और विनाश मे कितना समय लगता है, इस सम्बन्ध में वैशेषिकों मे भी चार मत है। एक वर्ग इस प्रक्रिया मे नौ क्षणो का समय आवश्यक मानता है, दूसरा दस क्षणो का, तीसरा ग्यारह क्षणो का, चौथे मत मे यह कार्य केवल पाच क्षणो मे ही सम्पन्न हो जाता है। इन चार मतो मे नवक्षण की प्रक्रिया अधिकत स्वीकार की जाती है। इस प्रक्रिया मे प्रथम क्षण में अग्नि सयोग से परमाणुओ में कर्म, अन्य परमाणुओ से विभाग, द्वयणुक आरम्भक सयोग का नाश तथा द्वयणुक का नाश होता है। द्वितीय क्षण मे परमाणु मे श्याम रूप आदि गुणो का नाश होता है। तृतीय क्षण में परमाणु में रूप आदि की उत्पत्ति होती है। चतुर्थ क्षण में द्रव्य की पुन उत्पत्ति के अनुकूल परमाणु मे क्रिया उत्पत्ति होती है। पञ्चम क्षण मे परमाणु का पूर्व स्थान से विभाग होता है। षष्ठ क्षण मे पूर्व सयोग का नाश सप्तम क्षण मे परमाणु मे द्रव्यारम्भक सयोग, अष्टम क्षण मे द्वयणुक की उत्पत्ति एव नवम क्षण मे द्वयणुक मे रक्त रूप आदि गुणो की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार श्यामघट मे पाक क्रिया के परिणामस्वरूप (पाकज) रक्त वर्ण की (रूप की) उत्पत्ति मे नव क्षणो का समय लगता है।[1] उपर्युक्त प्रक्रिया मे पूर्व क्रिया की निवृत्ति क्षण मे ही उत्तर क्रिया की उत्पत्ति मानी गयी है, किन्तु यदि पूर्व क्रिया की निवृत्ति के पश्चात् अन्य क्षण मे अन्य क्रिया की उत्पत्ति मानी जाये, अथवा आरम्भक सयोगनाश के अनन्तर विभागजन्य विभाग की उत्पत्ति मानी जाये तो इस सम्पूर्ण प्रक्रिया म नवक्षणों के स्थान पर दस क्षणो की आवश्यकता होगा।[1] अर्थात् उस प्रक्रिया मे प्रथम क्षण मे अग्नि संयोग से परमाणुओ मे कम, इससे परमाणुओ मे विभाग, पुन द्रव्यारम्भक सयोग का नाश एव द्वयणुक का नाश तथा विभागजन्य विभाग की उत्पत्ति होती है। द्वितीयक्षण मे श्यामरूप आदि पूर्व से विद्यमान गुणो की निवृत्ति तथा पूर्व संयोग का नाश होगा। तृतीय क्षण मे परमाणु मे रक्त आदि गुणो की उत्पत्ति एव उत्तर देश से सयोग, चतुर्थ क्षण मे उत्तर देश से सयोग एव उस संयोग से परमाणु मे विद्यमान विभागज विभाग क्रिया की निवृत्ति, पञ्चम क्षण मे अदृष्टयुक्त आत्मा से सयोग एवं द्रव्य आरम्भ के अनुकूल क्रिया की उत्पत्ति, छठे क्षण मे क्रिया द्वारा विभाग, सातवे क्षण मे विभाग के द्वारा पूर्वसंयोग का नाश, आठवे क्षण मे द्रव्य को आरम्भ करने वाले संयोग की

१. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पृ० ४५२-४५३।

१. (क) वही पृ० ४५३। (ख) वैशेषिक उपस्कार पृ० १६३

उत्पत्ति, नवम क्षण मे द्वयणुक की उत्पत्ति एवं दसवें क्षण मे रक्त रूप आदि गुणो की उत्पत्ति होती है।[1] इस प्रक्रिया मे पूर्व प्रक्रिया से केवल इतना ही अन्तर है कि पूर्व प्रक्रिया मे पाचवे क्षण मे पूर्व क्रिया की निवृत्ति और उत्तर क्रिया की उत्पत्ति मानी गयी थी। इस प्रक्रिया मे पाचवे क्षण मे पूर्वक्रिया निवृत्ति एवं छठे क्षण में उत्तर क्रिया की उत्पत्ति मानी गयी है।

उपर्युक्त प्रक्रिया मे प्रथम क्षण मे होने वाली क्रिया द्वयणुक नाश तथा विभागज विभाग दोनो को स्वीकार किया गया है, किन्तु जब इन दोनो की उत्पत्ति दो क्षणो मे मानेंगे, तो कुल प्रक्रिया ग्यारह क्षणो मे सम्पन्न होगी। इस प्रक्रिया मे समय विभाग निम्न लिखित प्रकार से होगा —प्रथम क्षण मे अग्नि सयोग से परमाणुओ मे कर्म, इससे परमाणुओ मे विभाग, पुन द्रव्यारम्भक सयोग का नाश एव द्वयणुक का नाश, द्वितीय क्षण मे विभाग की उत्पत्ति एव श्याम रूप का नाश, तृतीय क्षण मे सयोग का नाश एव रक्त आदि रूप की उत्पत्ति, चतुर्थ क्षण मे उत्तर देश मे सयोग, पञ्चम क्षण में वह्निसयोग मे उत्पन्न विभागज विभागक्रिया की निवृत्ति, छठे क्षण म अदृष्ट युक्त आत्मा से सयोग एव द्रव्य आरम्भ के अनुकूल क्रिया की उत्पत्ति, सातवे क्षण मे क्रिया मे विभाग, आठवे क्षण मे विभाग के द्वारा पूर्व सयोग का नाश नवे क्षण मे द्रव्य को आरम्भ करने वाले सयोग की उत्पत्ति, दसवे क्षण मे द्वयणुक की उत्पत्ति एव ग्यारहवे क्षण मे द्वयणुक मे रक्त रूप आदि गुणो की उत्पत्ति सम्पन्न होती है।[2]

वैशेषिको का एक सम्प्रदाय पाच क्षणो मे ही रूपादि की उत्पत्ति स्वीकार करता है, उसके अनुसार प्रथम क्षण मे अग्नि के सयोग से परमाणु मे कर्म, उन परमाणुओ मे विभाग, द्वयणुक के आरम्भक संयोग का नाश, परमाण्वन्तर मे कर्म, द्वयणुक नाश तथा परमाण्वन्तर कर्मजन्य विभाग सम्पन्न होता है। द्वितीय क्षण मे परमाणु के श्यामरूप आदि का नाश तथा परमाण्वगुन्तरकर्मजन्य विभाग से पूर्व सयोग का विनाश, तृतीय क्षण मे परमाणु मे रक्त रूप की उत्पत्ति एव द्रव्यारम्भक सयोग होता है, इसके अनन्तर चतुर्थ क्षण मे द्वयणुक की उत्पत्ति और पाचवे क्षण मे रक्तरूप की उत्पत्ति होती है[3]। एक अन्य

---

१ न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पृ० ४५३-४५४

२ वही पृ० ४५६-

३ वही पृ० ४५६

सम्प्रदाय द्रव्यनाश के समय परमाण्वन्तर मे कर्म मानता है, उसके अनुसार छः क्षणो मे रक्त रूप की उत्पत्ति की होगी। प्रथम क्षण मे अग्नि सयोग से परमाणु में कर्म, परमाण्वन्तर से विभाग, द्वयणुक के आरम्भक सयोग का नाश तथा द्वयणुक नाश और परमाण्वन्तर मे कर्म होता है। द्वितीय क्षण मे परमाणु गत श्याम आदि रूप का नाश, परमाण्वन्तर मे कर्मज विभाग, तृतीय क्षण मे परमाणु मे रक्त आदि रूप की उत्पत्ति, परमाण्वन्तर मे पूर्वसयोग का नाश, चतुर्थक्षण मे परमाण्वन्तर मे सयोग, पञ्चम क्षण मे द्वयणुक की उत्पत्ति एव छठे क्षण मे रक्त रूप की उत्पत्ति।[1] वैशेषिको की एक अन्य परम्परा उपर्युक्त प्रक्रिया मे श्यामादि रूप नाश के समय परमाण्वन्तर मे कर्म मानती है, फलत रक्तोत्पत्ति की यह प्रक्रिया सात क्षणो मे सम्पन्न होगी। इस प्रक्रिया मे प्रथम क्षणो मे अग्नि सयोग से परमाणु मे कर्म, परमाण्वन्तर से विभाग, द्वयणुकारम्भक सयोग का नाश तथा द्वयणुक नाश, द्वितीयक्षण मे परमाणु गत श्याम आदि रूप का नाश एव परमाण्वन्तर मे कर्म, तृतीयक्षण मे परमाणु मे रक्त आदि रूप की उत्पत्ति तथा परमाण्वन्तर म कर्मजविभाग, चतुर्थ क्षण मे परमाण्वन्तर म विद्यमान पूर्व सयोग का नाश, पञ्चम क्षण मे परमाण्वन्तर से सयोग, षष्ठ क्षण मे द्वयणुक की उत्पत्ति एव सप्तम क्षण मे द्वयणुक मे रक्त रूप आदि की उत्पत्ति होगा।[2] एक अन्य परम्परा परमाणु मे रक्तरूप आदि की उत्पत्ति के समकाल मे परमाण्वन्तर मे कर्म मानती है इसके अनुसार द्वयणुक मे रक्तोत्पत्ति तक आठ क्षणो का समय अपेक्षित होता है। इसके अनुसार प्रथम क्षण म अग्नि सयोग से परमाणु मे कर्म, परमाण्वन्तर से विभाग, द्वयणुकारम्भक सयोग का नाश तथा द्वयणुक का नाश, द्वितीय क्षण मे परमाणुगत श्यामादि रूप का नाश, तृतीय क्षण मे परमाणु मे रक्त आदि रूप की उत्पत्ति तथा परमाण्वन्तर मे कर्म, चतुर्थ क्षण मे परमाण्वान्तर मे कर्मज विभाग, पञ्चम क्षण मे पूर्व सयोग का नाश, षष्ठ क्षण मे परमाण्वन्तर से सयोग, सप्तम क्षण म द्वयणुक की उत्पत्ति एव अष्टम क्षण मे रक्त आदि रूप की उत्पत्ति होती है।[3]

---

१ न्याय मुक्तावली पृ० ४५६-४५७।

२ वही पृ० ४५७।

३ वही पृ० ४५७

नैयायिकों के अनुसार द्व्यणुक आदि में ही पाक की क्रिया सम्पन्न होगी। उनका कहना है कि द्व्यणुक इत्यादि अवयवी छिद्र युक्त है अत, वह्नि के सूक्ष्म अवयव अन्तः प्रविष्ट होकर द्रव्य के स्थिर (अविनष्ट) अवयवों में ही पाक क्रिया करते हैं यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है। इसके अतिरिक्त पिठरपाकवादी नैयायिक घट विनाश पर आपत्ति करते हुए कहते हैं, कि यदि प्रथम घट का नाश होकर अन्य घट की उत्पत्ति होती है, तो यह वही घट है, यह ज्ञान सम्भव न होना चाहिए, साथ ही आम (आवा) में रखे हुए अनेक पात्र ऊपर के पात्रों के आश्रय बने है। यदि नीचे के घट का विनाश हो जाये तो ऊपर रखे हुए पात्र गिर जाने चाहिए, किन्तु पाक के अनन्तर 'यह वही घट है' यह प्रत्यभिज्ञा होती है, तथा आम (आवा) गत सब पात्र गिर नहीं जाते, अत घट विनाश मानना उचित नहीं है।

वैशेषिक सम्प्रदाय के आचार्य उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर अरस्तू की प्रक्रिया अर्थात् प्रश्न के मध्यम से ही देते है। वे कहते है कि एक घट मे किसी नुकीले पदार्थ से कुछ मिट्टी खुरचकर चिह्न बनाने पर उस घट को नवीन घट कहेंगे या प्राचीन? क्योंकि पूर्व घट में विद्यमान परमाणुओं की अपेक्षा वर्तमान घट के परमाणुओं में अन्तर है। फिर इस घट में यह वही घट है यह व्यवहार और प्रत्यभिज्ञा क्यों होती है? अत यहां घटभेद मानना अनुचित नहीं है। यही स्थिति पाक के अनन्तर घट में भी क्यों न मानी जाए?

नैयायिक बिना पूर्व घट नाश के ही रक्त रूप आदि की पाकज उत्पत्ति मानते है, इस सिद्धान्त पर वैशेषिकों का आक्षेप है कि सयुक्त परमाणुओं के अन्तर्गत विद्यमान परमाणुओं में पाक क्रिया एव उनमें रूप इत्यादि की उत्पत्ति किस प्रकार होगी? इसके समाधान के लिए नैयायिकों की ओर से एक लौकिक उदाहरण देखना पर्याप्त होगा --जैसे किसी पात्र में रखते हुए जल का एव उस जल में पड़े हुए अन्न का पाक होता है इसी प्रकार घट गत परमाणुओं का भी पाक सम्पन्न होगा वे परस्पर कितने भी सबद्ध और अन्तर्गत क्यों न हो?

इस प्रकार पीलुपाकवादी वैशेषिक एव पिठरपाकवादी नैयायिकों में पाकज रूप आदि की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में मौलिक मत भेद है। इस प्रसङ्ग में स्मरणीय है कि पीलुपाक को आधार मानकर ही वैशेषिकों ने गन्ध को भी

पाकज तथा अनित्य माना है जब कि नैयायिको ने परमाणु गत गन्ध को नित्य तथा अपाकज एव कार्य द्रव्य मे अनित्य एव पाकज माना है।

इसके अतिरिक्त वैशेषिको का द्वित्व एव विभागज विभाग के सम्बन्ध भी नैयायिको से मौलिक मत भेद है,[1] जिनकी चर्चा यथासमय की जाएगी।

संख्या

'एकत्व आदि व्यवहार की हेतु संख्या है।'[2] यहा हेतु शब्द का तात्पर्य असाधारण निमित्त कारण है, साधारण निमित्त नही क्योकि दिशा और काल प्रत्येक अन्य पदार्थ की उत्पत्ति मे निमित्त कारण है किन्तु वे संख्या नही हैं। निमित्त कारण भी इसी लिए कहा गया है, कि आकाश प्रत्येक वस्तु के व्यवहार का उपादान कारण है।

वैशेषिक मे स्वीकार किये गये सामान्य गुणो मे सख्या सर्व प्रथम है।[3] सामान्य द्रव्य उन्हे कहा जाता है जो किसी एक द्रव्य पर आश्रित नही रहते, नही ही उन्हे किसी द्रव्य की विशेषता (लक्षण) के रूप मे प्रयुक्त किया जा सकता है। सामान्य गुण किसी भी द्रव्य मे या उसके भाग विशेष मे स्थायी रूप से नही रहते किन्तु इनका आरोप मात्र किया जाता है। यह ठीक है कि हम इन गुणो का व्यवहार करते है, किन्तु इन्हे किसी बाह्य द्रव्यो मे वास्तविक रूप से स्वीकार नही करते। हम प्रथम उनकी कल्पना करते है, तभी उनका प्रत्यक्ष करते है। जबकि विशेष गुण वास्तविक रूप से रहते है, प्रत्यक्ष के पूर्व उनका अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होना आवश्यक नही होता। अन्य सामान्य गुणो के समान सख्या भी सर्व प्रथम अपेक्षा बुद्धि से कल्पना मे उत्पन्न होती है और उसके बाद द्रव्य से उसके सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होता है। इसीलिए वैशेषिक द्वित्व आदि सख्या को अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न मानते है। इनके अनुसार द्वित्व मे लेकर परार्ध पर्यन्त सभी सख्याए अपेक्षाबुद्धिजन्य एव अनित्य है। वैशेषिक सूत्रो के भाष्यकार शकरमिश्र तथा न्यायकन्दलीकार श्रीधर के अनुसार द्वित्व त्रित्व आदि से भी भिन्न बहुत्व भी एक सख्या विशेष है।[4] अन्य वैशेषिक बहुत्व सख्या को स्वीकार नहीं करते।

---

१. सर्वदर्शन संग्रह पृ० ८६ २. प्रशस्त पाद भाष्य पृ० ४८

३. (क) वही पृ० ३६ (ख) भाषापरिच्छेद ६१

४. (क) वैशेषिक उपस्कार पृ० १८० (ख) मुक्तावली पृ० ४४६

द्वित्व—

जैसाकि पूर्व प्रकरण मे कहा जा चुका है द्वित्व के सम्बन्ध में भी नैयायिको एवं वैशेषिको मे मतभेद है। नैयायिक एकत्व के समान द्वित्व आदि संख्या को भी द्रव्यसमकाल अवस्थायी मानते है, जबकि वैशेषिको के अनुसार द्वित्व आदि संख्या अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होती है। अपेक्षाबुद्धि का अर्थ है, अनेक वस्तुओ मे अनेकत्व बुद्धि एवं एकत्व बुद्धि।[1] सर्व प्रथम जब दो वस्तुएं हमारे सामने आती हैं, तब हम तत्काल ही उन्हे दो नही कह पाते। प्रथम हम उन दोनो को पृथक् पृथक् एक-एक के रूप मे प्रत्यक्ष करते है पुन: दोनो वस्तुओं की मस्तिष्क मे एक साथ स्थिति उत्पन्न होती है और तभी द्वित्व सामान्य ज्ञान उत्पन्न होता है पुन द्वित्व गुण अर्थात् यह द्वित्व द्रव्याश्रित है, यह ज्ञान उत्पन्न होता है। तदनन्तर संस्कार की उत्पत्ति होती है।[2] त्रित्व आदि की उत्पत्ति का भी यही क्रम है।

ऊपर की पंक्तियो मे कहा गया है कि द्वित्वादि बुद्धि अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होती है, अर्थात् अपेक्षा बुद्धि द्वित्व ज्ञान की उत्पादिका है, ज्ञापका नही, यह इसलिए कि ज्ञाप्य एव ज्ञापक की स्थिति ज्ञात अवस्था से अन्यत्र भी आवश्यक है, किन्तु कार्य और कारण के सम्बन्ध मे यह बात आवश्यक नही है, अपितु इसके विपरीत कार्य की प्रतीति कारणपूर्वक ही होगी साथ ही कारणनाश से कार्य का नाश भी अवश्यमेव होगा। प्रस्तुत प्रसंग मे अपेक्षा बुद्धि की पृथक् रूप से प्रतीति नही होती, नही ही द्वित्व की स्वतन्त्र स्थिति सिद्ध होती है। अत अपेक्षा बुद्धि को ज्ञापक न मानकर कारक मानना ही अधिक उचित होगा। द्वित्व के कार्यत्व की सिद्धि निम्नलिखित अनुमान प्रक्रिया से की जाती है . द्वित्व अपेक्षाबुद्धि का कार्य है, ज्ञापक न होते हुए भी अपेक्षा बुद्धि के अव्यवहित उत्तर मे उपलब्ध होने से, जैसे संयोग के अव्यवहित पर मे उपलब्ध शब्द संयोग का कार्य है।[3] माधवाचार्य के अनुसार 'द्वित्वादि चूंकि दो एकत्वो पर आधारित अ नत्य ज्ञान है, अत. वह व्यग्य नही हो सकते। जैसे अनेकाश्रित पृथक्त्व आदि गुण के कार्य है व्यग्य नही।[4] चूंकि द्वित्वज्ञान अपेक्षाबुद्धि का कार्य है, अत अपेक्षाबुद्धि (कारण) का नाश हो

---

१. भाषापरिच्छेद पृ० १०९ २ सर्वदर्शन संग्रह पृ० ८६।
३. वही पृ० ८६ ४. वही पृ० ८६

जाने से उसका भी नाश हो जाता है।[1] वैशेषिकों के अनुसार द्वित्व की उत्पत्ति में आठ क्षणों का समय लगता है—प्रथमक्षण में उत्पन्न होने वाले द्वित्व के आधार द्रव्यों से इन्द्रिय का सन्निकर्ष, द्वितीय क्षण में दोनों पदार्थों में विद्यमान एकत्व का सामान्यज्ञान, तृतीय क्षण में एकत्व सामान्य से विशिष्ट एकत्वगुण की समूहालम्बनरूप अपेक्षाबुद्धि, चतुर्थ क्षण में द्वित्वगुण की उत्पत्ति, पञ्चम क्षण में द्वित्वगत सामान्य का ज्ञान, छठे क्षण में द्वित्वत्व जाति विशिष्ट द्वित्व गुण का ज्ञान, सप्तम क्षण में द्वित्व गुण विशिष्ट द्रव्य का ज्ञान, एवं आठवें क्षण में संस्कार का जन्म होता है। इस प्रकार इन्द्रिय सन्निकर्ष से लेकर संस्कार के जन्म तक कुल आठ क्षणों का समय व्यतीत होता है।[2]

ऊपर की पंक्तियों में कहा जा चुका है कि कारण अथवा अपेक्षा बुद्धि के नाश से द्वित्व बुद्धि का नाश हुआ करता है। इस नाश की प्रक्रिया निम्नलिखित है:-प्रथम क्षण में अपेक्षा बुद्धि द्वारा एकत्वत्व सामान्यज्ञान का नाश, द्वितीय क्षण में द्वित्वत्व सामान्यज्ञान से अपेक्षाबुद्धि का नाश, तृतीय क्षण में द्वित्व गुण बुद्धि से द्वित्वत्व सामान्यज्ञान का नाश, चतुर्थ क्षण में द्वित्व विशिष्ट द्रव्य बुद्धि से द्वित्व गुण बुद्धि का विनाश एवं पंचम क्षण में संस्कार से अथवा विषयान्तर के ज्ञान से द्वित्व विशिष्ट द्रव्य बुद्धि का नाश हो जाता है।[3] इस प्रकार द्वित्व ज्ञान की प्रक्रिया से विनाश की प्रक्रिया में तीन क्षण का समय कम लगता है।

कभी-कभी आश्रय नाश से भी द्वित्व का नाश होता है उसकी प्रक्रिया यह है—जिस क्षण एक ओर द्वित्व सामान्य की ज्ञान हो रहा है यदि उसी क्षण द्वित्व के आधार अवयवों में विनाश हेतु कर्म प्रारम्भ होता है तो गुणों की उत्पत्ति के समकाल में सयोग नाश, द्वित्वत्व सामान्य ज्ञान के समय द्रव्यनाश होकर एक ओर द्रव्यनाश से सयोगनाश होता है और दूसरी ओर सामान्यज्ञान से अपेक्षाबुद्धि का नाश होता है। इस प्रकार अपेक्षा बुद्धि के नाश के साथ ही द्वित्व का नाश हो जाता है।[4] यदि अपेक्षाबुद्धि का उत्पत्ति काल में द्वित्व के आधार अवयवों में कर्म आरम्भ होता है तो आश्रय और अपेक्षाबुद्धि दोनों के

---

१. भाषापरिच्छेद १०८   २ वैशेषिक उपस्कार भाष्य ७,२,८.
३. वही पृ० १७७   ४. वही पृ०१७८

समकालीन नाश द्वारा ही द्वित्व का नाश होता है उस समय द्वित्व के आधार द्रव्यावयों में कर्म के साथ ही अपेक्षा बुद्धि की उत्पत्ति: विभाग की उत्पत्ति और द्वित्व की उत्पत्ति, सयोगनाश और द्वित्व सामान्यज्ञान तथा द्रव्यनाश और अपेक्षाबुद्धिनाश साथ-साथ होकर दोनो विनाशो के परिणाम स्वरूप द्वित्व नाश रूपी एक कार्य उत्पन्न होता है ।[1] किन्तु यह प्रक्रिया केवल इसी मत में सभव है जब एक उत्पन्न ज्ञान को अन्य-अन्य ज्ञान का विनाशक माना जाए।

सख्या के प्रसग मे एक बात और विचारणीय है कि एकत्वरूप समान सामग्री से कही द्वित्व और कही त्रित्व इत्यादि की उत्पत्ति क्यो होती है ? द्वित्व के प्रति दो एकत्वो त्रित्व के प्रति तीन एकत्वो को भी कारण नही मान सकते क्योकि एकत्व मे द्वित्व त्रित्व आदि सख्या का अभाव है। एकत्व के समवायि कारण मे विद्यमान द्वित्व त्रित्व को भी कारण नहीं मान सकते, क्यो कि उस क्षण तक एकत्व के कारण द्रव्यो मे द्वित्वादि की उत्पत्ति नही हुई है। अदृष्ट विशेष को भी कारण मानना सभव नही है, क्योकि ऐसी स्थिति मे अदृष्ट विशेष से कभी द्वित्व की सामग्री से त्रित्व आदि की भी उत्पत्ति सभव है यह स्वीकार करना होगा। वैशेषिको के अनुसार इस समस्या का समाधान निम्नलिखित है जसे तुल्य सामग्री होने पर भी पाकज रूप रस गन्ध स्पर्श मे भेद होता है उसी प्रकार यहा भ द्वित्व त्रित्व आदि भेद होगा। अथवा शुद्ध अपेक्षा-बुद्धि से द्वित्व की उत्पत्ति, द्वित्व विशिष्ट अपेक्षा बुद्धि से त्रित्व की त्रित्वादि-विशिष्ट अपेक्षा बुद्धि से चतुष्ट्वादि की उत्पत्ति होगी। 'आज उसने सौ शत्रुओ का मारा है' इत्यादि स्थलोपर जहा समवायिकारण नष्ट हो चुका है, द्वित्वादि की उत्पत्ति नही होती किन्तु गौण व्यवहार ही होता है।[2]

वैशेषिक परम्परा मे द्वित्व को अनित्य अर्थात् अपेक्षा बुद्धि के नाश के कारण विनष्ट मानना पढता है उसका कारण पारम्परिक (Technecal) है। चूकि वैशेषिको के अनुसार प्रत्येक ज्ञान व्यापक आत्मा का धर्म है तथा वह केवल तीन क्षण ही स्थित रहता है एव अपने कार्य द्वारा नष्टकर दिया जाता है इसीलिए द्वित्वादि को सर्वत्र अनित्य ही माना जाता है।

परिमाण

मानव्यवहार के असाधारण कारण को परिमाण कहते है। यह चार

१. वही पृ० १७६
२. वैशेषिक उपस्करभाष्य १७६

प्रकार का है अणु, महत्, दीर्घ और ह्रस्व । इन चारो भेदो मे भी **परम और मध्यम** भेद से दो-दो भेद हो जाते है । इसके अतिरिक्त अणु और महत् परिमाण मे **नित्य और अनित्य** भेद से भी दो-दो भेद होते है । इस प्रकार परिमाण के कुल बारह भेद हो सकते है । नित्य आकाश, काल और दिशा मे नित्य **परममहत्परिमाण** है, त्र्यणुक आदि मे **अनित्य** महत्परिमाण है । इसी प्रकार पृथिवी आदि के परमाणुओ मे **नित्य परम अणुपरिमाण** रहता है, इसी को **पारिमाण्डल्य** भी कहते है द्वयणुक मे विद्यमान परिमाण **अनित्य अणु परिमाण** है । कमल, आमलक, और बिल्व आदि मे भी यद्यपि **महत्परिमाण** है, किन्तु उस महत् मे प्रकर्ष के अभाववश गौण रूप से उसे **अणु** भी कह लिया जाता है । दीर्घ और ह्रस्व परिमाण सर्वत्र अनित्य ही है । इनमे **दीर्घ परिमाण** मध्यम-महत्परिमाण से लघु, तथा **ह्रस्व परिमाण** मध्यम अणुपरिमाण से विशाल होता है । न्यायकन्दलीकार के अनुसार **महत् और दीर्घ** को तथा **अणु** और ह्रस्व को सर्वथा अभिन्न मानना चाहिए । काष्ठ इक्षु बास आदि लौकिक पदार्थ यद्यपि **दीर्घ** परिमाण वाले है, किन्तु गौण रूप से इन्हे ह्रस्व भी कह लिया जाता है । अनित्य **परिमाण** सख्या, परिमाण और प्रचय विशेष (सयोग विशेष)[1] पर आधारित हुआ करता है । त्र्यणुक मे उत्पन्न महत्परिमाण द्वयणुको की **सख्या** पर आश्रित रहा करता है । यहा परिमाण के प्रति यदि सख्या को कारण न मानकर द्वयणुक परिमाण को कारण माना जायेगा तो 'परिमाण सदा ही अपने से उत्कृष्ट परिमाण को जन्म देता है इस सिद्धान्त के अनुसार द्वयणुक के अणु परिमाण से उत्पन्न त्र्यणुक का परिमाण अणुतर होना चाहिए । चूकि घट आदि मे विद्यमान परिमाण कारण के **परिमाण** से उत्पन्न है इसीलिए समान सख्या वाले किन्तु भिन्न परिमाण वाले दो कपालो के सयोग से प्रत्येक घट के **परिमाण** मे अन्तर हुआ करता है । इसी प्रकार दो रुई के पिण्डो से उत्पन्न कार्य मे परिमाण प्रचय से उत्पन्न हुआ करता है । इसीलिए समान परमाणु वाले दो-दो रुई पिण्डो से उत्पन्न अनेक कार्य पिण्डो मे प्रचय भेद से परिमाण भेद हुआ करता है । दीर्घत्व और ह्रस्वत्व की उत्पत्ति के नियम भी महत्व और अणुत्व की उत्पत्ति के नियमो के अनुसार ही हैं ।

यहा एक प्रश्न विचारणीय है कि त्र्यणुक आदि मे विद्यमान **महत्व और**

---

१. भाषा परिच्छेद पृ० ११२

दीर्घत्व में तथा द्व्यणुक मे विद्यमान अणुत्व और ह्रस्वत्व मे क्या अन्तर है? इन दोनो को समान ही क्यो न माना जाए? आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार चूंकि महत्परिमाण वाले द्रव्यो मे 'दीर्घ को ले आओ, दीर्घ द्रव्यो मे महत्परिमाण वाले द्रव्यों को ले आओ' इत्यादि लोक व्यवहार होता है अत. महत् और दीर्घत्व को पृथक् मानना ही चाहिए। इसी प्रकार अणुत्व और ह्रस्वत्व का परस्पर भेद भी लौकिक प्रत्यक्ष पर आश्रित है, अत· इनको अस्वीकार नही किया जा सकता।[1] प्रत्येक प्रकार के इन अनित्य परमाणु का नाश कारणनाश से हुआ करता है।

परिमाण के प्रसङ्ग मे एक बात और विचारणीय है कि किसी महत्परिमाण द्रव्य मे एक अवयव विशेष की हानि होने पर अथवा कुछ उपादानो का उपचय होने पर जो परिणामान्तर उत्पन्न होता है, उससे पूर्वपरिमाण का नाश माना जाये अथवा नही? अवयवनाश अथवा उपचय दोनो की स्थिति मे ही चूकि पूर्व परिमाण की प्रत्यभिज्ञा होती अत पूर्व परिणाम की सत्ता माननी ही चाहिए। किन्तु वैशेषिक पूर्व परिणाम का नाश स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि परमाणुओ का विश्लेषण होने पर द्व्यणुक नाश, और उसका नाश होने पर त्र्यणुक नाश और क्रम से महा अवयवी का नाश होता है। इसी प्रकार पट आदि के अवयवो मे उपचय होने पर समवायिकारण के नाश होने पर अवयवी का नाश भी आवश्यक है। कारण यह है कि पट के प्रति तन्तु सयोग को असमवायिकारण माना जाता है, पट तन्तु सयोग को नही अत पूर्व पट और तन्तु सयोग से नवीन पट की उत्पत्ति नही मानी जा सकती, अत तन्त्वन्तर सयोग होने पर तुरी फल वेम (कर्घा) आदि के आघात से पूर्व तन्तुओ के सयोग का नाश मानना आवश्यक है। इस प्रकार अवयव नाश और अवयवान्तर का उपचय होने पर पूर्व अवयवी का और उसके परिमाण का नाश होता है, तदनन्तर अन्य अवयवी की उत्पत्ति और पुन परिमाण की उत्पत्ति होती है।[2] पूर्व द्रव्यविषयक प्रत्यभिज्ञा समान जातीय दीपशिखा के समान होती है[2], जो कि भ्रान्त प्रतीति है।

पृथक्त्व

'यह इससे पृथक् है' इस ज्ञान, कथन और व्यवहार का कारण पृथक्त्व गुण

---

१. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ५६

२. सिद्धान्त मुक्तावली पृ० ४६७-६८

है। यह पृथक्त्व एक द्रव्य और अनेक द्रव्य दोनों पर यथासमय सख्या के समान आश्रित रहता है। पृथक्त्व नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार का है। नित्य द्रव्य पर आश्रित पृथक्त्व नित्य तथा अनित्य द्रव्य पर आश्रित अनित्य है।

पृथक्त्व के सम्बन्ध मे यह शका हो सकती है कि पृथक्त्व को अन्योन्याभाव क्यो न माना जाये ? 'यह घट पट से पृथक् है' तथा यह घट पट नहीं है' इन दो प्रतीतियो मे क्या अन्तर है ? कणाद रहस्यकार के अनुसार पृथक्त्व मे अवधि का निरूपण प्रधान रहता है, जबकि अन्योन्याभाव मे प्रतियोगि का निरूपण। इसी प्रकार 'इदम् इद न', 'इदमस्मात्पृथक्' इत्यादि वाक्य-व्यवहार मे भेद भी पृथक्त्व की पृथक् सत्ता सिद्ध करता है।[1] पृथक्त्व को वैधर्म्य भी नही कह सकते, क्योकि 'लाल श्याम से भिन्न (पृथक्) है' इस प्रतीति मे लाल और श्याम को पृथक् मानते हुए भी विधर्मी नही कह सकते। पृथक्त्व को सामान्य विशेष रूप भी नहीं कह सकते, क्योकि सामान्य विशेष द्रव्य गुण और कर्म इन तीन द्रव्यो मे आश्रित रहता है, जबकि पृथक्त्व गुण होने से केवल द्रव्याश्रित ही है।[2] अत पृथक्त्व अन्योन्याभाव वैधर्म्य अथवा सामान्य विशेष से सर्वथा भिन्न गुण है। गुणो और कर्मों मे पृथक्त्व व्यवहार के कारण पृथक्त्व के गुणत्व का खण्डन नही किया जा सकता, क्योंकि गुण और कर्म मे किया जाने वाला पृथक्त्व व्यवहार केवल गौण व्यवहार है।[3]

पृथक्त्व मे विद्यमान धर्म को पृथक्त्व जाति कहते है, नित्यत्व अनित्यत्व आदि के प्रसग मे यद्यपि पृथक्त्व सख्या नामक गुण से साम्य रखता है, किन्तु प्रशस्तपाद के अनुसार जाति के प्रसङ्ग मे दोनो मे पूर्ण वैषम्य है सख्यात्व एक परसामान्य है, एकत्व द्वित्व त्रित्व आदि उसके अन्तर्गत, (सख्यात्व व्याप्य) जाति है, जबकि पृथक्त्व एक मात्र सामान्य है, इसम पर और अपर नामक भेद नही होते। अर्थात् पृथक्त्व व्यापक जाति के अन्तर्गत एक पृथक्त्व, द्वि पृथक्त्व, त्रिपृथक्त्व आदि व्याप्य जाति (अपर सामान्य) नही होती।[4] यद्यपि आचार्य

---

१. कणाद रहस्यम् पृ० ७५-७६

२. वही पृ० ७६ ३ वही पृ० ७६

४. (क) प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ६० (ख) प्रशस्तपाद विवरण पृ० ६१

उदयन द्वित्वत्वादि जाति न मान कर द्विपृथक्त्व आदि मे ही अवान्तर जाति स्वीकार करते हैं।[1]

संयोग

अनेक अप्राप्त वस्तुओ की प्राप्ति को सयोग कहते है। केशव मिश्र के अनुसार द्रव्य के, अथवा पार्थिव परमाणु मे विद्यमान रूप के असमवायिकारण मे रहने वाली गुणत्व की साक्षाद् व्याप्यजाति से युक्त को सयोग कहते हैं।[2] पूर्व लक्षण की अपेक्षा केशव मिश्र द्वारा दिया गया लक्षण शाब्दिक अधिक है।

यह सयोग तीन प्रकार का है-अन्यतरकर्मज(सयुक्त द्रव्यो मे से किसी एक के कर्म से उत्पन्न), उभयकर्मज, तथा सयोगज। **अन्यतरकर्मज** सयोग पक्षी और वृक्ष के सयोग मे देखा जा सकता है। यहा पक्षी के कर्म से पक्षी और वृक्ष का सयोग उत्पन्न होता है। दो पहलवानो अथवा दो मेषो (भेडो) का सयोग **उभयकर्मज** सयोग है, क्योकि लडते समय दोनो के ही कर्म (प्रयत्न) के कारण दोनो का सयोग होता है। **सयोगज** सयोग के रूप मे शाखा और अगुली के सयोग से उत्पन्न वृक्ष और हाथ का सयोग देखा जा सकता है। यहा अगुली मात्र के कर्म से निश्चल हाथ का वृक्ष के साथ सयोग सयोग से ही उत्पन्न होता है। यह सयोग कारणगत सयोग से उत्पन्न कार्यगत सयोग है। कभी कभी दो तन्तुओ और आकाश के सयोग से द्वितन्तुक आकाश सयोग उत्पन्न होता है। इसी भाति अनेक तन्तुओ और तुरी के सयोग से पट और तुरी का सयोग उत्पन्न होता है। कभी कभी कारण और अकारण के सयोग से कार्य और अकार्य का सयोग उत्पन्न होता है, जैसे प्रथम पृथिवी और जल के परमाणुओ का सयोग होकर तदनन्तर उन दोनो का ही सजातीय परमाणुओ से सयोग होने पर, अथवा द्वयणुक की उत्पत्ति होने पर रूप आदि की उत्पत्ति के समय, कार्यभूत दोनो द्वयणुको का तथा अन्य पार्थिव एव जलीय कार्यद्वयणुको का इतर परमाणुओ से सयोग होता है। इस प्रकार यहा कार्य और अकार्य का सयोग उत्पन्न होता है।

न्याय वैशेषिक के अनुसार सयोग को अव्याप्यवृत्ति कहा जाता है। अव्याप्यवृत्ति का तात्पर्य है कि यह सयोग सम्पूर्ण द्रव्य मे व्यापक न होकर

---

१. (क) वही पृ० ६१ (ख) किरणावली प्रकाश पृ० ९७

२. कणाद रहस्यम् पृ० ७८

एक अवयव मात्र में ही विद्यमान रहता है। सयोग को अव्याप्यवृत्ति मानने का कारण सामान्य अनुभव ही है, क्योंकि हम देखते है कि वृक्ष मूल मे कपि-सयोग होने पर वह सयोग मूल मे ही प्रतीत होता है, तथा शाखा मे कपि सयोग का अभाव ही दीखता है, अत सयोग को अव्याप्यवृत्ति माना जाता है। यद्यपि द्रव्य मे विद्यमान अन्य कोई गुण ऐसा नही है जो अव्याप्यवृत्ति हो, फिर भी इस अलौकिकता को वैशेषिको ने कोई अनुचित नही माना है ।

कणादरहस्यकार शकरमिश्र का कथन है कि सयोग को सम्पूर्ण द्रव्य में व्यापक मानकर भी अव्याप्यवृत्ति मानने मे कोई आपत्ति नही है, क्योकि अवयव मे सयोग उपलब्ध होने पर ही अवयवी मे उसकी उपलब्धि होती है, अन्यथा नही।[1]

परिमाण जिस प्रकार परमाणुओ मे नित्य है उसी प्रकार सयोग भी उनमे नित्य हो ऐसी बात नही है। प्रशस्तपाद का कथन है कि यदि कणाद को नित्य सयोग अभीष्ट होता, तो जैसे चार प्रकार के परिमाण के बाद उन्होने नित्य परिमाण का कथन किया था उसी प्रकार नित्य सयोग का भी उल्लेख करते।[2]

विभु आकाश और परमाणुओ का सयोग अन्यतर कर्मज है। दो अथवा अनेक विभुद्रव्यो का सयोग नही माना जाता इसके दो कारण हो सकते है। प्रथम यह कि दो विभुद्रव्यो मे विभुत्व के कारण ही सयोग के उत्पादक कर्म का अभाव है। दूसरा यह कि सयोग की परिभाषा के अनुसार अप्राप्त दो पदार्थों की प्राप्ति को सयोग कहा जाता है, किन्तु दो विभु द्रव्यो को कभी भी अप्राप्त स्थिति मे नही देखा जा सकता है, अत उनका सयोग भी नही माना जा सकता।

प्रशस्तपाद के अनुसार सयोग मे द्रव्य गुण और कर्म की उत्पत्ति होती है, जैसे दो अवयव द्रव्यो अर्थात् समवायिकारणो मे सयोग होने से द्रव्य की, आत्मा और मन के सयोग से बुद्धि की, भेरी और आकाश के सयोग से शब्द की, तथा प्रयत्न युक्त आत्मा और हाथ का सयोग होने पर हाथ मे कर्म की उत्पत्ति होती है।

सयोग का विनाश कभी विभाग से और कभी आश्रय द्रव्यो के विनाश से होता है ।

---

१. कणाद रहस्यम् पृ० ८० २. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ६५

विभाग

एकत्र प्राप्त दो वस्तुओं की अप्राप्ति को विभाग कहते है। सयोग के समान विभाग के भी तीन प्रकार हैं, अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और विभागज। विभागज विभाग दो प्रकार का है—कारण विभाग तथा कारण अकारण विभाग से उत्पन्न।[1] अन्यतरकर्मज विभाग पक्षी और वृक्ष का है जो विभज्यमान पक्षी और वृक्ष मे अन्यतर पक्षी के कर्म से उत्पन्न है। उभय कर्मज दो मल्लो (पहलवानो) अथवा दो मेषो मे द्रष्टव्य है जहा विभाग के प्रति दोनो ही क्रियाशील हैं। कारण विभागज विभाग कपाल और आकाश के विभाग मे है, जबकि वह घट के कारण कपालो के विभाग से उत्पन्न है। उसकी प्रक्रिया यह है कि सर्व प्रथम एक कपाल मे कर्म उत्पन्न होता है उससे दोनो कपालो मे विभाग, तदनन्तर घट के कारण भूत सयोग का नाश, उसके अनन्तर घट का विनाश उत्पन्न होता है। उसके अनन्तर उसी कपालविभाग से कर्म सहित कपाल से आकाश का विभाग उत्पन्न होता है एव उससे ही कपाल आकाश का सयोग नाश तथा अन्यत्र आकाश से सयोग एव तदनन्तर कर्म का नाश होता है। इस प्रसग मे एक ही कर्म से कपालद्वय का विभाग तथा आकाश और कपाल का विभाग नही माना जा सकता, क्योकि जो कर्म आरम्भक सयोग का विनाश करने वाले विभाग को जन्म देता है उसे ही अनारम्भक सयोग के विनाशक विभाग का भी कारण माना जाए यह परस्पर विरुद्ध बात होगी। आरम्भक सयोग और अनारम्भक सयोग के प्रतियागी को समान मानना तो कमल की कली के विकास और विनाश को समान मानने के सदृश है।

द्वितीय विभागज विभाग (कारण और अकारण से उत्पन्न विभाग) हाथ की क्रिया से उत्पन्न शरीर और वृक्ष का विभाग है, क्योकि इन प्रकार के स्थलो पर हाथ मे क्रिया उत्पन्न होती है, उसके फलस्वरूप हाथ और वक्ष मे विभाग उत्पन्न होता है। इस विभाग के कारण ही वृक्ष और शरीर मे विभाग की प्रतीति होती है। इस विभाग के लिए हाथ की क्रिया को व्यधिकरण होने के कारण हेतु नही माना जा सकता है। इस क्रिया का आधार अवयव हाथ ही है शरीर नही, क्योकि क्रिया को अव्याप्यवृत्ति मानाजाता है, अवयवी शरीर मे क्रिया होने पर सम्पूर्ण शरीर मे उसकी उपलब्धि अनिवार्य

---

१. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ६७

होगी। अत 'कारण अकारण विभाग से कार्य अकार्य विभाग उत्पन्न होता है' यही मानना उचित है।

अन्नभट्ट ने सयोग के नाशक गुण को विभाग माना है। उसका कारण यह है कि विभाग पूर्व आचार्यों के अनुसार भी पूर्वत प्राप्त की अप्राप्ति का ही नाम है, तथा यह विभाग एक परमाणु मे तो सभव नही है, क्योंकि सयोग पृथक्त्व परत्व अपरत्व एव द्वित्वादि सख्या के समान विभाग भी अनेकद्रव्यवृत्ति है, तथा परमाणु के अतिरिक्त अन्य सभी द्रव्य जिनमे कि विभाग सभव है, वैशेषिक के अनुसार परमाणुओ के सयोग से ही बने है। फल-स्वरूप विभाग के उत्पन्न होने से पूर्व उत्पन्न द्रव्य के कारणो मे विभाग की उत्पत्ति आवश्यक है, और इसी आधार पर अन्नभट्ट की परिभाषा को अनुचित नही कहा जा सकता।

सयोग के प्रतियोगी होने के कारण विभाग को सयोग का अभाव ही क्यो न माना जाए ? यह प्रश्न हो सकता है, किन्तु यह शका उचित न होगी, क्योकि रूपादि मे भी सयोग का अत्यन्ताभाव ही तो है, अत रूप आदि मे विभाग लक्षण की अतिव्याप्ति की सम्भावना से सयोगाभाव को विभाग नही कहते। रूपादि मे अतिव्याप्ति निवारण के लिए द्रव्यवृत्ति विशेषण विशिष्ट सयोगाभाव को विभाग कहना भी उचित नही है, क्योंकि द्रव्यगत अवयव का अभाव अवयवी मे तथा अवयवी का अभाव अवयव मे विद्यमान रहता है। सयोग के प्रध्वसाभाव को भी विभाग कहना उचित नही है, क्योंकि दो सयोगियो मे से एक सयोगी का नाश होने पर सयोग का प्रध्वसाभाव तो होगा किन्तु उसे विभाग नही कह सकते। 'दो सयोगियो मे विद्यमान प्रध्वसाभाव को विभाग कहा जाए, यह भी उचित नही है, क्योकि द्वित्व सख्या अपेक्षाबुद्धि-जन्य होने के कारण क्षणिक (अस्थायी) है, अत इन सभी से भिन्न विभाग को एक स्वतन्त्र गुण मानना ही अधिक उचित समझा गया है।

यह विभाग गुण विभक्त प्रतीति विभागज शब्द तथा विभागज विभाग का कारण भी होता है।

परत्व और अपरत्व

पर और अपर व्यवहार का कारण परत्व और अपरत्व है। यह दो प्रकार का है दैशिक और कालिक। किसी देश मे स्थित दो वस्तुओ मे एक व्यक्ति

---

१. तर्क सग्रह पृ० ६४।

(द्रष्टा) को किसी निकटस्थ वस्तु की अपेक्षा 'यह दूर है' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान के अनुसार किसी देश विशेष (दिशा विशेष) से **संयोग** को आधार मानकर परत्व की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार किसी एक आधार की अपेक्षा 'यह निकट है' इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होना है' उस ज्ञान के अनुसार किसी देश विशेष को आधार मानकर **अपरत्व** बुद्धि उत्पन्न होती है इस **परत्व और अपरत्व** का आधार चूंकि देश विशेष है, अत इन परत्व और अपरत्व को **दैशिक या दिक्कृत परत्व अपरत्व** कहा जाता है।

इसी प्रकार वर्तमान काल को आधार मानकर भिन्न-भिन्न समय मे उत्पन्न दो वस्तुओ या व्यक्तियो मे वर्तमान काल से एक की अपेक्षा अधिक दूर अर्थात् पूर्व मे उत्पन्न वस्तु आदि को '**पर**' तथा उसकी अपेक्षा निकट अर्थात् पश्चात् उत्पन्न वस्तु आदि को '**अपर**' कहा जाता है। चूंकि इस **परत्व और** अपरत्व का आधार देश विशेष या दिशा विशेष न होकर काल विशेष है, अत इस परत्व और अपरत्व को **कालिक परत्व अपरत्व** कहा जाता है।

उपर्युक्त परत्व और अपरत्व के आधार भूत स्तम्भ तीन है **अपेक्षा-बुद्धि**, देश विशेष या काल विशेष से **संयोग**, तथा **परत्व अपरत्व के आश्रय** भूत द्रव्य।

ये परत्व और अपरत्व दोनो ही अनित्य है, विनाशशील है। इनका विनाश उपर्युक्त आधार भूत स्तम्भो मे से किसी एक का, किन्ही दो का, अथवा तीनो का विनाश होने से होता है। इस प्रकार इनके विनाश के सात कारण हो सकते है (१) अपेक्षा बुद्धि का नाश, (२) संयोग का नाश, (३) आश्रय द्रव्य का नाश (४) द्रव्य और अपेक्षाबुद्धि का नाश, (५) द्रव्य और संयोग का नाश (६) संयोग और अपेक्षा बुद्धि का नाश, तथा (७) अपेक्षा बुद्धि, संयोग और आश्रय द्रव्य तीनो का नाश।[1] इन कारणो के होने पर परत्व और अपरत्व के विनाश की प्रक्रिया निम्नलिखित है —

१ **अपेक्षा बुद्धि** के नाश से परत्व या अपरत्व का नाश उत्पन्न परत्व मे जिस समय सामान्य बुद्धि उत्पन्न होती है, उसी क्षण एक ओर अपेक्षाबुद्धि का विनाश प्रारम्भ होता है तथा दूसरी ओर सामान्य ज्ञान और उसके सम्बन्ध से **परत्वगुणबुद्धि** की उत्पत्ति प्रारम्भ होती है। दूसरे क्षण अपेक्षाबुद्धि की उत्पत्ति होती है, तथा इसी समय **अपेक्षाबुद्धि** के विनाश से गुण का विनाश

१. कणादरहस्यम् पृ० ८८

प्रारम्भ होता है, साथ ही गुण ज्ञान और उसके सम्बन्ध ज्ञान से द्रव्य बुद्धि की उत्पत्ति प्रारम्भ होती है। तीसरे क्षण द्रव्य बुद्धि की उत्पत्ति और परत्व गुण का नाश हो जाता है।

२ **संयोग विनाश से परत्व आदि का विनाश** प्रथम क्षण मे अपेक्षा बुद्धि उत्पन्न होने के समय ही **परत्व गुण** के आश्रय भूत द्रव्य मे कर्म उत्पन्न होता है, तथा उसी कर्म मे दिशा अथवा काल से पिण्ड का विभाग एव **अपेक्षाबुद्धि** से **परत्व** की उत्पत्ति होती है। दूसरे क्षण सामान्य बुद्धि एव दिशा आदि और पिण्ड के सयोग का नाश उत्पन्न होता है। इसके अनन्तर तीसरे क्षण परत्वगुणबुद्धि उत्पन्न होती है, तथा उसी क्षण दिशा आदि और पिण्ड के विनाश से परत्व आदि गुण का नाश हो जाता है।

३ **आश्रय द्रव्य के विनाश से परत्व आदि का विनाश**–परत्व के आश्रय भूत द्रव्य के अवयव मे कर्म उत्पन्न होता है, तथा जिस क्षण एक अवयव का अवयवान्तर से विभाग होता है, उसी क्षण मे अपेक्षाबुद्धि उत्पन्न होती है। दूसरे क्षण विभाग मे अवयवो मे सयोग का विनाश तथा परत्व गुण की उत्पत्ति होती है। तीसरे क्षण सयोग के विनाश से द्रव्य का विनाश तथा आश्रय के विनाश से उसके आश्रित परत्व आदि गुणो का विनाश हो जाता है।

४ कभी-कभी **आश्रय, द्रव्य और अपेक्षा बुद्धि** दोनो के नाश से परत्वगुण का नाश होता है। उसमे प्रथम क्षण मे परत्व आदि के आश्रय द्रव्य मे कर्म उत्पन्न होता है, साथ ही अपेक्षा बुद्धि का भी जन्म होता है, एव कर्म द्वारा एक ओर अवयवो मे विभाग होता है, और दूसरी ओर **परत्वगुण** की उत्पत्ति। दूसरे क्षण अवयव विभाग से द्रव्यारम्भक सयोग का नाश, सामान्य बुद्धि की उत्पत्ति, सयोग के नाश से **द्रव्य का विनाश** तथा सामान्य बुद्धि से **अपेक्षाबुद्धि** का नाश होता है। तृतीय क्षण मे **द्रव्य विनाश और अपेक्षाबुद्धि के नाश से परत्व** गुण का नाश होता है।

५ **आश्रय द्रव्य और सयोग के नाश से परत्व नाश**—प्रथम क्षण मे परत्व के आश्रय द्रव्य के अवयवो मे कर्म की उत्पत्ति, अवयवान्तर से विभाग, साथ ही पिण्ड मे कर्म और अपेक्षाबुद्धि की उत्पत्ति, तथा इसी समय परत्व की उत्पत्ति एव अवयव विभाग से द्रव्यारम्भक सयोग का विनाश तथा पिण्ड के कम से दिशा और पिण्ड का विभाग होता है। दूसरे क्षण **सामान्यबुद्धि**

की उत्पत्ति के साथ ही द्रव्यारम्भक सयोग नाश से पिण्ड का विनाश एव परत्व सामान्य-ज्ञान की उत्पत्ति तथा तृतीय क्षण मे पिण्डविनाश मे दिशा और पिण्ड के सयोग का विनाश तदनन्तर परत्वसामान्यबुद्धि के उत्पन्न होने साथ ही पिण्ड विनाश तथा पिण्ड और दिशा के सयोगविनाश के कारण परत्व गुण का विनाश हो जाता है।

६. सयोग नाश और अपेक्षाबुद्धि नाश से परत्व का नाश होने मे प्रशस्त पाद के अनुसार केवल दो क्षण ही लगते है।[1] प्रथम क्षण मे परत्व की उत्पत्ति और परत्व के आधार पिण्ड मे कर्म का जन्म, उसी समय सामान्यबुद्धि और दिशा एव पिण्ड मे विभाग तथा अपेक्षा बुद्धि का विनाश और दिशा एव पिण्ड के सयोग का विनाश होकर दूसरे क्षण परत्व नाश हो जाता है।

७ तीनो का नाश होने पर प्रथम क्षण मे अपेक्षाबुद्धि एव परत्व की उत्पत्ति तथा उसी क्षण आश्रयअवयव मे कर्म उत्पन्न होने से अवयव मे विभाग साथ ही अवयव मे विभाग के कारण पिण्ड मे कर्म की उत्पत्ति होता है। दूसरे क्षण परत्वसामान्यज्ञान, आश्रयद्रव्य के अवयवो मे सयोग का नाश तथा दिशा से द्रव्यपिण्ड का विभाग उत्पन्न होता है। तृतीय क्षण मे अपेक्षाबुद्धि-नाश द्रव्यनाश तथा दिशा और पिण्ड के सयोग के नाश से परत्व आदि का नाश होता है।

इस प्रकार दैशिक और कालिक दोनो प्रकार के ही परत्व एव अपरत्व अनित्य है तथा प्रत्येक की नाश प्रक्रिया समान ही है।

गुरुत्व

आदि पतन के असमवायिकारण को गुरुत्व कहते है। यद्यपि सूत्रकार कणाद एवं भाष्यकार प्रशस्तपाद ने 'आदि' विशेषण न देते हुए पतन के कारण को ही गुरुत्व कहा था,[2] किन्तु चूकि पतन आदि क्रियाओ के प्रति **वेग रूप सम्कार** भी कारण होता है अत अतिव्याप्ति से बचने के लिए परवर्ती वैशेषिको ने पतन का तात्पर्य आद्य पतन माना है।[3] यह पतन पृथिवी और

१ प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ८२।

२ (क) वैशेषिक सूत्र पृ० १८७,१९८, २०१ (ख) प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १३३

३. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पृ० ५२६

जल इन दो द्रव्यो मे विद्यमान रहता है । यद्यपि धूम भी पृथिवी और जल से भिन्न नही है, तथा धूम मे पतन के स्थान पर ऊर्ध्वगमन की प्रतीति होती है, तथापि 'आदि पतन का असमवायिकारण होना' लक्षण को दोषयुक्त नही माना जाता, क्योकि धूम के ऊर्ध्वगमन के अनेक कारण सभव है जैसे – (१) गुरुत्व का अपकर्ष, (२) वह्निप्रेरित कारणपवन की प्रेरणा अथवा अभिघात, अथवा (३) अदृष्ट विशेष, अथवा (४) ऊर्ध्वगमन शील अग्नि की प्रेरणा ।

गुरुत्व को अतीन्द्रिय माना जाता है। यद्यपि किसी द्रव्य को हाथ मे लेने पर हाथ के अवनमन तथा सुवर्ण आदि मे 'इसका इतना गुरुत्व है' इत्यादि प्रतीति के कारण गुरुत्व के अतीन्द्रिय होने मे सन्देह हो सकता है किन्तु वह सन्देह उचित न होगा, क्योकि हाथ आदि त्वगिन्द्रियगम्य ही है, अत यदि यहा गुरुत्व की प्रतीति मानी जाएगी तो वह त्वाचप्रत्यक्षजन्य ही होगी, इस प्रकार गुरुत्व को त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष मानने पर सर्वत्र त्वगिन्द्रिय से पार्थिव एव जलीय पदार्थों का सन्निकर्ष होने पर उसका प्रत्यक्ष होना चाहिए किन्तु वह नही होता, अत जहा गुरुत्व प्रतीत होता है, वहा 'हाथ आदि के अवनमन से गुरुत्व का अनुमान होता है, यही स्वीकार करना चाहिए, न कि प्रत्यक्ष, क्योकि तुला द्वारा भी उन्नमन और अवनमन के द्वारा ही हम गुरुत्व को जान पाते है ।

गुरुत्व के प्रसग मे एक प्रश्न और उठता है कि अवयवद्रव्य और अवयवी-द्रव्य मे गुरुत्व समान है, या अवयवी मे अधिक ? चूकि वैशेषिकों के अनुसार अवयव से भिन्न अवयवी की सत्ता है, अत अवयव के गुरुत्व से अतिरिक्त गुरुत्व भी अवयवी मे विद्यमान है ऐसा मानना ही चाहिए। उनके अनुसार अवयवी मे गुरुत्वातिशय के कारण अतिरिक्त अवनमन भी होता है, किन्तु जैसे प्रस्तर आदि के मान के समय अल्पकाष्ठ के अधिक रखने से होता हुआ अतिरिक्त अवनमन भी प्रतीत नही होता' उसी प्रकार यहा भी वह (अवनमन विशेष) प्रतीत नही होता यह मानना अस्वाभाविक न होगा ।

गुरुत्व का सयोग प्रयत्न और सस्कार से विरोध है फलस्वरूप गुरुत्व की अल्पता होने पर गुरुत्व के कार्य पतन का अभाव हो सकता अथवा उसकी

---

१. कणाद रहस्यम् पृ० १२८

अधिकता होने पर संयोग, प्रयत्न और संस्कार का अथवा इनके कार्यों का नाश हो सकता है। जैसे दोला मे चढे हुए व्यक्ति का प्रतिबन्धक सयोग होने के कारण पतन नही होता। विधारक प्रयत्न से प्रतिबन्ध के कारण शरीर का पतन नही होता। इसी प्रकार वेगरूप सस्कार के कारण भी फके हुए बाण इत्यादि का वेग के विद्यमान रहने तक पतन नही होता। यह गुरुत्व परमाणु मे नित्य तथा कार्य मे कारण गुण पूर्वक विद्यमान रहता है।

द्रवत्व

स्पन्दन (टपकना) क्रिया के प्रति असमवायिकारण गुण को द्रवत्व कहते है। गुरुत्व लक्षण के समान ही यहा भी आद्य विशेषण का प्रयोग वेग मे अतिव्याप्ति निवारण के लिए किया जा सकता है। यह द्रवत्व दो प्रकार का है— सासिद्धिक (स्वाभाविक), और नैमित्तिक (किसी निमित्त विशेष से उत्पन्न)। सासिद्धिकद्रवत्व केवल जल मे विद्यमान रहता है, तथा नैमित्तिक पृथिवी और तेज मे। जलीय परमाणुओ मे विद्यमान सासिद्धिकद्रवत्व नित्य तथा कार्यजल मे विद्यमान द्रवत्व कारणद्रवत्व पूर्वक है, तथा अनित्य है। नैमित्तिक द्रवत्व सदा ही अनित्य है। पार्थिव द्रवत्व घृत मे तथा तैजस द्रवत्व सुवर्ण आदि मे देखा जा सकता है।

सुवर्ण मे विद्यमान द्रवत्व को तैजस माननेका कारण यह अनुमान है '(द्रवत्व विशिष्ट) सुवर्ण तैजस है अत्यधिक तेज सयोग होने पर भी अनुच्छिद्यमान द्रवत्व होने से'।[१] घृत को पार्थिव मानने का कारण उसमे विद्यमान गन्ध है। चूंकि जल मे द्रवत्व स्वाभाविक होता है, अत स्वाभाविक से भिन्न (नैमित्तिक) होने से घृत का द्रवत्व जलीय नही है। तथा तैजस द्रवत्व अग्नि सयोग से नष्ट नही होता, जबकि घृत का द्रवत्व अग्नि सयोग से प्रज्वलित हो जाता है, अत यह तैजस द्रवत्व से भी भिन्न है, निदान गन्ध का समवायिकरण होने से इसे पार्थिव स्वीकार किया जाता है। अब प्रश्न है तेज गत द्रवत्व का चूंकि यह द्रवत्व सासिद्धिक है, अत इसे पार्थिव और तैजस द्रवत्व से भिन्न होना चाहिए, साथ ही इसमे दाह के प्रति अनुकूलता है अत. इसे जलीय द्रवत्व से भिन्न होना चाहिए। तो क्या इस द्रवत्व को पार्थिव तैजस और जलीय द्रवत्व से भिन्न माना जाए ? वैशेषिको का उत्तर है नही, तैलगत यह द्रवत्व उपष्टम्भक जलीय द्रवत्व है। इसमे दाह के प्रति अनुकूलता

---

१. न्याय मुक्तावली पृ० १७६

स्नेह के उत्कर्ष के कारण है, सामान्य जल मे इस उत्कर्ष का कारण दाह के प्रति अनुकूलता नही होती । इस प्रकार तेलगत द्रवत्व जलीय है ।[1] यह आश्चर्य स्मरणीय है कि वैशेषिक घृत को पार्थिव तथा तेल को जलीय मानते है जबकि गन्धवत्व दोनो मे समान है। वैज्ञानिक प्रक्रिया के द्वारा जब तेल को जमा दिया जाता है, तो तेल का द्रवत्व भी घृत के द्रवत्व के समान ही नैमित्तिक भी हो जाता है, इस स्थिति मे एक को पार्थिव तथा दूसरे को जलीय स्वीकार करना कितना विचित्र है । उचित तो यह था कि या तो दोनो को ही पार्थिव माना या जलीय । सभवत वैज्ञानिक प्रक्रिया मे परिचित न होने के कारण ही उन्होने एक को जलीय तथा अन्य का पार्थिव माना है ।

नैमित्तिक द्रवत्व की उत्पत्ति की प्रक्रिया पाकज रूपादि की उत्पत्ति की प्रक्रिया के समान ही है, अर्थात् अग्नि के प्रेरण अथवा अभिघात से घृतादि के आरम्भक परमाणुओ मे कर्म की उत्पत्ति होती है, उससे परमाणुओ मे परस्पर विभाग, उसमे आरम्भक सयोग का नाश, उससे द्व्यणुक का नाश तदनन्तर परमाणु मे द्रवत्व की उत्पत्ति पुन कर्म से उत्पन्न विभाग जनक सयोग से द्व्यणुक की उत्पत्ति एव तदनन्तर कारणगुण पूर्वक द्रवत्व की उत्पत्ति होती है ।

ओले और वरफ मे विद्यमान काठिन्य को देखकर प्रश्न उपस्थित होता है कि उसमे विद्यमान द्रवत्व सासिद्धिक और जलीय है अथवा नैमित्तिक और पार्थिव ? वैशेषिक इनमे शीत स्पर्श के कारण इन्हे जलीय ही मानते है ।[2] इनमे विद्यमान कठोरता भी अदृष्टकृत प्रतिबन्ध (अथवा वैज्ञानिक प्रतिबन्ध) के कारण है, जो कि सासिद्धिक द्रवत्व ही है ।

स्नेह

सग्रह शरीरशुद्धि एव मृदुत्व का हेतु स्नेह गुण कहा जाता है । यह स्नेह जलीय परमाणुओ मे नित्य तथा कार्य जल मे कारण स्नेह पूर्वक विद्यमान रहा करता है, स्नेह के लक्षण मे संग्रह का तात्पर्य है चूर्ण पार्थिव द्रव्य के पिण्डी भाव का हेतु सयोग विशेष । उद्वर्तन आदि द्वारा साध्य शरीर की शुद्धि भी स्नेहसाध्य ही है ।

---

१. कणादरहस्यम् पृ० १२८-१२६

१ (क) प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १३५ (ख) प्रशस्तपाद विवरण पृ० १३५ (ग) तर्क सग्रह पृ० ६७

चूंकि स्नेह जल का ही गुण माना गया है, अत: पार्थिव घृत मे विद्यमान स्नेह कैसा है ? घृत को नैमित्तिक द्रवत्व के कारण जहा पार्थिव माना जाता है, वही जलमात्रवृत्ति स्नेह के कारण जलीय क्यो न माना जाए ? वैशेषिको के अनुसार इस समस्या का समाधान यह कि घृत मे विद्यमान द्रवत्व तो पार्थिव है किन्तु उसमे विद्यमान सग्राहकता स्निग्ध होने के कारण जलीय भाग है। 'घृत स्निग्ध है' यह प्रतीति तो परम्परा सम्बन्ध के कारण है।[1] घृत मे विद्यमान द्रवत्व को नैमित्तिक होने के कारण जलीय द्रवत्व से विजातीय अर्थात् पूर्व उपस्थित किये गये तर्कों के आधार पर पार्थिव ही माना जाएगा।

—:शब्द —

श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य गुण को शब्द कहते है। शब्द का आश्रय द्रव्य आकाश है। नैयायिको के अनुसार शब्द अनित्य है,[2] क्योकि यदि शब्द नित्य होता तो सदा उसका ग्रहण होता, किन्तु शब्द की उत्पत्ति के समय से भिन्न समय मे उसका ग्रहण नही होता, अत: वह अन्य क्षण मे नही है, यह मानना ही उचित है। 'कार्य घट के समान शब्द भी अनित्य है, कार्य होने से,' इस अनुमान के द्वारा भी शब्द का अनित्यत्व सिद्ध होता है। शब्द का कार्यत्व तो 'अभी शब्द उत्पन्न हुआ' 'शब्द उत्पन्न हो रहा है' इत्यादि प्रतीति से ही सिद्ध है। शब्दो को नित्यमान कर शब्द की उत्पत्ति को अभिव्यक्ति नही कह सकते, क्योकि शब्द का विनाश हम प्रत्यक्षत ही देखते है, अत शब्द को अनित्य ही मानना चाहिए।

वैयाकरणो के अनुसार शब्द अनित्य न होकर नित्य ही है।[4] इसके लिए वे शब्द के लिए प्रयुक्त होने वाले 'अक्षर' शब्द को प्रमाण के रूप मे स्वीकार करते है।[5] मीमांसा मे भी शब्द को नित्य माना गया है, उनके अनुसार उच्चारण के लिए किये गये प्रयत्नो से शब्दो की उत्पत्ति नही, अपितु व्यञ्जना होती है।[6] साख्य दर्शन के अनुसार भी शब्द नित्य ही है।[7]

१ कणाद रहस्यम् पृ० १३०

२ (क) प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १४४ (ख) भाषा परिच्छेद १६८

३. कणादरहस्यम् पृ० १४६ ४. वाक्यपदीयम् १ १

५ व्याकरण महाभाष्य १ १ २. । ६ जैमिनीय न्याय माला १ १ ५०.

७. साख्यदर्शन ५.६०

नैयायिको के अनुसार उत्पन्न शब्द का विनाश द्वितीय क्षण मे कार्य शब्द के द्वारा हो जाता है, किन्तु अन्तिम शब्द का नाश उपान्त्य शब्द द्वारा अथवा उपान्त्य शब्द के नाश द्वारा होता है।[1] शब्द दो प्रकार के हैं—ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक। वर्णात्मक शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे वैयाकरणो और नैयायिको मे प्राय समान विचार है। वैयाकरणो के अनुसार 'विवक्षा होने पर आत्मा बुद्धि के साथ बाह्य अर्थों का अवधारण कर मन को प्रेरित करता है। मन शरीराग्नि को प्रेरणा देता है, तथा शरीराग्नि वायु को प्रेरित करती है, हृदय मे विचरणशील वह वायु गतिशील होकर मन्द्र स्वर को जन्म देता है, तथा वह स्वर कण्ठ तालु आदि विभिन्न उच्चारण स्थानो मे विभक्त होकर अवर्ण आदि विविध वर्णों के रूप मे उत्पन्न होता है।[2] नैयायिको के अनुसार वर्ण स्मृति विशिष्ट आत्मा और मन के सयोग से वर्णोच्चारण की इच्छा उत्पन्न होती है, तदनन्तर कोष्ठस्थ वायु और आत्मा का सयोग होता है फलस्वरूप वायु ऊपर को उठता हुआ कण्ठ तालु आदि स्थानो पर अभिघात करता है। फलत कण्ठ मे वायु के अभिघातरूप निमित्त से कण्ठ और आकाश मे सयोग उत्पन्न होता है, तथा इसी कण्ठ और आकाश के सयोगरूप असमवायिकारण से **अकार कवर्ग हकार और विसर्जनीय** वर्णों की उत्पत्ति होती है,[3] इसी प्रकार अन्य स्थानो मे वायु का अभिघात होने पर अन्य वर्णों की उत्पत्ति होती है। ध्वन्यात्मक (अवर्णात्मक) शब्दो की उत्पत्ति भेरी दण्ड आदि के सयोग से अथवा वश आदि मे दलद्वय मे विभाग होने से होती है।

यह प्रकार तो आदि शब्द की उत्पत्ति का है। चूकि शब्द अनित्य है, इसलिए उत्पन्न आदि शब्द ही श्रवणेन्द्रिय तक नही पहुच सकते, अत नैयायिको की मान्यता है कि **आदि शब्द** प्रथम क्षण मे उत्पन्न होकर द्वितीय शब्द को उत्पन्न करता है तथा वह द्वितीय शब्द तृतीय शब्द को, इस प्रकार उत्पन्न और नष्ट होते हुए शब्दो की एक धारा प्रवाहित हो उठती है उस प्रवाहमान धारा के शब्द ही श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा गृहीत होते है। इन उत्पन्न शब्दो मे प्रथम शब्द का नाश कार्यशब्द से, तथा उसके बाद के शब्दो का कभी कार्यशब्द से और कभी, जब वह उत्पादक नही बनता ऐसी स्थिति मे, अन्य निमित्त न होने पर

---

१ दिनकरी पृ० ५३६. २ पाणिनीय शिक्षा ६-७

३. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १४५

उसका नाश कारण शब्द से ही होता है। अत शब्दज शब्द के नाश का कोई एक नियम नही है।[1] इस प्रक्रिया मे शब्दो द्वारा उत्पन्न शब्द को शब्दज शब्द कहा जाता है। इस प्रकार ध्वन्यात्मक (अवर्णात्मक) और वर्णात्मक शब्द सयोगज, विभागज और शब्दज भेद से त्रिधा विभक्त होकर छ प्रकार का हो जाता है।

शब्दज शब्द की उत्पत्ति के प्रसङ्ग मे नैयायिको मे अनेक सम्प्रदाय है, जिनमे मुख्य दो है कुछ लोग इस उत्पत्ति को **कदम्बमुकुल न्याय** से मानते है, तथा अन्यलोग वीचीतरङ्ग न्याय से।

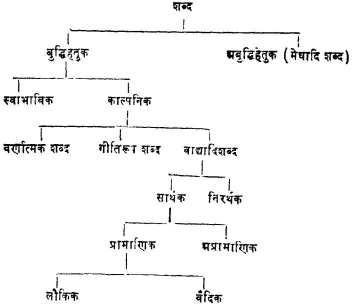
कदम्ब मुकुलन्याय--कदम्बमुकुलन्याय का तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार कदम्बकलिका केन्द्र मे सभी दिशाओ मे विकसित होती है, उसी प्रकार एक शब्द अपने विनाश से पूर्व द्वितीय क्षण मे दसो दिशाओ मे दस शब्द उत्पादन करता है। यह क्रम श्रोत्राकाश पर्यन्त अबाध रूप मे चलता रहता है।[2] चूकि इस प्रक्रिया मे स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक शब्द कदम्बमुकुल के समान प्रत्येक दिशाओ मे शब्दज शब्दो को जन्म देता है, अत इसे **कदम्ब-मुकुलन्याय** करते है।

वीचितरङ्गन्याय इस प्रक्रिया मे स्वीकार किया गया है कि जिसप्रकार प्रशान्त सरोवर के जल मे किसी प्रकार भी आघात उत्पन्न होने पर सर्व प्रथम केन्द्र मे चारो दिशाओ एव चारो उपदिशाओ मे एक एक तरङ्ग उत्पन्न होती है एव प्रत्येक तरङ्ग अपने विनाश से पूर्वक्षण मे अन्य तरङ्ग को उत्पन्न कर देती है, किन्तु तरङ्ग से उत्पन्न तरङ्गे एक दिशा मे ही होती है एव एक दिशा मे ही गति शील होती है, उसी प्रकार प्रथम आघात से सभी दिशाओ मे शब्द उत्पन्न होता है तदनन्तर केन्द्र से बाहर की ओर से बढते हुए अन्य शब्दज शब्दो की उत्पत्ति होती है। शब्द की उत्पत्ति की इस प्रक्रिया मे वीचितरङ्ग को उपमान मानने के कारण ही इसे वीचितरङ्ग न्याय कहते है।

पूर्व पृष्ठ मे दिये गये शब्द के छ प्रकार के विभाजन के अतिरिक्त निम्न-लिखित आठ प्रकार का विभाजन भी किया जासकता है।

---

१ कणाद रहस्यम् पृ० १५१ २. वही १४६



शब्द की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे विचार शब्द प्रमाण प्रकरण मे किया जाएगा ।

—:०:—

४

बुद्धि विमर्श

बुद्धि :—

ज्ञान के बिना शब्द प्रयोग या अन्य कोई भी लौकिक अथवा पारलौकिक व्यवहार नही हो सकते, इसे ध्यान मे रखते हुए बुद्धि की यह परिभाषा की गयी ,है, 'शब्द प्रयोग आदि सभी व्यवहारो का हेतु गुरण बुद्धि है। बुद्धि को ही ज्ञान कहते है। इसके सामान्यत दो भेद किये जाते है. स्मृति और अनुभव। जो ज्ञान केवल भावनारूप संस्कार से उत्पन्न होता है, उस ज्ञान को **स्मृति** या **स्मरण** कहते हैं। स्मरण से भिन्न ज्ञान **अनुभव** कहा जाता है।

न्याय शास्त्र मे प्रयुक्त होने वाले बुद्धि शब्द का पारिभाषिक अर्थ ज्ञान रूप गुण है, जोकि आत्मा का गुण है, पाश्चात्य दार्शनिको के शब्दो मे इसे Cognition कह सकते हैं। Ballantine ने बुद्धि का अर्थ 'समझना (Understanding)' लिया है। Roer ने इससे 'समझ' (ज्ञान का साधन अर्थात् Intellect) माना है, किन्तु इसे उचित नही कह सकते, क्योकि ज्ञान के साधन को बुद्धि मानने पर उस साधन के साध्य भूत ज्ञान को क्या कहेगे ? सामान्यतया बुद्धि के तीन भेद हो सकते है—(१) सामान्य ज्ञान की क्रिया, जिसे हम 'समझना' कह सकते है, (२) ज्ञान का साधन, जिसे 'समझ' (Intellect) कह सकते हैं, (२) ज्ञान का फल, जिसे 'प्रतीति' 'उपलब्धि' या ज्ञान (Cognition) कह सकते है। न्याय शास्त्र मे यह तृतीय अर्थ ही ग्रहीत है, इसलिए सूत्रकार गौतम तथा वैशेषक भाष्यकार प्रशस्तपाद ने बुद्धि उपलब्धि और ज्ञान को पर्यायवाची स्वीकार किया है।[1] यह बुद्धि आत्मा का गुण है, जबकि 'समझना एक क्रिया है धर्म

---

१. न्याय सूत्र १. १. १५

नही। इसी प्रकार 'समझ' भी साधन है, जिसे न्याय के ग्रन्थो मे मन कहा गया है।[1]

सांख्य और वेदान्त मे बुद्धि को कार्य अर्थात् क्रमश प्रकृति और ब्रह्म का कार्य माना गया है, तथा उसके अनेक भेद स्वीकार किये गये है। सांख्य के अनुसार बुद्धि को महत्व कहा जाता है, तथा उसके कार्य मे 'अहंकार' को भी अन्त करण चतुष्टय मे अन्यतम माना जाता है, तात्पर्य यह है कि सांख्य के अनुसार बुद्धि ज्ञान का साधन है, स्वय ज्ञान गुण नही।[2] जबकि न्याय उसे गुण मानता है। ज्ञान के साधन के रूप मे न्याय ने मनको स्वीकार किया है,[3] जो कि अप्रत्यक्ष एव अणु है।

तर्कसंग्रहगत बुद्धि लक्षण मे प्रयुक्त 'व्यवहार' शब्द का अर्थ, वाक्यवृत्तिकार मेरुशास्त्री तथा न्यायबोधनीकार गोवर्धन के अनुसार, 'वह वाक्य व्यवहार या शब्द प्रयोग है, जो कि दूसरो को समझाने के लिए प्रयुक्त किया गया हो,[4] न कि आहार विहार आदि है। सिद्धान्त चन्द्रोदयकार ने व्यवहार का तात्पर्य आहार विहार आदि माना है, किन्तु वह उचित प्रतीत नही होता, कारण यह कि स्वप्नगत भ्रमण आदि अनेक क्रियाए ऐसी है, जोकि बुद्धि पूर्वक नही होती। उनके कारण को भी बुद्धि मानने मे लक्षण मे अतिव्याप्ति दोष होगा।

'शब्द प्रयोग का हेतु बुद्धि है' ऐसा मानने पर बुद्धि की परिभाषा इतनी सकुचित हो जाती है, कि **निर्विकल्पकज्ञान** मे भी वह अव्याप्त होती है। इसके समाधान के लिए वाक्यवृत्तिकार ने जाति घटित लक्षण माना है उसके अनुसार 'शब्द व्यवहार के हेतु मे विद्यमान जाति से विशिष्ट **गुण** को बुद्धि कहते है।[5] इस प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान भी बुद्धित्व जाति से युक्त होने के कारण **बुद्धि** कहा जाता है।

तर्क दीपिका के अनुसार 'मैं जानता हूँ इस प्रकार अनुव्यवसाय गम्य ज्ञान को बुद्धि कहते है।[6] **अनुव्यवसायात्मक** ज्ञान की तीन श्रेणियाँ है। सर्व प्रथम

---

१ तर्कसंग्रह पृ० ५२ २. सांख्यकारिका ३५ ३. न्याय दर्शन १ १ १६

४ (क) वाक्यवृत्ति बुद्धिखण्ड (ख) न्यायबोधिनी पृ० २२

५ वाक्य वृत्ति बुद्धिखण्ड ६. तर्क दीपिका पृ० ६८

आत्मा और मन के सयोग मे युक्त इन्द्रिय के साथ विषय का सयोग होता है, तदनन्तर ज्ञान की उत्पत्ति एव अन्त मे अनुव्यवसाय उत्पन्न होता है, जब सर्व प्रथम घट आदि कोई वस्तु हमारे समक्ष आती है तो पहले वस्तु का इन्द्रियो से (रूपयुक्त वस्तु का चक्षु से, गन्धयुक्त का घ्राण से, इसी प्रकार रसादि से युक्त का रसन आदि से) सन्निकर्ष होता है, तत्पश्चात् इन्द्रियाँ मन से, मन आत्मा से सयुक्त होता है, इस प्रकार प्रत्यक्षप्रमाणभूत चक्षु आदि इन्द्रियो से प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, तदनन्तर 'यह घट है' यह प्रत्यक्ष ज्ञान चेतन आत्मा के साथ विषय रूप से सबद्ध हो जाता है, जिसके फलस्वरूप 'मै घट ज्ञानवान् हूँ' या 'मैं घटज्ञानयुक्त हूँ' यह प्रतीति उत्पन्न होती है, यही **अनुव्यवसाय** है 'मैं घट को जानता हूँ' इस ज्ञान को अनुव्यवसाय इस लिए कहाजाता है, कि इसकी उत्पत्ति 'यह घट है' इस **व्यवसाय**गम्य ज्ञान से होती है। अनुव्यवसाय की यह मान्यता न्यायशास्त्र मे ही स्वीकृत है। साख्य मे 'मै घट को जानता हू' इस ज्ञान को अनुव्यवसाय कहा जाता है, और वेदान्त के अनुसार 'मैं घट को जानता हूँ' इस ज्ञान के स्थान पर यह घट है' इस ज्ञान को ही अनुव्यवसाय कहा जाता है।

शिवादित्य की सप्तपदार्थी मे बुद्धि की एक अन्य परिभाषा दी गयी है, 'आत्माश्रय प्रकाश बुद्धि है' सप्तपदार्थी के टीकाकार जिनवर्धन ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'अज्ञान रूप अन्धकार को तिरस्कृत कर सम्पूर्ण अर्थों को प्रकाशित करने वाला दीपतुल्य जो प्रकाश है वही बुद्धि है।'[1]

प्रस्तुत लक्षण में 'आत्माश्रय, पद का तात्पर्य आत्मा मे समवाय सम्बन्ध मे रहने वाला गुण है। इसी तथ्य को कणादरहस्यकार शकरमिश्र तथा तर्कसग्रहकार अन्नभट्ट आदि ने आत्मा की परिभाषा मे ज्ञानाधिकरण' विशेषण देते हुए स्वीकार किया है।[2] इस प्रसग मे स्मरणीय है कि न्याय शास्त्र मे ज्ञान और **बुद्धि** को पर्यायवाची पद के रूप मे स्वीकार किया गया है।[3]

साख्य दर्शन मे महत्तत्व को बुद्धि कहा गया है, जो कि प्रकृति का कार्य है, साथ ही उसे अन्य समस्त कार्यों का उपादान कारण भी माना गया है।

न्याय शास्त्र मे बुद्धि के सर्व प्रथम दो भेद स्वीकार किये गये है अविद्या और विद्या। अविद्या के चार प्रकार है. सशय विपर्यय, अनध्यवसाय, तथा स्वप्न[3]

---

१. सप्तपदार्थी जिनवर्धनटीका

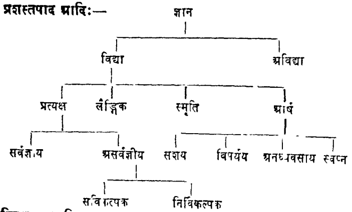
२ (क) कणाद रहस्यम् पृ० ३६ (ख) तर्कसग्रह पृ० ४८

३. (क) न्याय दर्शन १.१ १५ (ख) प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ८३

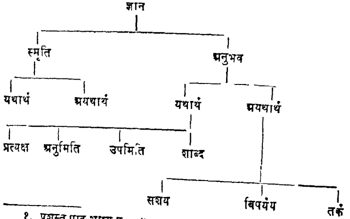
आचार्य प्रशस्त पाद एवं शंकरमिश्र और के अनुसार विद्या भी प्रत्यक्ष लैंगिक स्मृति एवं आर्ष भेद से चार प्रकार की है।[1]

परवर्ती नैयायिकों ने (विश्वनाथ अन्नभट्ट आदि ने) बुद्धि को सर्वप्रथम स्मृति और और अनुभव भेद से दो प्रकार का माना है। उनके अनुसार स्मृति और अनुभव दोनों ही यथार्थ और अयथार्थ भेद से दो-दो प्रकार के है। उनके मत मे यथार्थ अनुभव प्रत्यक्ष अनुमिति उपमिति और शाब्द भेद से चार प्रकार का है। अयथार्थ अनुभव भी संशय विपर्यय और तर्क भेद से तीन प्रकार का है। उपर्युक्त दोनो परम्पराओ का वर्गीकरण एक दृष्टि मे इस प्रकार है —

प्रशस्तपाद आदिः—



विश्वनाथ आदि :—



१. प्रशस्त पाद भाष्य पृ० ८५

न्याय सूत्रकार गौतम ने चूंकि समस्त विश्व की बौद्धिक सत्ता का ही विश्लेषण किया है, अत उन्होंने प्रत्यक्षादि प्रमाण, सशय, तर्क, सिद्धान्त आदि ज्ञान के भेदों को स्वतन्त्र पदार्थों के रूप में स्वीकार किया है, तथा बुद्धि का विश्लेषण प्रमेय के मध्य किया है, अत उनकी सम्मति उपर्युक्त किसी भी वर्गीकरण से नही है।

उपर्युक्त दोनो वर्गीकरणों मे अन्तर बहुत कुछ प्रमाणो की मान्यता के कारण है। कणाद ने चूकि प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण ही स्वीकार किये थे, अत उनके अनुयायियो के द्वारा भी उपमिति और शाब्द ज्ञान को पृथक् स्वीकार किया जाना सभव न था। आर्ष ज्ञान, जिसे परवर्त्ती नैयायिको ने प्रत्यक्ष का ही एक भेद माना था, प्रशस्तपाद आदि के अनुसार विद्या का स्वतन्त्र भेद मान लिया गया है। उनके वर्गीकरण को देखकर उसका कारण यह प्रतीत होता है, कि उन्होने विद्या के इस वर्गीकरण के मूल मे इन्द्रियग्राह्यता को आधार माना होगा। प्रत्यक्ष चूकि इन्द्रियग्राह्य है, एव आर्षज्ञान अनिन्द्रियग्राह्य, अत. दोनो का पृथक् परिगन उनके लिए आवश्यक हो गया। यथार्थ भी इसी कारण स्मृति के रूप मे पृथक् विद्या भेद माना गया है। विद्या और अविद्या के रूप मे दो भेद भी ज्ञान की यथार्थता और अयथार्थता के आधार पर ही है। अयथार्थ स्मृति को ही इस वर्गीकरण मे स्वप्न कहा गया है।

परवर्त्ती आचार्यो ने वर्गीकरण का मूल आधार सम्भवत. काल को स्वीकार किया था। इसीलिए उनके अनुसार वर्त्तमान मे उत्पन्न ज्ञान को अनुभव एव भूतकाल मे उत्पन्न ज्ञान के स्मरण को स्मृति कहा गया। अनुभव अर्थात् उत्पन्न होता हुआ ज्ञान तो वास्तविक और अवास्तविक होता ही है। स्मृति भी कभी वास्तविक और कभी अवास्तविक हुआ करती है, इसलिए उन्होने ज्ञान के अनुभव एव स्मृतिरूप भेद करते हुए दोनो को ही यथार्थ और अयथार्थ भेद से दो प्रकार का माना है। इसके अतिरिक्त यथार्थ स्मृति एवं अनुभव को, जिसे पूर्ववर्त्तियो के अनुसार विद्या के समानन्तर रखा जा सकता है, प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और शब्द प्रमाण पर आधारित होने के कारण उन्होने चार प्रकार का मानते हुए इस प्रसग मे गौतम का अनुसरण किया है।[1] चू कि समस्त लौकिकज्ञान इच्छा एव प्रयत्न मूलक है, तथा स्वप्न

१. न्याय सूत्र १,१.३

इच्छा और प्रयत्न पर आश्रित नही होता, उसकी उत्पत्ति सुप्त चेतना मे केवल मानसिक स्मरण से बिना इच्छा और प्रयत्न के होती है, अत परवर्त्ती आचार्यों ने उसे ज्ञान की कोटि मे रखना आवश्यक नही समझा। चू कि परवर्त्ती वर्गीकरण पूर्व वर्गीकरण को ध्यान मे रखकर अपेक्षित सशोधन के साथ किया गया है, अत उसका अधिक वैज्ञानिक होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि प्रस्तुत ग्रन्थ मे भी इसे ही विवेचन को आधार मान लिया गया है।

स्मृति —

जो ज्ञान केवल सस्कार से उत्पन्न होता है, उसे **स्मृति** कहते है।[१] सस्कार तीन प्रकार का है—**वेग भावना और स्थितिस्थापक**। स्मृति के प्रति भावना नामक सस्कार ही कारण है, **भावना** की उत्पत्ति अनुभव से होती है। यह भावना नामक सस्कार अनुभव और स्मृति के बीच व्यापार के रूप मे अवस्थित रहता है। यही कारण है कि पूर्वानुभूत विषय का चिरकाल के व्यवधान के अनन्तर भी स्मरण होता है। स्मरण पूर्व अनुभूत विषय का ही होता है, अननुभूत विषय का नही, अत इसके लिए **शेषानुव्यवसाय, इच्छा और द्वेष** का होना भी कारण के रूप मे आवश्यक होता है।[२] स्मृति के लक्षण मे उसे केवल सस्कार से उत्पन्न (सस्कार-मात्रजन्य) कहा गया है। तर्क दीपिका एव न्याय बोधिनी के अनुसार इसका कारण **प्रत्यभिज्ञा** को स्मृति से भिन्न करना है। प्रत्यभिज्ञा की उत्पत्ति भी सस्कार द्वारा ही होती है, किन्तु केवल सस्कार द्वारा नहीं। उसके लिए सस्कार के अतिरिक्त प्रत्यक्ष की भी अपेक्षा रहती है। जबकि स्मृति मे स्मृति हेतु लिङ्ग आदि के लिए प्रत्यक्ष कारण हो सकता है, साक्षात् स्मृति के लिए नही। उदाहरणार्थ एक समय हमने घोडा और सवार को एव साथ देखा है। किसी अन्य समय पुन उसी घोड़े या सवार मे से अन्यतम का अथवा तत्सदृश का दर्शन होता है उस समय तत्काल दृष्ट से भिन्न सवार या घोडे की, अथवा सदृशका दर्शन होने पर दोनो की ज्ञान के विषय के रूप मे मस्तिष्क मे उपस्थित होती है, इसे ही स्मृति कहते हैं, किन्तु पूर्वदृष्ट घोडा या सवार अथवा दोनो का प्रत्यक्ष होने पर सस्कार रूप मे स्थित घोडा आदि का स्मरण

---

१ तर्क सग्रह पृ० ६८   २. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १२८ ।

होता है, तदनन्तर प्रत्यक्ष और स्मरण के आधार पर 'यह वही है' (यथा अवसर वही घोडा, वही सवार अथवा वही घोडा और सवार है) यह ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहते है। चूकि इस प्रत्यभिज्ञा मे संस्कार के साथ ही प्रत्यक्ष भी आवश्यक है, अत इसे स्मृति नही कहा जा सकेगा।

राधामोहन के अनुसार सूत्रकार गौतम प्रत्यभिज्ञा को सस्कारजन्य मानते है।[1] किन्तु न्याय सूत्र के उपलब्ध भाष्यो मे किसी मे भी प्रत्यभिज्ञालक्षण सूत्र का भाष्य उपलब्ध नही है, अत. उक्तमत प्रमाणिक नही कहा जा सकता।

कुछ विद्वानो की मान्यता है कि प्रत्यभिज्ञा सस्कारजन्य नही है। उसकी उत्पत्ति प्रत्यय (पहचान या Identity) से होती है। अर्थात् प्रत्यभिज्ञा के प्रति सस्कार साक्षात्कारण नही है, सस्कार से प्रत्यय की उत्पत्ति होती है, एव प्रत्यय से प्रत्यभिज्ञा। इसलिए स्मृति के लक्षण मे केवल (अथवा मात्र विशेषण) की आवश्यकता नही रह जाती। नीलकण्ठ के अनुसार चक्षु आदि से उत्पन्न न होते हुए सस्कार से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति कहा जाता है। स्मृति की परिभाषाओ मे 'ज्ञान' विशेषण का प्रयोग अनिवार्य है, अन्यथा सस्कार ध्वस मे भी केवल सस्कार से उत्पन्न होने के कारण उसमे अति व्याप्ति होगी।

अनुभवः—

स्मृति से भिन्न ज्ञान को अनुभव कहते हैं। यथार्थ ज्ञान दो प्रकार का ही हो सकता है पूर्वकाल मे उत्पन्न ज्ञान की सस्कार द्वारा उपस्थिति एव नवीन उत्पन्न ज्ञान। अनुभव इस नवीन उत्पन्न ज्ञान को ही कहते है। अनुभव की इस परम्परागत परिभाषा को व्यतिरेकि परिभाषा कहा जा सकता है, क्योकि अनुभव को स्मृति से भिन्न ज्ञान कहा गया है एव स्मृति का परिचय दिया गया है। इस प्रकार यहा भिन्न का परिचय होने पर प्रकृत का परिचय अनायास हो जाता है। अनेक विचारक अनुभव की परिभाषा अनावश्यक मानते हैं, उनका तर्क है कि स्मृति को पृथक् करने से ही अनुभव की परिभाषा अनायास हो जाएगी, किन्तु प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्ति होने से इसे उचित नहीं माना जा सकता। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि पूर्वदृष्ट पदार्थों का सस्कार द्वारा ज्ञान होना स्मृति, सस्कार तथा अनु-

---

१. न्याय सूत्रोद्धार टिप्पणी पृ० १

भव दोनो के सहकार से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यभिज्ञा एव विषय के सम्बन्ध मे उत्पन्न ज्ञान 'अनुभव' है।

इस सामान्य अनुभव को दो भागो मे विभाजित किया जाता है . **निर्विकल्पक और सविकल्पक** । यद्यपि न्याय मे दी गयी परिभाषा के अनुसार इन्हें **'अनुभव'** नही कहा जा सकता, फिर भी ये दोनो ही ज्ञान अनुभव के अत्यधिक निकट है।

पाश्चात्य दार्शनिको के Cognition Apprehension तथा Remembrance भारतीय दार्शनिको के बुद्धि अनुभव और स्मृति के समानान्तर है। उनके अनुसार Remembrance वह ज्ञान है, जो उस क्षण वस्तु और इन्द्रियो के सन्निकर्ष के अभाव मे उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष से भिन्न होता है, क्योकि वह पूर्व अनुभव के स्मरण पर आश्रित होता है।[1] Apprehension विषय वस्तु का सामान्य ज्ञान है। यह ज्ञान की वह क्रिया या स्थिति है, जिसमे वस्तु की सत्ता का अनुभव किया जा रहा हो। यह सामान्य ज्ञान (Apprehensien) दो प्रकार का है Incomplex एव complex[2] भारतीय दार्शनिको के निर्विकल्पक एव सविकल्पक ज्ञान इनके ही समानान्तर है। अग्रेजी का cognition शब्द इस दृष्टि से व्यापक भाव युक्त है। काण्ट के अनुसार cognition शब्द उपस्थित वस्तु के सम्बन्ध मे परिचय देता है' तथा वह परिचय वस्तु के प्रत्यक्ष पर आश्रित रहता है। गो अपने स्वामी को पहचानती है, किन्तु उमे Cognition नही कह सकते, क्योकि वह प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न नही करता।[3] यहा महाभारत के 'गन्धेन गाव पश्यन्ति' इत्यादि वचन के अनुसार गन्ध द्वारा किये गये प्रत्यय को भी प्रत्यक्ष क्यो न माना जाय यह शका हो सकती है, किन्तु नैयायिक इसे प्रत्यक्ष नही मानते, क्योकि उनके अनुसार द्रव्य सम्बन्धी वही ज्ञान **'प्रत्यक्ष'** कहा जा सकता है, जो रूप अथवा स्पर्श के गुण के प्रत्यक्ष पर आश्रित प्रत्यक्ष ज्ञान हो।[4] इसी प्रकार एक पागल व्यक्ति किसी वस्तु को देखता है उसके इस ज्ञान को प्रत्यक्ष या cognition

1 P B. Ben. ed. P 172

2. Whately. Logic, Bk IIch. I sec. 1

3 Critique of Pure Reason P. 593. Haywood

४. भाषा परिच्छेद ५४, ५६, पृ० २४२

नही कह सकते, क्योकि उसकी बुद्धि अस्थिरता के कारण कार्य नहीं कर रही है।[1] इसके अतिरिक्त पाश्चात्य दार्शनिको द्वारा स्वीकृत ज्ञान भेद Sensation, Perception, Conception तथा Notion भी cognetienमे समाहित हो जाते हैं। न्याय मे स्वीकृत अनुभव भी इसके अन्तर्गत ही है, इस प्रकार हम कह सकते है कि cognition और बुद्धि दोनो समानान्तर है।

अनुभव

अनुभव की परिभाषा पहले दी जा चुकी है, वह अनुभव दो प्रकार का है 'यथार्थ' और '**अयथार्थ**'। जो वस्तु जैसी है, उसको वैसा ही समझना **यथार्थ अनुभव** कहाता है। जैसे चादी को चादी समझना। इस अनुभव को ही **प्रमा** कहते है।[2] जो वस्तु जिन धर्मों से रहित है उसे उन धर्मो से युक्त समझना '**अयथार्थ अनुभव**' कहाता है, जैसे चादी के धर्म से रहित 'शुक्ति' को चादी समझना। इस अयथार्थ अनुभव को ही **अप्रमा** कहते है।[3]

अनुभव के न्याय शास्त्र मे दिये गये परम्परागत लक्षणो के प्रसङ्ग मे यह स्मरणीय है कि प्रत्येक शास्त्र की एक अपनी विशिष्ट भाषा होती है, अपनी परिभाषाए तथा अपनी शैली होती है। परम्परागत अनुभव लक्षण मे न्याय शास्त्र की उस विशिष्ट शैली के अनुसार **विशेषण विशेष्य और प्रकार** तीन शब्दों का प्रयोग किया जाता है। न्याय शास्त्र के विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक है, कि वह इन शब्दो का परिचय प्राप्त कर ले। **विशेष्य जब** हम किसी वस्तु को देखते हैं तो दृश्यमान वस्तु हमारे ज्ञान की 'विशेष्य' होती है। वह क्या है ? इसे ही प्रकार कहते है। जैसे घट का प्रत्यक्ष होने पर घटत्व ज्ञान मे घट **विशेष्य** होगा, एव घट का 'धर्म' 'घटत्व' उस ज्ञान का **प्रकार** कहा जाएगा। इसी प्रकार तद्वत् अर्थात् घटत्ववत् का अर्थ हुआ घट **विशेष्यक** घटत्व **प्रकारक**, यही घट का परिभाषित अर्थ होगा। इस प्रकार दो खण्डो मे विभाजित इस ज्ञान मे **विशेष्य** केवल वस्तु के स्वरूप को प्रकट करता है, एव **प्रकार** उस वस्तु को अन्य वस्तुओ से पृथक् करता है।

जब हम नीलघट का प्रत्यक्ष करते है, तो नील गुण **प्रकार** कहाता है, तथा नीलत्व '**विशेषण**'। इसी प्रकार 'अय घट (यह घट है) इस प्रत्यक्ष मे

1 Critique of Pure Reason. P 593

२. न्याय बोधिनी पृ० २४ ३. वही पृ० २४

'घटत्व' 'विशेषण' एव 'घट' प्रकार है। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते हैं, कि विशेषण वस्तु का धर्म है, एव प्रकार ज्ञान का धर्म।

प्रमा और अप्रमा.—

विश्वनाथ ने 'तद्वत् विशेष्यकत्वे सति तत्प्रकारत्व ज्ञान प्रमा' यह प्रमा का लक्षण दिया है।[१] इसका तात्पर्य है 'घट ज्ञान' के विषय का घटत्व युक्त होना। सामान्य भाषा मे हम कह सकते हैं कि 'यथार्थ ज्ञान' अर्थात् 'किसी पदार्थ को उसके विशिष्ट धर्म से युक्त समझना' ही प्रमा है। तर्कसग्रहकार अन्नभट्ट द्वारा दी गयी परिभाषा मे[२] 'तद्वति' शब्द पर टिप्पणी करते हुए वाक्यवृत्तिकार ने लिखा है कि यहा 'सप्तमी विभक्ति का तात्पर्य तत् अर्थात् 'घटत्व' से युक्त 'घट' अनुभव का विशेष्य होना है।[३] इस प्रकार वस्तु का ठीक-ठीक ज्ञान प्रमा सिद्ध होता है।

अप्रमा प्रमा से पूर्णत विपरीत है, अर्थात् जो वस्तु जिन धर्मों से युक्त नही है, उसे उन धर्मो से युक्त समझना।[४] फलत रजत को रजतत्व युक्त समझना प्रमा, तथा शुक्ति को जो कि रजत नही है, रजतत्व युक्त समझना अप्रमा है।

प्रमा और अप्रमा के लक्षणो मे समूहालम्बन के प्रसङ्ग मे एक स्पष्टीकरण आवश्यक है। (समूहालम्बन अनेक विषयो के सहज्ञान को कहते हैं।) जैसे घट और पट विषय के सामूहिक ज्ञान मे यद्यपि घट को घटत्वयुक्त तथा पट को पटत्वयुक्त समझा जा रहा है, फिर भी चू कि ज्ञान का विषय घट एव पट दोनो है, अत घटप्रकारक ज्ञान पट अश मे एव पटप्रकारक ज्ञान घट-अश मे भी माना जा रहा है, फलत. इसे प्रमा (यथार्थ-ज्ञान) नही कहना चाहिए, यद्यपि समूह की दृष्टि से यह ज्ञान प्रमा (यथार्थ अनुभव) प्रतीत होता है, क्योकि घट एव पट सयुक्त विशेष्य मे घटत्व-पटत्व प्रकारक ज्ञान है। इसलिए लक्षण मे 'तद्वति' शब्द से तात्पर्य यह है कि 'जिस अश मे जो

---

१ न्याय मुक्तावली पृ० ४८१ २ तर्क सग्रह पृ० ६६

३ वाक्यवृत्ति बुद्धि खण्ड

४ (क) न्याय मुक्तावली पृ० ४७६ (ख) तर्क सग्रह पृ० ७१

धर्म है' तथा 'तत्प्रकारक' शब्द से उस अंश को उस धर्म से (केवल उसी धर्म से) युक्त समझना चाहिए।

उपर्युक्त लक्षण का स्पष्टीकरण करते हुए तर्क दीपिका मे एक आशका उपस्थित की गयी है कि 'तद्वति' पद का अर्थ यदि घटत्व आदि का अधिकरण लिया जाएगा तो यह लक्षण 'घटत्व' ज्ञान मे अव्याप्त होगा, क्योकि घटत्व घट मे रहने वाला धर्म है। घटत्व विशेष्यक ज्ञान मे घटत्व या घट आदि कोई धर्म नही हो सकता क्योकि यह स्वय ही धर्म है। अन्नभट्ट ने इस आशका का समाधान 'तद्वति' का अर्थ 'तत्सम्बन्धवति, करके किया है,[1] अर्थात् घटत्व यद्यपि घटाधिकरण या अन्य धर्म का अधिकरण नही है, किन्तु जिस प्रकार 'घट' घटत्व से सबद्ध है, उसी प्रकार 'घटत्व' भी घट से सम्बद्ध है ही। फलत. अतिव्याप्त दोष न होगा।

अप्रमा के उपर्युक्त लक्षण में भी दोष की (अतिव्याप्ति की) आशका हो सकती है। जैसे एक वृक्ष पर बन्दर है, उसे देख कर हमे ज्ञान होता है कि 'वृक्ष बन्दर से सयुक्त है, चू कि यह ज्ञान यथार्थ है, अत. इसे प्रमा कहा जाना चाहिए, किन्तु अप्रमा का लक्षण इसमे अतिव्याप्त हो रहा है, कारण कि वृक्ष से बन्दर का सयोग शाखा अश मे है, मूल अश मे नही, अत मूलाश मे वृक्ष बन्दर-सयोग से रहित है। इस प्रकार यहा अतिव्याप्ति प्रतीत होती है। वस्तुत: यहा अतिव्याप्ति न होकर अतिव्याप्ति का भ्रम है, क्योकि सयोगाभाव एक अश मे है एव अन्य अश मे सयोगाभाव का अभाव अर्थात् सयोग विद्यमान है, इसलिए एक अश मे सयोग रहने के कारण वृक्ष को सयोगाभाव युक्त नही कह सकते। इसी प्रकार कोई धर्म किसी मे 'समवाय' सम्बन्ध मे विद्यमान है, उसी धर्म को उसमे सयोग सम्बन्ध से अविद्यमान, अथवा सयोग सम्बन्ध से विद्यमान को समवाय सम्बन्ध से अविद्यमान नही कहा जा सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'तत्' शब्द के द्वारा अभीष्ट अर्थ तक पहुचने मे अनेक असुविधाए है। उपर्युक्त असुविधाओ के अतिरिक्त सबसे बडी असुविधा यह है कि घट या पट के प्रत्यक्ष ज्ञान के बिना घटत्व और पटत्व का साक्षात्कार सम्भव नहीं है, जबकि परिभाषा मे घटत्व के ज्ञान के आधार पर घट का ज्ञान होना कहा गया है। इस प्रकार घटत्व का ज्ञान घट ज्ञान पर

---

१. तर्क दीपिका पृ० ७०

एव घट का ज्ञान घटत्व ज्ञान पर आश्रित होने से अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होता है, जिसे पार कर सकना सरल नही है।

सांख्य दर्शन में 'यह घट है' इत्यादि अनुभव को प्रमाण न मान कर 'मैं घट को जानता हू' अथवा 'मैं घटज्ञानवान् हू' इत्यादि पुरुषगत ज्ञान को **प्रत्यक्ष प्रमा** स्वीकार किया गया है।[१] न्याय शास्त्र मे इस ज्ञान को प्रमा न कह कर **अनुव्यवसाय** कहा जाता है।

वेदान्त मे 'कभी बाधित न होने वाले अपूर्व अन्त करणावच्छिन्न चैतन्य को **प्रमा** कहा गया है।[२] न्याय के अनुसार प्रमा ज्ञान है, जो बुद्धि **से** अभिन्न है, अत एव आत्मा का गुण है, जबकि वेदान्त के अनुसार **प्रमा** या ज्ञान चेतन ब्रह्म का ही एक प्रकार है।[३]

न्याय शास्त्र में प्रमा (यथार्थ अनुभव) को प्रत्यक्ष, अनुमिति उपमिति और शाब्द भेद से **चार** प्रकार का माना गया है, जिनका विस्तृत विवेचन आगे किया जाएगा। 'अप्रमा' **सशय विपर्यय** (मिथ्या ज्ञान) और **तर्क** भेद से तीन प्रकार की है।

संशय –

आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार प्रसिद्ध अनेक असाधारण धर्मो (विशेषो) वाले दो पदार्थों को देखकर सादृश्यमात्र का साक्षात्कार करते हुए दोनो पदार्थों की भेदक विशेषता को न स्मरण कर 'यह कौन पदार्थ है ? इस प्रकार का विमर्श **संशय** कहा जाता है।[४] अन्नभट्ट ने इसे ही दूसरे शब्दो मे 'एक धर्मी मे विरोधी नाना धर्मों से युक्त होने के ज्ञान को सशय कहा है।[५] गौतम के अनुसार सशय के पाच कारण है।[६] **समान धर्मोपपत्ति** —स्थाणु और पुरुष आदि किन्हो दो पदार्थो मे आरोह (लम्बाई) परिणाह (चौडाई) आदि समान धर्मों को देखकर विशेष धर्म की अपेक्षा होने पर सशय होना है। **अनेक धर्मोपपत्ति**–एक धर्मी मे समानजातीय और असमानजातीय अनेक धर्मों का देखकर विशेष धर्म की अपेक्षा होने पर सशय उत्पन्न होता है। **एक**

---

१ विद्वत्तोषिणी, सांख्य कारिका ५
२. वेदान्त परिभाषा पृ० १०
३ वही पृ० १५-१६
४ प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ८५-८६,
५. तर्क सग्रह पृ० १५६
६. न्याय दर्शन १.१.२३

धर्मो मे विरोधी अनेक धर्मो को देखकर भी सशय उत्पन्न होता है। उपलब्धि व्यवस्था भी सशय का कारण है । उपलब्धि व्यवस्था का अर्थ है, उपलब्धि के सम्बन्ध मे व्यवस्था, अर्थात् सत् (विद्यमान) की उपलब्धि होती है, जैसे तडाग मे जल, किन्तु मृग मरीचिका आदि मे अविद्यमान जल भी उपलब्ध होता है, अत निर्णायक प्रमाण के उपलब्ध न होने पर उपलब्धि व्यवस्था के सम्बन्ध मे संशय होता है, कि सत् की उपलब्धि होती है, या असत् की ?' अनुपलब्धि अव्यवस्था भी सशय का हेतु है। गडी हुई कील का मूल सत् विद्यमान होते हुए भी अनुपलब्ध रहता है। इसी प्रकार असत् अर्थात् अनुत्पन्न या विनष्ट भी उपलब्ध नही होता, अत निर्णायक प्रमाण के न होने पर अनुपलब्धि व्यवस्था के सम्बन्ध मे सशय होता है कि 'असत् ही अनुपलब्ध है, अथवा सत् भी अनुपलब्ध रहता है । वात्स्यायन के अनुसार उपर्युक्त पाच कारणो से उत्पन्न सशय को ज्ञेयस्थ एव ज्ञातृस्थ भेद से दो भागो मे विभक्त कहा जा सकता है। इनमे से समान धर्म एव अनेक धर्मो को देख कर उत्पन्न होने वाला सशय ज्ञेयस्थ तथा उपलब्धि और अनुपलब्धि की व्यवस्था या अव्यवस्था से उत्पन्न सशय 'ज्ञातृस्थ' होता है।[१]

आचार्य प्रशस्तपाद सशय को आन्तर और बाह्य भेद से दो प्रकार का मानते है। इनके अनुसार बाह्य सशय भी प्रत्यक्ष विषय और अप्रत्यक्ष विषय भेद से पुन दो प्रकार का है। ग्रहगति आदि के सम्बन्ध मे ज्योतिर्विदो का सशय आन्तर, समान धर्म ऊर्ध्वता मात्र के दर्शन से 'यह स्थाणु है या पुरुष' इत्यादि प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष विषयक बाह्य सशय तथा साधारण लिङ्ग के दर्शन से, विशेष के अनुस्मरण से अथवा वन मे केवल विषाण मात्र का दर्शन होने पर गौ के सदृश ही गवय होता है' इस आप्तवाक्य के स्मरण के साथ 'यह गौ है अथवा गवय' इत्यादि सशय अप्रत्यक्ष विषयक बाह्य सशय कहा जाता है।[२]

कणादरहस्यकार शकर मिश्र के अनुसार सशय की उत्पत्ति केवल समान

१. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ८६

२. न्याय दर्शन वात्स्यायन भाष्य १.१ २३

धर्म दर्शन तथा विप्रतिपत्ति* अर्थात् विविधकोटि ज्ञान से ही उत्पन्न होता है, अत. वह केवल दो प्रकार का है।[1] सशय यद्यपि इन्द्रिय-ग्राह्य विषयो के सम्बन्ध मे होता है, फिर भी यह केवल मानस मे ही है, चाक्षुष आदि नही, क्योकि सघन अन्धकार मे बिजली के चमकने पर धर्मी का दर्शन यद्यपि अवश्य हो जाता है, फिर भी उसे चाक्षुष नही कह सकते, क्योकि केवल धर्मी के दर्शन मात्र से सशय नही होता, (प्रत्यक्ष भले ही हो सकता है) अपितु उस दर्शन के बाद मानस मे अनेक धर्मो का (अथवा परस्पर विरोधी धर्मों का) स्मरण होता है, तब सशय की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार यह स्मरण की प्रक्रिया मानस मे ही होती है, अत. स्मरण का केवल मानस कहना ही उपयुक्त होगा ।[2]

विश्वनाथ के अनुसार एक पदार्थ मे भावात्मक एवं अभावात्मक (अर्थात् विविध कोटिका) ज्ञान सशय है, तथा उसकी उत्पत्ति उभयसाधारणधर्म आदि के दर्शन मे होती है।[3] वे गौतम तथा शकर मिश्र के इस मत से सहमत नही है कि विप्रतिपत्ति भी सशय का कारण है' वे कहते है कि 'शब्द नित्य है, अथवा नही' इत्यादि विप्रतिपत्ति तो केवल शब्दात्मिका है, जबकि सशय केवल मानस होता है, अत विप्रतिपत्ति सशय का कारण नही है ।[4] इसके अतिरिक्त शब्द आदि प्रमाणो से उत्पन्न ज्ञान प्रमाणजन्य होने के कारण निश्चयात्मक होगा सशयात्मक नही ।

सशय चूकि जिज्ञासा को उत्पन्न करता है, अत इसे न्याय का अङ्ग अथवा मोक्ष के प्रति सहायक कहा जा सकता है। इसी दृष्टि से गौतम ने न्याय दर्शन मे प्रमाण आदि† सोलह तत्वो मे इसकी भी गणना की है।[5]

---

* अनेक कोटि युक्त ज्ञान को विप्रतिपत्ति कहते है जैसे—शब्द नित्य है, अनित्य नही, वह अनित्य है, नित्य नही इत्यादि विरोधि कोटि-युक्त ज्ञान से सशय उत्पन्न होता है ।

† प्रमाण, प्रमेय, सशय प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान गौतम के अनुसार ये सोलह तत्व है ।

१ कणाद रहस्यम् पृ० ११५-१६ २. वही पृ० ११६

३. भाषा परिच्छेद १३० ४. न्याय मुक्तावली पृ० ४७८

५ न्याय दर्शन १.१.१

विपर्यय

विपर्यय निश्चयात्मक अयथार्थ ज्ञान है, अन्नभट्ट ने इसे मिथ्या ज्ञान कहा है ।[१] मिथ्या ज्ञान की व्याख्या करते हुए उन्होने ही कहा है कि जिसमे जिसका अभाव है, उसे उसमे युक्त समझना मिथ्या ज्ञान है ।[२] अन्नभट्ट का यह विपर्यय लक्षण योग दर्शन के विपर्यय लक्षण से शब्दत साम्य रखता है ।[३] विज्ञान भिक्षु ने विपर्यय की व्याख्या 'जो विषय तद्रूप अर्थात् स्वसमान आकार वाला नही है, उसे उससे युक्त समझना' की है, इनके अनुसार यह विपर्यय साख्य की अपेक्षा न्याय के विपर्यय से अधिक निकट है ।[४]

विपर्यय के प्रसङ्ग मे विभिन्न दार्शनिको के अनेक मत है। न्याय की भाषा मे इसे भ्रान्ति भी कहा जाता है। भ्रान्ति विषय मूलक है, विषयी मूलक नही। भ्रान्ति में पदार्थ का मिथ्या ज्ञान होता है, किन्तु इससे पदार्थ की यथार्थता मे कोई अन्तर नही आता। भ्रान्ति विषयगत न होकर ज्ञानगत है, अत. उसका कारण ज्ञानगत दोष मे है, इसीलिए न्यायशास्त्र मे इसे **अन्यथा-ख्याति** कहा गया है। इसकी उत्पत्ति इन्द्रियगत दोष के कारण, सामान्य लक्षणो (धर्मो) के बीच विशिष्ट लक्षणो (धर्मो) के ग्रहण न होने से अथवा विवेक मे दोष आ जाने के कारण होती है। शुक्ति और रजत मे विद्यमान कान्ति धर्म के समान सामान्य धर्म एक से अधिक पदार्थों मे पाये जाते है, अत: एक पदार्थ को देखकर अन्य पदार्थ का स्मरण होता है, किन्तु यह स्मरण एक विशेष प्रकार का होता है, जिसमे वास्तविक पदार्थ की प्रतीति अन्य पदार्थ के रूप मे होती है, इसलिए शुक्ति मे रजत की यह प्रतीति स्मृति नही किन्तु भ्रान्ति कही जाती है। उसकी प्रक्रिया यह है कि जिसने रजत का प्रत्यक्ष अनुभव किया है, उसे कान्तिमान शुक्ति को देखकर स्मृति का उदय होता है, फलत ज्ञान और रजत लक्षण का सन्निकर्ष होता है, और उससे उत्पन्न अलौकिक प्रत्यक्ष द्वारा रजत का अनुभव होता है। इस प्रक्रिया मे रजत धर्म का मानसिक उदय होते ही, जहा जहा रजत का अनुभव प्रत्यक्ष द्वारा हुआ था, वहा वहा की रजत का अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। चू कि गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध है, दोनो का नित्य सम्बन्ध है, इसलिए रजत के गुणो का मानसिक उदय पहले देखे हुए रजत के प्रत्यक्ष का कारण

---

१. तर्क सग्रह पृ० १५१ २ तर्क दीपिका पृ० १५७

३ योग दर्शन १.८ ४. योगवार्त्तिक पृ० ३१

हो जाता है। इस अलौकिक प्रत्यक्ष से अनुभूत रजत के गुणो का आरोप समीपवर्ती शुक्ति मे कर दिया जाता है, जिससे मिथ्या ज्ञान या भ्रम उत्पन्न होता है। भ्रम मे एक पदार्थ का स्वरूपत बाध न होकर अन्यथा ज्ञान होता है; इसीलिए इसे **अन्यथाख्याति** कहते है।[१] अन्यथाख्याति शब्द का शाब्दिक अर्थ अन्य वस्तुओ के गुणो का अन्य वस्तु मे प्रतीत होना है। न्याय शास्त्र की भ्रान्ति की यह व्याख्या कुमारिल रामानुज तथा जैनियो ने भी स्वीकार की है।

बौद्धो की शाखा योगाचार मे विज्ञान मात्र ही सत्य माना जाता है, विज्ञान से अतिरिक्त किसी बाह्य पदार्थ की सता इस मत मे स्वीकार्य नही है, फलत जब कोई बाह्य विषय ही नही, तो भ्रान्ति का कारण विषयगत नही हो सकता, वह केवल ज्ञानगत है, अत योगाचार के अनुसार इस भ्रान्ति का नाम **आत्मख्याति या ज्ञानकारक ख्याति** है। उनके मत मे इसे आत्मख्याति कहना इसलिए भी उचित है कि शुक्ति मे होने वाली रजत प्रतीति बाह्य प्रतीति नही है, क्योकि रजत और इन्द्रिय का सन्निकर्ष नही है, जबकि रजत के बाह्यप्रत्यक्ष मे रजत और इन्द्रिय का सन्निकर्ष आवश्यक है। इसलिए इस रजत प्रतीति को ज्ञानाकार अर्थात् आत्मख्याति मानना ही अधिक उचित है।[२] इस सिद्धान्त के प्रसङ्ग मे नैयायिको का कथन है कि यदि विज्ञानमात्र ही सत्य है, तो फिर विभिन्न विज्ञानो मे विवेक का आधार क्या है? विज्ञान मात्र के आधार पर यथार्थ और अयथार्थ विज्ञान का विवेक नही हो सकता।

माध्यमिक बौद्ध अखिल विश्व की सत्ता का निषेध करते है,[३] उनके अनुसार भ्रम मे असत् को सत् के समान प्रतीति होती है, अत उनका सिद्धान्त **असत्ख्याति** कहलाता है। इस पक्ष के प्रसङ्ग मे नैयायिको का कथन है कि यदि अखिल विश्व के समान असत रजत की प्रतीति होती है, तो प्रतीयमान विश्व की उपलब्धि के समान शुक्ति मे रजत की भी उपलब्धि भी होती। अत परमार्थत एव व्यवहारत असत् रजत की प्रतीति सभव नही है।[४] अनादि वासना को प्रतीति का कारण मानना भी उचित न होगा, क्योकि ज्ञान के

१ न्याय निर्णय पृ० २२ २ माध्यमिक कारिका
३ न्याय मञ्जरी पृ० १६४ ४. वही पृ० १६४

असत् होने पर प्रवृत्ति न हो सकेगी। यह असत् प्रतीति असत् के रूप मे प्रतीत नही होती किन्तु सत् रूप मे होती है, अत प्रवृत्ति तो होगी ही, यह मानना उचित न होगा, क्योकि ऐसी स्थिति में, अर्थात् यदि असत् सत् के रूप मे आभासित होता है तो इसे **असत् ख्याति** न न कह कर **अन्यथा ख्याति** कहना ही अधिक उचित होगा।

वेदान्त मे इसी भ्रान्ति को **अनिर्वचनीय ख्याति** कहा गया है। इन्द्रिय दोष के कारण तथा अविद्या और पूर्व सस्कार के कारण एक अनिर्वचनीय रजत की प्रतीति होती है। यह प्रतीति सत् तो है ही नहीं इसे असत् भी नही कह सकते, क्योकि असत् का अनुभव नही होता। इसे सदसत् भी नही कह सकते क्योकि सदसत् प्रतीति परस्पर स्वत विरुद्ध है, अतः इस प्रतीति को अनिर्वचनीय कहना ही उन्हे उचित लगता है।[1] किन्तु इस भ्रान्त ज्ञान का भ्रान्ति की निवृत्ति होने पर शुक्ति के रूप से तथा भ्रान्ति की स्थिति मे रजत के रूप मे निर्वचन तो होता ही है, अत नैयायिक इसे **अनिर्वचनीयख्याति** मानने को प्रस्तुत नही है।[2]

प्रसिद्ध मीमासक प्रभाकर और उनके अनुयायी उपर्युक्त सभी पक्षो से भिन्न स्वतन्त्र मत रखते है, उनके अनुसार विपर्यय ज्ञान-'**अख्याति**' अर्थात् **विवेकाख्याति** है। इनके मतमे प्रत्यक्ष अनुभव और स्मृति के बीच विवेक का अभाव रहता है। अर्थात् शुक्ति मे विशेष लक्षणो का ज्ञान न होने से उसमे रजतत्व की अथवा रजत से अभेद की प्रतीति नही होती, अपितु दोषवश रजत का स्मरण होता है, अत भ्रम की कल्पना गौरव दोष पूर्ण है, उसे तो स्मृति ही कहना चाहिए।[3] इसके स्पष्टीकरण के लिए एक उदाहरण देखना अनुचित न होगा शुक्ति के प्रति यह रजत है (शुक्ताविद रजतम्)' इस भ्रमात्मक ज्ञान को नैयायिक एक ज्ञान मानता है, परन्तु प्रभाकर के अनुसार इसमे दो ज्ञान है, 'इदम्' यह **प्रत्यक्षात्मक** ज्ञान है, और 'रजतम्' यह **स्मरणात्मक** ज्ञान है, चूकि ये दोनो ही ज्ञान यथार्थ हैं, अत प्रभाकर इन्हे भ्रम मानने को प्रस्तुत नही है। पुरोवर्त्ती (शुक्ति) पदार्थ का ज्ञान **प्रत्यक्षात्मक** है और रजत का **स्मरणात्मक** है। इस प्रकार शुक्ति तथा रजत इन दोनो पदार्थों के प्रत्यक्षात्मक एव स्मरणात्मक दोनो ज्ञानो का परस्पर भेद सिद्ध हो जाने पर रजतार्थी मनुष्य

---

१. भामती पृ० २१. २. कणादरहस्यम् पृ० ११८

३. वही पृ० ११८

की रजत के आनयन में प्रवृत्ति नही होती; क्योकि भेद ज्ञान प्रवृत्ति का प्रतिबन्धक हो जाता है, और जिस समय उन दोनो पदार्थों के परस्पर अभेद प्रयुक्त दोनो ज्ञानो का भेद प्रतीत नही होता, उस समय रजतार्थी पुरुष की शुक्ति मे रजत आनयन के लिए प्रवृत्ति होती है। अत प्रभाकर के अनुसार भ्रमस्थल मे अन्यथाख्याति न होकर **अख्याति** अर्थात् **विवेकाख्याति** रहती है।

नैयायिक इस विवेकाख्याति को मानने को प्रस्तुत नही है, क्योकि इस मत मे कार्य कारण भाव दो मानने होगे, अत गौरव होगा। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार अख्याति स्थल मे प्रवृत्ति मे भेद ग्रहण का अभाव कारण है, उसी प्रकार सत्य रजत स्थल मे रजत का अभेदग्रह निवृत्ति मे प्रतिबन्धक है, अर्थात् सत्य रजत को जबकि हम रजत ही समझे हुए है, उसमे रजत के भेद का निश्चय नही है, तब अभेदग्रह के कारण रजतार्थी की उससे निवृत्ति नही होगी, अत अभेदग्रह रजतनिवृत्ति मे प्रतिबन्धक है तथा प्रतिबन्धक के अभाव के रूप मे अभेद के अग्रहण का अभाव निवृत्ति मे कारण है, यह मानना होगा। इस प्रकार शुक्ति से रजत के भेद का अग्रहण प्रवृत्ति मे कारण एव रजत के अभेद का अग्रहण निवृत्ति मे कारण है, यह निष्कर्ष हुआ, जिसके फलस्वरूप शुक्ति मे 'यह रजत' है, यह ज्ञान होने पर एक समय मे ही प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त नैयायिक प्रभाकर के अनुसार भ्रम को स्मृति मानने को इसलिए भी प्रस्तुत नही, क्योकि भ्रम निवारण होने पर हम यही कहते है, कि 'जो हमने देखा है वह रजत नही है, न कि जिसका हमने स्मरण किया है, वह रजत नही है', अत एव नैयायिक भ्रान्ति को विवेकाख्याति न मानकर उसे अनुभव ही मानते है।

ख्याति के सम्बन्ध मे उपर्युक्त मान्यताओ के अतिरिक्त विशिष्टाद्वैतवादियो का **अख्यातिसवलित ख्यातिवाद**, जो प्रभाकर के विवेकाख्याति से अधिक निकट है, भाट्ट मीमासको का **विपरीतख्यातिवाद**, जो नैयायिकों के अन्यथाख्याति वाद से पर्याप्त साम्य रखता है, तथा रामानुज का **सत्ख्याति वाद**, जिसमे सत् का अधिक सूक्ष्म ज्ञान अर्थात् साम्य दर्शन भ्रम का कारण माना जाता है, भी प्रसिद्ध है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते है कि विपर्यय के पांचों

सिद्धान्तो[1] की अपेक्षा न्यायशास्त्र का **अन्यथाख्यातिवाद** भ्रम की अधिक तर्क सगत व्याख्या है । किसी न किसी रूप मे यह अन्य सिद्धान्तों को भी प्रभावित करता ही है ।

भ्रान्ति वस्तुत प्रत्यक्ष ज्ञान है, केवल प्रतीयमान वस्तु मे एक असगत सम्बन्ध की कल्पना से वहा भ्रम हो जाता है । **ज्ञानलक्षण प्रत्यासत्ति** द्वारा पूर्वानुभूत रजत का वर्त्तमान मे अलौकिक प्रत्यक्ष होता है । अन्यथाख्याति के आलोचको का कथन है कि भ्रम मे **अलौकिक प्रत्यक्ष** मानना सगत नही है, क्योकि यदि अलौकिक प्रत्यक्ष को मान लिया जाए, तो प्रत्येक समय प्रत्येक पदार्थ का प्रत्यक्ष होना चाहिए। इस प्रकार अलौकिक प्रत्यक्ष के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को सर्वज्ञ होना चाहिए, जो अनुभव के विरुद्ध है ।

वस्तुत भ्रान्ति के प्रसग मे विद्यमान अलौकिक प्रत्यक्ष सर्वस्वीकृत अलौकिक प्रत्यक्ष से भिन्न है । अलौकिक प्रत्यक्ष मे प्रमेय वस्तु और इन्द्रियो का सन्निकर्ष नही हुआ करता, जबकि भ्रान्ति के अवसर पर रजत आदि के कान्ति आदि अनेक धर्मों से युक्त शुक्ति आदि का चक्षु आदि इन्द्रियो से सन्निकर्ष होता है अत इसे पूर्णत अलौकिक प्रत्यक्ष नही कह सकते । जिस समय भ्रान्तिजनक प्रत्यक्ष को अलौकिक प्रत्यक्ष कहा जाता है, तो उसका तात्पर्य केवल इतना है कि वह सामान्य लौकिक प्रत्यक्ष से भिन्न है, जिसमे प्रमेय वस्तु का इन्द्रिय सन्निकर्ष द्वारा तद्गत समस्त धर्मों के सहित ज्ञान होता है ।

न्याय शास्त्र मे विपर्यय दो प्रकार का माना गया है स्मर्यमाणआरोप और अनुभूयमानआरोप । स्मर्यमाणआरोप मे आरोप्य की उपस्थापना सारूप्यग्रह द्वारा होती है । अनुभूयमान आरोप मे भी यद्यपि सारूप्यग्रह का ससर्ग रहता है, किन्तु प्रधानतया वहा इन्द्रियगत दोषरूपी उपाधि का आरोप हुआ करता है, जैसे पीलिया रोग मे नेत्र मे विद्यमान पीतिमा के कारण शुभ्र शख भी पीला प्रतीत होता है, इसीप्रकार रसना पर पित्तका प्रभाव होने के कारण मधुर शर्करा मे भी तिक्तता की प्रतीति होती है, यह प्रतीति इन्द्रियगत दोष का वस्तु पर आरोप होने से विपरीत प्रतीति होती है ।[2] प्रस्तुत शुक्ति में रजत प्रतीति भी अनुभूयमान आरोप है, जहा इन्द्रियगत रजत सस्कार का शुक्ति पर आरोप होता है ।

---

१. सर्वदर्शन सग्रह सग्रह श्लोक ।

२. कणादरहस्यम् पृ० १२०

तर्क

अविज्ञात तत्व के सम्बन्ध मे जिज्ञासा होने के कारण अर्थात् हेतु की उपपत्ति से तत्व ज्ञान के लिए किया गया वितर्क तर्क कहा जाता है।[1] इस वितर्क मे चूकि निश्चयात्मक ज्ञान नही होता, अत इसे तत्वज्ञान अथवा प्रमा नही कहते।[2] निश्चयात्मक ज्ञान का अभाव यद्यपि सशय मे भी रहता है, किन्तु फिर भी दोनो मे अन्तर है। सशय मे निश्चय नही रहता, साथ ही निश्चय के लिए प्रयत्न भी नही होता, जबकि तर्क मे निश्चय न रहने पर भी निश्चयोन्मुख प्रयत्न रहता है, और उसके फलस्वरूप तर्क के उत्तर क्षण मे ही निश्चयात्मक ज्ञान की कोटि तक प्रमाता पहुच जाता है अथवा यो कह सकते है कि तर्क का प्रयोजन ही तत्व ज्ञान है। इसीलिए गौतम ने तर्क की परिभाषा मे 'ऊह' तथा ज्ञानार्थ' शब्द का समावेश किया है। उत्तर कालीन न्यायाचार्य विश्वनाथ आदि ने तर्क की अनुमानगत व्याप्ति के सहायक के रूप मे ही चर्चा की है।[3] सम्भवत इसीलिए अन्नभट्ट ने तर्क की परिभाषा भी 'व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप तर्क है' कहते हुए की है,[4] जो तर्क के अनुमान का साधक रहने पर ही समुचित कहा जा सकती है। अप्रमा के अन्य भेदो (सशय विपर्यय) से तर्क को पृथक् करने वाले तत्वो मे सर्व प्रमुख इसमे विद्यमान अनध्यवसाय है, जैसाकि ऊपर की पक्तियो मे स्पष्ट किया जा चुका है, इसीलिए आचार्य प्रशस्तपाद,[5] एव कणादरहस्यकार शकर मिश्र ने[6] इसका उल्लेख अनध्यवसाय नाम से ही किया है।

आचार्य प्रशस्तपाद ने तर्क (अनध्यवसाय) के दो भेद किये है, प्रत्यक्ष विषयक और अनुमान विषयक[7]। जैसे वाहीक देशवासी को कटहल देखकर उसकी सत्ता द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, वृक्षत्व, रूपवत्व आदि को देखते हुए अध्यवसाय होता है, साथ ही आम्रत्व आदि से भिन्न पनसत्व धर्म, जा कि कटहल का नित्य धर्म है, के सम्बन्ध मे जानकारी न होने के कारण अनध्यवसाय रूप (तर्क रूप) ज्ञान होता है यह तर्क प्रत्यक्ष के विषयभूत कटहल (पनस) आदि के सम्बन्ध मे होने के कारण **प्रत्यक्ष विषयक तर्क है**। इसी प्रकार

१ न्याय दर्शन १ १ ४०
२ वात्स्यायन भाष्य पृ० ३५
३ भाषा परिच्छेद १३७
४ तर्क सग्रह पृ० १५८
५ प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ८४,९०
६ कणाद रहस्यम् पृ० ११५,१२१
७. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ९०-९१

जिसने कभी गौ को नही देखा, उसे सास्ना आदि से विशिष्ट प्राणी को देख कर यह कौन पशु है ? इत्यादि अनध्यवसायात्मक ज्ञान होता है, चूंकि यह ज्ञान अनुमान विषयक है, अत इस अनध्यवसायात्मक ज्ञान को **अनुमान विषयक तर्क** कह सकते है ।

न्याय दर्शन के टीकाकार विश्वनाथ ने **आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था, तदन्यबाधितार्थप्रसङ्ग** भेद से तर्क के पांच भेद किये है । इनमे भी प्रथम तीन **उत्पत्ति, स्थिति और ज्ञप्ति** भेद से तीन-तीन प्रकार के हो जाते है ।[1] तर्क के सामान्यत दो कार्य है : स्वपक्ष का समर्थन एव परपक्ष मे दोष का उद्भावन । चूं कि तर्क का विभाजन करते हुए परपक्ष के खण्डन मे उठाये गये दोषो को ही आधार माना गया है, अत तर्क के इन उपर्युक्त भेदो के लक्षण एक प्रकार से दोषो के ही लक्षण हैं । जब परिभाषा मे लक्षण करने के लिए भी स्वलक्षण की अपेक्षा हो तो उस परिभाषा को निर्दुष्ट परिभाषा नही कह सकते तथा उसमे विद्यमान दोष को **आत्माश्रय** दोष कहते हैं ।[2] जैसे यदि यह घट इस घट के ज्ञान से अभिन्न होता तो यह ज्ञान सामग्री से उत्पन्न होता । चूं कि घट का ज्ञान घट बिना सभव नही अत. घट ज्ञान के प्रति घट को कारण माना जाता है, इस प्रकार ज्ञान सामग्री है, घट स्वय है । यदि घट और ज्ञान को अभिन्न माना जायेगा तो चूं कि घट ज्ञान घट से उत्पन्न है, अत घट को भी उसी घट से उत्पन्न मानना होगा । इस प्रकार घट को घटाश्रित या ज्ञान का ज्ञानाश्रित होना पडता है, फलत यह दोष आत्माश्रय कहा जायगा, तथा उस दोष पर आश्रित तर्क भी **आत्माश्रय** कहा जाएगा ।

जब दो तर्क अथवा दो परिभाषाए परस्पर एक दूसरे पर आश्रित होते है, तो वहा **अन्योन्याश्रय** दोष होता है, तथा उस दोष पर आश्रित **तर्क** को **अन्योन्याश्रय तर्क** कहा जाएगा ।

जब एक तर्क अथवा परिभाषा किसी अन्य तर्क अथवा परिभाषा पर आश्रित हो, तथा वह उत्तर तर्क या परिभाषा किसी अन्य तर्क या परिभाषा पर तथा यह तृतीय तर्क आदि पूर्व तर्क आदि पर आश्रित हो तो वहा **चक्रक** दोष माना जाता है ।

अव्यवस्थित परम्परा के आरोप से युक्त दोष को अनवस्था कहते है ।

---

१ न्याय दर्शन विश्वनाथ वृत्ति १ १ ४०   २. वही पृ० २१

उस पर आश्रित तर्क भी अनवस्था कहाता है। जाति बाधक दोषो मे भी अनवस्था एक दोष है, इसकी चर्चा प्रथम बिमर्श मे की जा चुकी है।[1]

प्रमाण बाधितार्थ प्रसग—वह दोष है जहा तर्क द्वारा सिद्ध अर्थ का प्रमाण विशेष द्वारा बाधन होता है। अनेक बार अनुमान की यथार्थता की परीक्षा के लिए जानकर विपरीत प्रतिज्ञा की जाती है, जो कि यथार्थ निर्णय के विपरीत सिद्ध होती है, फलत. यथार्थ और अयथार्थ दोनो अनुमानो की परीक्षा हो जाती है, इस परीक्षा के लिए आश्रित तर्क को **प्रमाण बाधितार्थ प्रसङ्ग** कहते है, जैसे—"पर्वत अग्नि वाला है, क्योकि वह धूम वाला है, जो-जो धूमवाला होता है, वह रसाई घर के समान अग्नि वाला होता है तथा जो अग्नि वाला नही होता, वह धूम युक्त भी नही होता जैसे जलाशय। चूकि पर्वत धूमवाला है, अत वह अग्नि वाला है' इस अनुमान मे 'पर्वत अग्नि वाला है' इस निगमन को को यदि प्रति पक्ष मानने का प्रस्तुत नही होता तो प्रति पक्षी के कथन को अयथार्थ सिद्ध करने के लिए प्रतिज्ञा को निगमन के विपरीत लेकर चलने है, अर्थात् विरोधी के कथन के अनुकूल तर्क प्रारम्भ करते है, जैसे उपर्युक्त अनुमान के निगमन वाक्य 'इसलिए पर्वत अग्नि वाला है' के विपरीत पर्वत पर अग्नि नही है, इस प्रतिज्ञा से तर्क प्रारम्भ करते है। सामान्य नियम के अनुसार (व्याप्ति के अनुसार) जहा-जहा अग्नि नही है, वहा-वहा धूम भी नही होगा, इसलिए हम कह सकते है कि 'पर्वत पर धूम नही है'। इस प्रकार विपरीत, अनुमान द्वारा 'पर्वत पर धूम का अभाव है' यह ज्ञान अनुमान से प्राप्त होता है, किन्तु हम पर्वत पर धूम का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा करते है; अतः प्रत्यक्ष द्वारा बाधित होने से इस विपरीत अनुमान का हेतु **बाधित हेत्वाभास.** सिद्ध होगा, हेतु नही, फलत पर्वत पर धूम नही है, यह ज्ञान यथार्थ सिद्ध नही सकेगा। इस क्रम मे जिसके द्वारा हम को इस निगमन का ज्ञान प्राप्त होता है वह भी निश्चित रूप से अयुक्त सिद्ध हुआ, अर्थात् यह कहना कि 'पर्वत पर अग्नि नही है', अनुचित सिद्ध हुआ और इसके द्वारा ही इसके विपरीत पूर्व अनुमान 'पर्वत पर अग्नि है' की सत्यता भी सिद्ध हो जाती है। इस प्रक्रिया मे आश्रित तर्क को **बाधितार्थ प्रसंग** तर्क कहते है।

---

१ इसी ग्रन्थ मे पृ० २६ द्रष्टव्य है।

इसे ही पाश्चात्य तर्क शास्त्र मे Indirect Reduction या Proof by reduction and absurdum कहा जाता है। यूनान के प्रसिद्ध गणितज्ञ यूक्लिड ने इसका प्रयोग रेखागणित मे कई साध्यो के सिद्ध करने के लिए किया है।

स्वप्न

प्राचीन आचार्यों ने अविद्या (अप्रमा) के भेदो मे सशय विपर्यय और तर्क के अतिरिक्त स्वप्न का भी परिगणन किया था।[1] आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार इन्द्रिय समूह जब मन मे विलीन हो जाता है, उस समय इन्द्रिय द्वारा मैं देखता हू, मै सुनता हू इत्यादि प्रतीति के साथ जो मानस अनुभव होता है, उसे स्वप्न ज्ञान कहते है।[2] अर्थात् जब प्राणिवर्ग बुद्धि पूर्वक आत्मा के प्रेरित शरीर की क्रियाओ से थक कर रात्रि मे विश्राम के लिए अथवा आहार के पाचन के लिए शयन करता है, उस समय अदृष्ट विशेष से उत्पन्न आत्मा और अन्त करण का सम्बन्ध होने पर इन्द्रियों से सर्वथा पृथग्भूत अन्त-हृदयस्थ आत्म प्रदेश मे मन निश्चल होकर स्थित होता है, इस स्थिति मे समस्त इन्द्रिया मन मे विलीन रहती है किन्तु प्राण और अपान की क्रिया प्रबन्ध पूर्वक विद्यमान रहती है, इस स्थिति मे स्वापनामक सस्कार विशेष से अथवा इन्द्रियो द्वारा ही विषयो के बिना ही जो प्रत्यक्षाकार ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे स्वप्न कहते है।

यह स्वप्न ज्ञान तीन कारणो से उत्पन्न होता है सस्कार पाटव से, धातु दोष से, तथा अदृष्ट विशेष से। जैसे कामी या क्रोधी आदि व्यक्ति जब किसी विशेष विषय का चिन्तन करता हुआ सोता है, तो उसकी वह चिन्ता ही प्रत्यक्ष रूप से स्वप्न मे प्रगट होती है। शरीर को धारण करने वाले वात पित्त कफ आदि तत्वो को धातु कहते हैं। इनमे से वात प्रकृति वाला व्यक्ति, अथवा वात के कुपित होने पर कोई भी व्यक्ति आकाशगमन आदि देखता है। इसी प्रकार पित्तप्रकृति अथवा जिसका पित्त कुपित है वह व्यक्ति, अग्नि प्रवेश स्वर्ण पर्वत आदि देखता है। इसी प्रकार कफप्रकृति व्यक्ति, या जिसका कफ कुपित है वह व्यक्ति नदी समुद्र आदि का सन्तरण, हिम पर्वत

---

१ (क) प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ८५ (ख) कणाद रहस्य पृ० ११५

२ प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ६१

आदि देखता है। कभी-कभी स्वय अनुभूत अथवा अननुभूत, प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध शुभसूचक गजारोहण, छत्रलाभ आदि का भी दर्शन करता है यह दर्शन संस्कार और धर्म के कारण होता है। इसके विपरीत तेल मालिश गदहा अथवा ऊट की सवारी आदि अशुभ सूचक स्वप्न संस्कार और अधर्म के कारण दिखाई पडते है। अत्यन्त अप्रसिद्ध विषय का स्वप्न केवल अदृष्ट के कारण ही होता है।

कभी कभी स्वप्न मे ही पूर्व दृष्ट स्वप्न का अनुदर्शन भी होता है इसे अनुभव न कह कर स्मृति ही कहा जाएगा। प्राचीन नैयायिको के अनुसार स्वप्न चूकि अविद्या है, अत वह तत्व ज्ञान का प्रतिपक्षी कहा जा सकता है, किन्तु योग दर्शन मे चित्त की स्थिरता के लिए स्वप्न ज्ञान के आश्रय को भी साधन माना गया है,[१] अत इसे योग मत मे तत्वज्ञान का अग भी कहा जा सकता है।

यथार्थ अनुभवः

प्रमा अथवा यथार्थ अनुभव चार प्रकार का है **प्रत्यक्ष अनुमिति उपमिति और शाब्द**। इन अनुभवो के अन्यतम कारण (करण) भी चार है **प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द**। चूकि किसी प्रमेय के सम्बन्ध मे ज्ञान अर्थात् प्रमा प्रमाण के बिना सम्भव नही है, अत प्रमा और प्रमाण नित्य सम्बद्ध कहे जा सकते है, इसीकारण प्रमा का विभाजन भी प्रमाणो के आधार पर ही किया गया है, यही कारण है कि प्रमाण और प्रमा दोनो के ही चार चार भेद किये गये है। भारतीय विचारको मे प्रमाण की सख्या के सम्बन्ध मे अत्यधिक मत भेद है, चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है, जबकि साहित्य शास्त्र मे यह सख्या सर्वाधिक अर्थात् अठारह है। किन्तु नैयायिक केवल चार प्रमाण ही मानता है। न्याय शास्त्र मे प्रमाणो की सख्या चार ही क्यो स्वीकार की गयी है इस पर विचार आगे किया जाएगा।

न्याय शास्त्र मे 'प्रमीयते अनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमा के प्रति असाधारण कारण का **प्रमाण** माना गया है।[२] सर्वदर्शनसग्रहकारके अनुसार साध-

---

१ (क) योग दर्शन २ ३८ (ख) योग भाष्य पृ० १०५

२. (क) न्याय भाष्य पृ० ११ (ख) न्याय सूत्रवृत्ति पृ० ६

नाश्रय से भिन्न न होते हुए भी जो प्रमा व्याप्त है, उसे **प्रमाण** कहते है।[1] माधवाचार्य की इस परिभाषा के अनुसार प्रमा की पूर्व स्थिति ही **प्रमाण** है, न कि प्रमा का कारण, जैसाकि नैयायिक मानते है। चू कि **प्रमाण** का कार्य केवल **प्रमा** अर्थात् यथार्थ अनुभव को उत्पन्न करना ही नहीं, अपितु कभी कभी यथार्थ की परीक्षा करना भी होता है अत न्याय शास्त्र की परम्परागत परिभाषा की अपेक्षा माधवाचार्य कृत परिभाषा को अधिक उपयुक्त कहा जा सकता है।

चू कि नैयायिक प्रमा के प्रति असाधारण कारण को **प्रमाण** मानते हैं, अत इनके मत मे प्रमाण न तो आत्मा है, और न मन और नही ही ज्ञाने-न्द्रिया, क्योकि ये कोई भी ज्ञान के प्रति असाधारण कारण नही है। मीमासको के अनुसार 'अज्ञात विषय का ज्ञाता ही प्रमाण है' किन्तु मीमासको का यह प्रमाण लक्षण किसी वस्तु के क्रमिक ज्ञान के बोधक प्रमाण मे अव्याप्त होता है, अत इसे ग्राह्य नही मान सकते ।

नैयायिको के चतुर्विध अनुभव मे पाश्चात्य दार्शनिको द्वारा स्वीकृत Intution (बिना सोचे विचारे ही प्राप्त ज्ञान) तथा Belief (विश्वास) समाविष्ट नही हो पाते, क्योकि Intution की उत्पत्ति के लिए इन्द्रिय आदि किसी करण (असाधारण कारण) की आवश्यकता नही होती, अत वह अनुभव प्रत्यक्ष आदि किसी भेद मे समाहित नही हो पाता ।

प्रमाण की परिभाषा के प्रसग मे प्रमा के प्रति असाधारण कारण को प्रमाण कहा गया है। चूंकि कारण और असाधारण कारण के परिचय के बिना प्रमाणो की परिभाषा समझने मे सुविधा न होगी अत प्रमाणो के विवेचन से पूर्व कारण और असाधारणकारण (करण) आदि का विवेचन कर लेना अधिक प्रासगिक होगा ।

---

१. सर्वदर्शन संग्रह पृ० ६०

करण

व्यापार युक्त असाधारण कारण को करण कहते है।[1] नैयायिको मे प्रयुक्त यह करण शब्द वैयाकरणो के करण शब्द के समान ही है, व्याकरण शास्त्र के अनुसार 'किसी क्रिया के प्रति साधक को अथवा वाक्य व्यवहार के अनुसार क्रियान्वयी शब्द को कारक कहते है,[2] जो नैयायिको के कारण शब्द के समानान्तर है। जिस प्रकार व्याकरण शास्त्र मे 'मुख्यतम साधक को करण कहा गया है,[3] उसी प्रकार इस शास्त्र मे असाधारण कारण को करण कहा गया है। करण की अन्नभट्ट कृत उपर्युक्त परिभाषा मे असाधारण पद का प्रयोग दिशा और काल मे अतिव्याप्ति निवारण के लिए है, किन्तु इसमे उद्देश्य की पूर्ण सिद्धि नही हो पाती, क्योकि निमित्तकारण काल और दिशा मे अतिव्याप्ति का निवारण होने पर भी समवायिकारण और असमवायिकारणो मे अतिव्याप्ति का निवारण नही हो पाता। नीलकण्ठ ने 'असाधारण' पद के स्थान पर 'जिस कारण के विलम्ब मे अन्य कारणो के रहने पर भी कार्य न हो, यह विशेषण वाक्य जोड़ने की सम्मति दी है। किन्तु यह विशेषण 'असाधारण' पद की अपेक्षा उचित नही कहा जा सकता, क्योकि किसी भी एक कारण के अभाव मे अन्य कारणो के रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति नही हो सकती।

पूर्व परिभाषा के अनुसार दण्ड को असाधारण निमित्तकारण माना जाता है, किन्तु गृहकोण मे विद्यमान, कार्य मे अप्रवृत्त दण्ड को क्या असाधारण कारण मानना उचित होगा ? नही, इसलिए न्यायबोधिनीकार ने करण की इस परिभाषा मे विद्यमान असाधारण पद का अर्थ 'व्यापारवत्त्व' करना आवश्यक माना है।[4] कार्यविरत दण्ड घटोत्पादन की शक्ति रहने पर भी व्यापार न होने पर घट का उत्पादन नहीं कर सकता। यहा व्यापार का

---

१ तर्क सग्रह पृ० ७४। २ (क) पातञ्जल महाभाष्य १ ४ ३.२३ (ख) विभक्त्यर्थ निर्णय पृ० ८ (ग) व्याकरण सुधानिधि १ ४ २२

३ अष्टाध्यायी–१ ४ ४२ ४. न्यायबोधिनी पृ० २५

अर्थ है 'जो जिससे उत्पन्न हो उसके कार्य का कारण भी हो।'[1] सिद्धान्त चन्द्रोयकार श्रीकृष्ण धूर्जटि व्यापार की इस परिभाषा मे 'द्रव्य से भिन्न होना' विशेषण का जोडना भी आवश्यक मानते है, अन्यथा मध्यमावयवी 'कपाल' मे अनिव्याप्ति होगी।

नव्य नैयायिको तथा मीमासको ने करण की इस परिभाषा के स्थान पर 'फलयोग से व्यवच्छिन्न कारण करण है' यह परिभाषा की है। इसके अनुसार कार्य की उत्पत्ति से अव्यवहित पूर्व विद्यमान कारण को करण कहा जाता है। इस प्रकार प्राचीन मत मे जिसे व्यापार कहा गया था उसे ही नवीन मत मे करण स्वीकार किया गया है, फलत प्राचीनो का करण नवीन मत मे साधारण कारण मात्र रह जाता है। सक्षेप मे हम कह सकते है कि प्रत्यक्षानुभव के प्रति जहा प्राचीन नैयायिक इन्द्रियों को करण मानते है वही नव्य इन्द्रिय को साधारण कारण तथा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को करण स्वीकार करते है।

नव्यनैयायिको के अनुसार प्राचीन मत मे दो दोष है --१ प्राचीन मत मे अनुमान गत व्याप्तिज्ञान को करण तथा परामर्श को व्यापार माना जाता है, किन्तु व्याप्तिज्ञान ज्ञान होने के कारण गुण है, तथा गुण व्यापार युक्त या कर्मयुक्त नही हो सकता २. यदि इस दोष से बचने के लिए मन को अनुमिति ज्ञान का करण माने तो मानसप्रत्यक्ष एव अनुमिति दोनो मे मन के ही करण होने के कारण दोनो की भिन्नता पर व्याघात होगा।

कार्य :—

कार्य का अर्थ है 'प्रागभाव का प्रतियोगी[3] (counter entity) अर्थात् जिसका आदि हो वही कार्य है'। किसी भी वस्तु के उत्पन्न होने से पूर्व उस वस्तु के अभाव को उस वस्तु का प्रागभाव कहते है, तथा जिस वस्तु का अभाव हो उसे प्रतियोगी कहते है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु जिसका प्रागभाव हो : जिसका आदि हो, कार्य है। कार्य नित्य नही हो सकता। वस्तु की यह अनित्यता दोनो ओर हो सकती है, उसकी स्थितिकाल

---

१ भाषा रत्न पृ० ७१

२. भाषारत्न पृ० ७२

३. तर्क सग्रह पृ० ७७

से पूर्व (भूतकाल मे) तथा उसके विनाश काल के अनन्तर अर्थात् भविष्यत्काल मे। इस प्रकार **प्रागभाव और प्रध्वसाभाव** दोनो अनित्य है, किन्तु प्रागभाव का केवल **अन्त** है, जब कि प्रध्वसाभाव का केवल **आदि**।[1] आदि होने से प्रध्वसाभाव कार्य हो सकता है, किन्तु *प्रागभाव कार्य नही हो सकता*, और इसलिए प्रागभाव अपने प्रागभाव का प्रतियोगी नही हो सकता। इस प्रकार कार्य आदि होने से प्रागभाव का प्रतियोगी एव अन्त होने से ध्वसाभाव का प्रतियोगी सिद्ध होता है।

प्रतियोगिता एक सम्बन्ध है, जो किसी वस्तु और उसके अभाव के मध्य स्थित है। यद्यपि यहा एक प्रश्न हो सकता है कि 'अभाव एव भाव के बीच सम्बन्ध कैसे सम्भव है'? उसका समाधान यह है कि यह प्रतियोगिता-सम्बन्ध किन्ही बाह्य वस्तुओ के बीच भावात्मक सम्बन्ध नही है, यह दो पदार्थों के बीच विद्यमान कल्पनात्मक सम्बन्ध है।

यह प्रतियोगिता सम्बन्ध दो प्रकार का होता है **विरुद्ध और विलिवेद्य**। **विरुद्ध सम्बन्ध** मे दो पदार्थो मे एक का भावात्मक और दूसरे का अभावात्मक होना आवश्यक है, जैसे पटाभाव मे प्रतियोगी **घट** है। प्रतियोगिता सम्बन्ध घट और उसके अभाव के मध्य रहता है, इनमे घट भावात्मक है एव उसका अभाव अभावात्मक। **विलिवेद्य सम्बन्ध** मे दोनो सम्बद्ध्य पदार्थो का भावात्मक होना आवश्यक है, जैसे 'मुख चन्द्रसदृश है' इस प्रतीति मे मुख और चन्द्र के मध्य विद्यमान सादृश्य सम्बन्ध विलिवेद्य सम्बन्ध है। यह सादृश्य मुख और चन्द्र मे विद्यमान गुणो का है, जिनकी कि भावात्मक सत्ता है। इसप्रकार जिस वस्तु का अभाव होता है, या जिस वस्तु से किसी वस्तु को सदृश कहा जाता है, उसे **प्रतियोगी** कहते है जैसे घटाभाव मे **घट** को एव 'चन्द्र सदृश मुख है' मे **मुख** को प्रतियोगी कहा जाता है। अभाव या सादृश्य के आश्रय को **अनुयोगी** कहते है। जैसे 'भूतल मे घट का अभाव है' घटाभाव के आश्रयभूत **भूतल** का एव 'चन्द्रसदृश्य मुख है' मे चन्द्रसादृश्य के आश्रयभूत मुख को सादृश्य का **अनुयोगी** कहा जाएगा।

इस प्रकार घटप्रागभाव का प्रतियोगी होने से **घट** को, एव पट प्रागभाव का प्रतियोगी होने मे **पट** को **कार्य** कहा जाएगा।

---

१. तर्क सग्रह पृ० १६६

कारण वाद

कार्य की उपर्युक्त परिभाषा ने चिन्तन की परम्परा मे एक विशेष सिद्धान्त को जन्म दिया है, जिसको कारणवाद कहते है। इसके आधार पर ही न्याय वैशेषिक दर्शन को अन्य दर्शनों से पृथक् किया जाता है। नैयायिको के वस्तुवाद की यही कुञ्जी है।

कारणवाद के सम्बन्ध मे भारतीय दार्शनिको मे मुख्यत चारमत है। बौद्धो की मान्यता है, कि अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है। शाकर वेदान्त में इसके विपरीत सद्ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति मानी जाती है जो स्वय न सत् है, न असत् और न सदसदात्मक, अपितु वह अज्ञानवश कल्पित विवर्त्तमात्र है। साख्य दर्शन के अनुसार सत् प्रकृति से विकृतिरूप सद् विश्व की अभिव्यक्ति मानी जाती है। न्याय दर्शन मे सत् अर्थात् पूर्वत विद्यमान एव भावरूप नित्य परमाणुओं से असत् अर्थात् पूर्वत अविद्यमान घटादि ब्रह्माण्ड पर्यन्त सृष्टि स्वीकार की जाती है।[1]

बौद्धों का कथन है कि बीज आदि के नष्ट होने पर ही वृक्ष आदि उत्पन्न होते है। अत बीज आदि वृक्ष आदि के कारण नही है, अपितु वृक्ष आदि का कारण बीज आदि का अभाव है। फलत अभाव से कार्य की उत्पत्ति होती है यह उनका विचार है।

वेदान्त मत मे एक सद्रूप ब्रह्म के अज्ञान से कल्पित यह जगत् सत् नही है, न असत् और न सद सत्, किन्तु मिथ्या है। इस मत मे उपादान और उपादेय अर्थात् कारण और कार्य का सम्बन्ध वास्तविक नहीं, किन्तु कल्पना-मात्र माना जाता है।

साख्यवादी कारण और कार्य दोनो को सत् मानते है, साथ ही इनकी मान्यता है कि कार्य मे कारण अव्यक्त रूप मे विद्यमान रहता है। कारण व्यापार से उसकी अभिव्यक्ति होती है।

न्यायमत मे रूप रस आदि गुणो से युक्त नित्य परमाणु मे अविद्यमान द्व्यणुकादि कार्य की उत्पत्ति मानी जाती है, इस द्व्यणुक मे भी उत्पत्ति के क्षण मे अविद्यमान रूप रस आदि कार्य गुणो की उत्पत्ति होती है। इसी

१. दर्शन सग्रह पृ० ११८

प्रकार क्रमश. असत् कारण से त्रसरेणु से लेकर महाभूत पर्यन्त सृष्टि उत्पन्न होती है। ये कार्य कारण मे सर्वथा भिन्न होते है।

इनमे से **नैयायिक और सांख्यवादी** दोनो ही कार्य और कारण दोनो को ही वास्तव मानते हैं किन्तु **सांख्य** उत्पत्ति से पूर्व भी कारण मे कार्य की सत्ता स्वीकार करता है, जब कि न्याय मत मे कार्य की पूर्व सत्ता अमान्य है।

न्याय के इस कारणवाद को **असत्कार्यवाद** एव साख्य की कारण सम्बन्धी विचारधारा को **सत्कार्यवाद** कहते है। इन नामो के द्वारा ही साख्य और न्याय का परस्पर विरोध स्पष्ट हो जाता है। पूर्व पृष्ठो मे दी गयी कार्य की परिभाषा के द्वारा भी उत्पत्ति से पूर्व कार्य का पूर्णत न होना ही सिद्ध होता है।

साख्यशास्त्र मे कार्य की कारण मे पूर्वसत्ता सिद्ध करने के लिए निम्न-लिखित पाच युक्तिया दी जाती है, (१) असत् या अविद्यमान होने पर कार्य की उत्पत्ति हो ही नही सकती। (२) कार्य की उत्पत्ति के लिए उसके उपादान कारण का ग्रहण अवश्य करना पडता है, अर्थात् कार्य सभी कारणो मे नियत रूप सम्बद्ध होता है। (३) सभी कार्य सभी कारणो से उत्पन्न नही होते। (४) जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न करने मे समर्थ है, उसमे उसी कार्य की उत्पत्ति होती है और (५) कार्य कारण से अभिन्न या उसी के स्वरूप का होता।[1]

साख्यकार का उपर्युक्त युक्तियो से अभिप्राय यह है 'यद्यपि बीज और मृत्तिका पिण्ड इत्यादि के नष्ट हो जाने पर ही उनमे क्रमश अकुर और घट इत्यादि की उत्पत्ति पायी जाती है, तथापि अकुर इत्यादि की उत्पत्ति का कारण बीज इत्यादि का विनाश या अभाव नही, अपितु उनके भावरूप अवयव ही है। अभाव से भाव की उत्पत्ति मानने पर अभाव के सर्वत्र सुलभ होने से सर्वत्र सभी कार्यों के उत्पन्न होने का दोष उपस्थित होगा। निष्कर्ष यह है कि 'जो जिससे सम्बद्ध होता है, वह उसी का कार्य होता है और जिससे सम्बद्ध नही होता, उसका कदापि कार्य नही होता, फलत जिस प्रकार तिलो के पेरे जाने पर उनमे पहले से ही अनभिव्यक्त रूप से विद्यमान तेल, धान के कूटे जाने पर उनमे पूर्वत विद्यमान चावल, एव

---

१. (क) साख्यकारिका ९ (ख) तत्व कौमुदी पृ० ४२

गौओं के दुहने पर उनमें पूर्वत विद्यमान दूध की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार प्रधान मे पूर्वत अव्यक्तरूप मे विद्यमान कार्य-विश्व की उत्पत्ति होती है।

कारण व्यापार से पूर्व ही कार्य के विद्यमान होने का एक यह भी हेतु है कारण और कार्य के बीच परस्पर सम्बन्ध है, अर्थात कार्य के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित कारण ही कार्य को उत्पन्न करता है, और यदि कार्य पूर्वत असत है, तो उसका कारण के साथ सम्बन्ध भी असम्भव है। अत वह कार्य कारण व्यापार के पूर्व भी अवश्य ही सत् होगा। यदि यह माना जायगा कि कारण मे असम्बद्ध कार्य की ही उत्पत्ति होती है, तो सभी कारणो मे सभी कार्यो की उत्पत्ति सम्भव माननी होगी, जब कि हम नियत कार्य की नियत कारण से ही उत्पत्ति देखते है, अत यह मानना ही होगा कि असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति असम्बद्ध कारण मे नही होती। जो कारण जिस कार्य की उत्पत्ति मे समर्थ है, उस समर्थ कारण से उसी शक्य कार्य की उत्पत्ति होने से कारण और कार्य को असम्बद्ध नही कहा जासकता, क्योंकि यदि यह माने कि प्रत्येक कारण से प्रत्येक कार्य उत्पन्न नही हो सकता, अपितु कोई-कोई कार्य ही उत्पन्न होता है, तो प्रश्न होता है कि वह कार्य कारण से सम्बद्ध है या असम्बद्ध? असम्बद्ध मानने पर फिर वही अव्यवस्था हो जायेगी, एव सम्बद्ध मानने पर सत्कार्य वाद ही सिद्ध होता है। कार्य इसलिए भी उत्पत्ति के पूर्व सत् सिद्ध होता है, क्योंकि वह कारण रूप ही होता है। कार्य कारण से भिन्न नहीं होता और कारण तो सत् है, तो उससे अभिन्न कार्य को भी सत ही होना चाहिए असत् नही।

उपर्युक्त सभी युक्तियाँ न्याय के असत्कार्यवाद का खण्डन करती है, साथ ही बौद्धो के असत्कारण से सत्कार्य की उत्पत्ति का भी पूर्णत खण्डन करती है। उपर्युक्त विरोध साख्यवादियो से नैयायिकों एव वैनाशिक बौद्धो का समानरूप से है, इसी समानता के कारण (वैनाशिक बौद्धो मे साम्य के कारण) नैयायिको को अर्धवैनाशिक सज्ञा दी जाती है।

साख्य शास्त्र की उपर्युक्त युक्तियो से रक्षा के लिए नैयायिको का उत्तर यह है कि 'यदि कार्य को कारण से पृथक् न मानेगे तो घट आदि का अस्तित्व ही सन्देह युक्त हो जायगा, क्योकि घट का कारण मृत्तिका है, साथ ही मृत्तिका ही शराव का भी कारण है। यदि कारण और कार्य

अभिन्न माने जाएगे तो एक ओर घट और मृत्तिका को अभिन्न होना चाहिए, एव दूसरी ओर घट और शराव को अभिन्न होना चाहिए और इस अभेद के कारण घट और शराव को भी गणित के समानान्तर सिद्धान्त के अनुसार अभिन्न होना चाहिए, किन्तु घट अपने कम्बुग्रीवादि आकार विशेष के कारण शराव से सर्वथा भिन्न है। फलत कार्य भी कारण से सर्वथा भिन्न है, यह सिद्ध होता है।

नैयायिको की दूसरी युक्ति है कि घट कार्य का आकार विशेष (कम्बुग्रीवादिमत्व) हमे कारण मे नही दीखता, यह कहाँ से आया ? यह कम्बुग्रीवादिमत्व कारण मे अनभिव्यक्त रूप से विद्यमान था एव कार्य मे उसकी अभिव्यक्ति होती है' ऐसा नही कह सकते, क्योकि अभिव्यक्ति के लिए यही प्रश्न पुन उपस्थित होता है कि यह अभिव्यक्ति कारण मे विद्यमान थी ? अथवा कारण मे अविद्यमान अभिव्यक्ति कार्य मे नवीन उत्पन्न हुई है ? यदि अभिव्यक्ति की नवीन उत्पत्ति माने तो असत्कारणवाद सिद्ध ही है, यदि पूर्व से कारण मे विद्यमान अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति मानते है, तो इस अभिव्यक्ति मे पुन अनवस्था दोष उपस्थित होता है। निदान कार्य की कारण से अभिव्यक्ति नही किन्तु उत्पत्ति ही माननी चाहिए।

तात्पर्य यह है कि यदि कार्य कारण से यथार्थत अभिन्न है तो प्रश्न होता है कि कार्यगत विशेषताए आकार विशेष आदि वास्तविक है, अथवा अवास्तविक ? यदि वास्तविक है, तो निश्चित ही उन्हे नवीन उत्पन्न होना चाहिए जैसाकि नैयायिक स्वीकार करते है, अथवा उन्हे अभिव्यक्त होना चाहिए जैसाकि साख्यवादी स्वीकार करते है। यदि द्वितीय पक्ष अर्थात् अभिव्यक्ति मानी जाए तो वह अभिव्यक्ति भी कारण मे नही थी, अत उस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति माननी होगी, इस प्रकार अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति का अन्त न होने से अनवस्था दोष उपस्थित होगा। यदि कार्य गत विशेषताओ का अवास्तविक माना जाए तो उन्हे केवल प्रतीतिमात्र अर्थात् अध्यास या विपरीतख्यातिमात्र होना चाहिए जैसाकि वेदान्ती स्वीकार करते हैं। इस प्रकार यह विवाद अनिर्णीत ही रह जाता है।

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि न्याय के असत्कार्यवाद का आधार **वस्तुवाद** अर्थात् यथार्थवाद (Realism) है, जबकि सत्कार्यवाद मूल रूप से काल्पनिक मान्यताओ पर आधारित है। न्याय के परमाणु

ईश्वर, जीव, सामान्य, विशेष और अभाव सभी का मूल आधार **असत्कार्यवाद** ही प्रतीत होता है। अतएव न्यायवैशेषिक के सिद्धान्तो को समझने के लिए इस कारणवाद को पूरी तरह समझना नितान्त आवश्यक है। न्याय-वैशेषिक मे प्रत्येक वस्तु के तीन कारण स्वीकार किये जाते है निमित्तकारण, असमवायि कारण और समवायि कारण।

न्यायवैशेषिक मे स्वीकृत **निमित्त कारण** के सम्बन्ध मे अन्य दार्शनिक मान्यताओ से कोई विरोध नही है। असमवायिकारण केवल नैयायिको की अपनी ही मान्यता है, इसकी अन्यत्र कही चर्चा भी नही है, उपर्युक्त सम्पूर्ण विवाद समवायिकारण के सम्बन्ध मे है।

सत्कार्यवाद के समर्थक मीमासको द्वारा नैयायिको के असमवायि कारण पर मुख्यत प्रहार किये गये है। दोनो ओर से दीजाने वाली अकाट्य युक्तियो के आधार पर यद्यपि यह निर्णय करना कठिन है कि भूल कहा है? किन्तु इतना तो प्रत्येक पाठक अनुभव करता है कि दोनो पक्ष सत्य नही हो सकते। दोनो ही अपनी पूर्व निश्चित मान्यताओ से बिना हटे ही समस्या के समाधान मे तत्पर होते है, यही उनका मौलिक दोष है। वस्तुत किसी सिद्धान्त तक पहुचने के लिए आवश्यक होता है कि सामान्य से विशेष की ओर बढते हुए सिद्धान्त का अन्वेषण किया जाए। अर्थात् सामान्य नियमो के आधार पर विशेष नियम निर्धारित किये जाए। पाश्चात्य दार्शनिका तथा आधुनिक वैज्ञानिको ने इसी आगमनप्रणाली (Diductive method) को ही सिद्धान्त तक पहुचने के लिए अपनाया है, किन्तु इन दार्शनिको ने (मीमासको) और नैयायिको ने इसके विपरीत विशेष से सामान्य की ओर निगमन प्रणाली (Inductive method) द्वारा पहुचने का प्रयत्न किया है, फलत इनकी मान्यताए यद्यपि अति-व्याप्ति, और असम्भव नामक लक्षण दोषो से बचकर दार्शनिक परिभाषा के रूप मे स्थापित हो सकी हैं, किन्तु चूकि इनकी प्रारम्भिक मान्यताए आधार हीन है, अत इनके आधार पर मूल रहस्य तक पहुँच सकना कठिन है, यद्यपि सुन्दर शाब्दिक चयन के कारण इनमे दोषत्रय (अति-व्याप्ति अव्याप्ति और असम्भव) दिखासकना भी सरल नही है।

कर्त्ता—

कारण की परिभाषा मे कारण को **अन्यथासिद्ध** से भिन्न कहा गया है, किन्तु **अन्यथासिद्ध** की कोई सुन्दर परिभाषा नही की गई है[1], नही ही उसका विभाजन ही किसी सुदृढ आधार पर स्थापित है। वह विभाजन तो केवल उदाहरणो की दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है, मौलिक नही। फलत न्यायशास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी को नैयायिको के कारण और अन्यथासिद्ध को पहचानने के लिए निस्सहाय हो जाना पडता है। न्यायशास्त्रीय परम्परा मे घट कार्य के प्रति कुम्हार के पिता को अन्यथासिद्ध कहा है, किन्तु कुम्हार क्या है? न्यायशास्त्र के अनुसार दण्ड, चक्र आदि को निमित्तकारण माना गया है, क्या इनके मध्य ही कुम्हार का भी रखाजाए? एक ओर तो कोई क्रिया चेतना सम्पन्न कर्त्ता के बिना सम्पन्न नही हो सकती अत इसे कर्त्ता या कारण होना चाहिए। दूसरी ओर कारण की परिभाषा के अनुसार उसे नियतपूर्ववर्ती होना चाहिए, जबकि यह नियतपूर्ववर्तित्व निमित्त कारण दण्ड चक्र आदि की गति मे है, न कि कुम्हार मे; अत गति तो कारण हो सकती है, किन्तु निमित्त कारण दण्ड चक्र आदि मे गति जनक सचेतन कुम्हार कर्त्ता भले हो, किन्तु नियत पूर्ववर्त्ती न होने से कारण नही हो सकता। किन्तु कोई भी दार्शनिक कुम्हार को अन्यथासिद्ध न मानना चाहेगा। यह तो दण्ड चक्र आदि की अपेक्षा भी अधिक महत्वपूर्ण कारण है। यद्यपि नैयायिको ने स्वीकृत कारणो मे इसे दण्ड चक्र आदि की अपेक्षा कोई अधिक महत्व नही दिया है। इस प्रकार हमे न्याय की परम्परा मे सचेतन कर्त्ता एव अन्य निमित्त कारणो मे कोई अन्तर दृष्टिगोचर नही होता।

इसी प्रकार न्यायशास्त्र मे उपादान और निमित्त कारण मे अन्तर पूर्णत स्पष्ट नही है। एक घडे के निर्माण के लिए मिट्टी के कणो के पिण्डी भाव के लिए स्नेहगुण विशिष्ट जल की अपेक्षा होती है। अब प्रश्न यह है कि जल को क्या माना जाए, उपादान कारण या निमित्त कारण? न्यायशास्त्रीय परिभाषा के अनुसार 'जो कारण कार्य की उत्पत्ति के बाद भी कार्य के साथ रहता हो उसे उपादान कारण कहते है, इस

---

१. इसी पुस्तक के पृ० १४५ देखे।

आधार पर जल को उपादान कारण मानना चाहिए; क्योंकि सामान्यतः घड़े का भार उसके न्यायशास्त्र स्वीकृत उपादान कारण मिट्टी से कुछ अधिक होता है एव यह अधिक भार निश्चित रूप से जल का ही होना चाहिए। इस प्रकार जल घड़े का उपादान कारण सिद्ध होता है, जबकि नैयायिको ने इसे निमित्त कारण ही स्वीकार किया है, यद्यपि उन्हे जल को निमित्त न मानकर उपादान कारण ही मानना चाहिए था। सत्कार्य-वादियो के लिए तो यथार्थत उपादान कारण प्रतीत होने वाला जल एक और विकट समस्या उपस्थित करता है, वह यह कि सत्कार्य वाद के अनुसार कार्य कारण मे अनभिव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है, किन्तु पर्वत से ली गयी मिट्टी और यमुना से लिए गये जल मे (दोनो उपादान कारणो मे, जो बहुत दूर पर अवस्थित थे) कार्य किस रूपमे विद्यमान रह सकता है ? यदि इस घट कार्य को यान्त्रिक मिश्रण का परिमाण मानकर निर्वाह भी करना चाहे तो रासायनिक मिश्रण से उत्पन्न हो वाले कार्यों का सामाधान तो सम्भव ही न हो सकेगा, क्योकि रासायनिक मिश्रण के अवसर पर तो वे रसायन के साथ मिश्रित होने वाले द्रव्य स्वय ही परिवर्तित हो जाते है।

उपर्युक्त दोषो का हल चाहे कुछ विशेष चिन्तन एव प्रयत्न द्वारा मिल भी जाए, किन्तु कुछ दोष तो ऐसे है, जो सत्कार्यवाद एव असत्कार्यवाद दोनो मे ही समान रूप मे उपस्थित होते है, जिन्हे जे एस मिल (J. S. MILL) ने कारण बहुत्व एव कार्यों का मिश्रण (Plurality of causes Intermixture of effects) कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय दार्शनिको का ध्यान इधर गया ही नही है। जैसे एक औषधि का निर्माण अनेक वनस्पतियो एव खनिजो के मिश्रण से किया गया है, अब यहा प्रश्न उपस्थित होता है कि उन अनेक उपादानों में से किसे उस औषधि का उपादान कारण स्वीकार किया जाए ? क्या उन अनेक उपादानो को कारण माना जाए ? कभी कभी एक कार्य की उत्पत्ति अनेक कारणो मे से किसी भी एक के द्वारा हो सकती है, वहा किसे कारण माना जाए ? जैसे ताप की उत्पत्ति सघर्ष से भी होती है, विद्युत् से भी, एव अग्नि तथा सूर्य की किरणे भी ताप की जनक है। प्रत्येक ताप कार्य के नियत पूर्व मे सघर्ष, विद्युत, अग्नि अथवा सूर्य की किरणो का होना सम्भव नही है, ऐसी स्थिति मे ताप का

कारण किसे माना जाए ? नैयायिको की परिभाषा के अनुसार या तो सभी को **कारण** माना जाएगा अथवा सभी को **अन्यथासिद्ध**। यहा यद्यपि करणो की गतिशीलता वास्तविक सहकारी कारण हो सकती है, किन्तु इससे समस्या के समाधान मे कोई विशेष अन्तर नही आता। चूकि समस्त ताप सामान्य के प्रति इनमे से कोई भी कारण नही हो सकता, इसलिए व्यावहारिक की अपेक्षा सैद्धान्तिक असुविधा अधिक उपस्थित होती है। यही कारण है कि पाश्चात्य दार्शनिक बेकन (Bacon) ने भारतीय दार्शनिको के कारणवाद की खुलकर आलोचना की है।

कार्य से नियत पूर्ववर्त्ती को **कारण** कहा जाता है,[1] जैसे कार्य घट से पूर्व नियतरूप से रहनेवाले मिट्टी, चक्र, दण्ड, कुम्हार, आदि को कारण कहा जाता है। प्रस्तुत लक्षण मे **नियत** पद के प्रयोग के कारण उन साधनो को **कारण** न कहा जा सकेगा, जिनका कार्य अन्य साधनो से चल सकता है। उदाहरणार्थ घटरूप कार्य के लिए मिट्टी लाने का काम गदहा अथवा गाडी मे से किसी एक के द्वारा ही होगा, अथवा स्वय उठाकर कुम्हार भी मिट्टी ला सकता है, अत घट सामान्य के प्रति अथवा घट विशेष के प्रति भी गदहा आदि मिट्टी ढोनेवाले उपकरण को **कारण** न कहा जा सकेगा।

घट रूप कार्य की उत्पत्ति से पूर्व घट के कारण भूत दण्ड के साथ नियमित रूप से **दण्डत्व** तथा **दण्ड का रूप** भी विद्यमान रहता है, वनमे अन्य दण्ड भी विद्यमान है, तो क्या दण्डत्व, दण्ड मे विद्यमान रूप तथा वनस्थ दण्ड को घट के प्रति कारण माना जाएगा ? नैयायिक इन्हे **कारण** मानने को प्रस्तुत नही है। इन स्थलो मे अतिव्याप्ति के निवारण के लिए सिद्धान्त चन्द्रोदयकार ने **नियत पूर्ववृत्ति** का अर्थ 'कार्य से पूर्वक्षण मे जिसका होना अवश्यम्भावी हो, वह कार्य है', ऐसा माना है। इससे वन मे स्थित दण्ड मे अतिव्याप्ति तो बच सकती है, किन्तु दण्डत्व और दण्डरूप मे अतिव्याप्ति दूर नही हुई, अत भाषा परिच्छेदकार विश्वनाथ एव न्यायबोधिनीकार गोवर्धन तथा वाक्यवृत्तिकार मेरुशास्त्री ने कारण की परिभाषा मे **'अन्यथासिद्ध से भिन्न'** विशेषण आवश्यक माना है।[2] इस प्रकार 'अन्यथासिद्ध से भिन्न कार्य से नियतपूर्व अर्थात् अवश्यमेव रहने वाले को कारण कहेगे।

---

१. तर्क सग्रह पृ० ७४ २. (क) भाषा परिच्छेद १६
(ख) न्यायबोधिनी पृ० २६ (ग) वाक्यवृत्ति कारण प्रकरण।

अन्यथासिद्ध .—तर्कदीपिकाकार अन्नम्भट्ट ने **अन्यथासिद्ध** तीन प्रकार के स्वीकार किये है; उनके अनुसार 'कार्य के प्रति नियत पूर्ववर्ती किसी कारण विशेष के साथ नियत रूप से रहनेवाला **प्रथम अन्यथासिद्ध** है। जैसे. दण्डगत दण्डत्वजाति एव दण्डरूप। जो पदार्थ नियतपूर्ववर्त्ती होते हुए भी किसी अन्य कार्यविशेष का कारण सिद्ध हो चुका हो, वह **द्वितीय अन्यथा-सिद्ध** है। जैसे: घट उत्पत्ति से नियत पूर्ववर्त्ती होने पर भी आकाश घट कार्य के प्रति **अन्यथासिद्ध** कहा जाएगा, कारण नही, क्योंकि वह अन्यकार्य शब्द के प्रति कारण स्वीकृत हो चुका है। कुछ नियत पूर्ववर्ती पदार्थों (कारणो) द्वारा कार्यसिद्धि सभव होनेपर जो कार्य के प्रति निरपेक्ष होते हुए भी कार्य से पूर्व नियत रूप से विद्यमान हो, वह भी **अन्यथासिद्ध है**। जैसे पाकज गन्ध कार्य के प्रति रूप का प्रागभाव।[1]

भाषा परिच्छेदकार विश्वनाथ ने अन्यथा सिद्ध पाच स्वीकार किये है[2] १ जो किसी कार्य के कारण का नियत सहचारी हो अर्थात् कारण जिससे अलग कभी नही रहता, तथा नियतसहचारी होने के कारण ही जो कार्य का नियतपूर्ववर्ती हो, जैसे घट कार्य के प्रति कारण दण्ड के नियत सहचारी होने के कारण दण्डगत दण्डत्व जाति भी घट मे नियत पूर्ववर्त्ती है, इसे प्रथम अन्यथा सिद्ध कहा जाएगा।

२ जो कार्य का पूर्ववर्त्ती तो हो, किन्तु अन्वयव्यतिरेक के आधार पर जो स्वतन्त्ररूप से कारण सिद्ध न हो सके, जैसे दण्डगत रूप।

(उपर्युक्त दोनो अन्यथासिद्धो मे अन्तर अत्यल्प है।)

३ जो कार्य विशेष के प्रति कारण सिद्ध हो चुका है, किन्तु कार्य सामान्य के प्रति भी पूर्ववर्त्ती सिद्ध हो, उसे तृतीय अन्यथासिद्ध कहते हैं। जैसे शब्द के प्रति कारण आकाश अन्य कार्यसामान्य का भी पूर्ववर्त्ती है, किन्तु उन सभी कार्यों के प्रति वह अन्यथा सिद्ध कहा जाएगा, कारण नही।

४ कारण के पूर्ववर्त्ती होने से ही जो कार्य के प्रति पूर्ववर्त्ती सिद्ध हो, जैसे **कुम्हार का पिता** सचेतन निमित्त कारण कुम्हार से पूर्ववर्त्ती होने के

---

१ तर्क दीपिका पृ० ७५-७७। २ भाषा परिच्छेद १८–२१

कारण ही घट का भी पूर्ववर्त्ती सिद्ध है। चूंकि इसका पूर्ववर्तित्व कारण से पूर्ववर्त्ती होने के कारण ही सिद्ध होता है, स्वतः नहीं, अतः इसे (कुम्हारके पिता को) भी **अन्यथासिद्ध** माना जाएगा कारण नहीं।

५. जो किसी कार्य के प्रति तो नियत पूर्ववर्त्ती हो, किन्तु उस कार्य मे विद्यमान जाति विशेष से युक्त अन्यकार्य के प्रति नियत पूर्ववर्त्ती न हो, वह भी **अन्यथा सिद्ध** है, जैसे कुम्हार का गदहा। मिट्टी लाने के कारण किसी कार्य घट विशेष के प्रति नियतपूर्ववर्त्ती होने से इसे उसका कारण होना चाहिए, किन्तु उस कार्य घट में विद्यमान घटत्व जाति है, इस घटत्व जाति से युक्त अन्य घट हैं, जिनके लिए मिट्टी गाडी से लायी गयी है, अतः गदहा उनके प्रति नियत पूर्ववर्त्ती नही हो सकता, अतः घट सामान्य के प्रति गदहा को कारण न मान कर **अन्यथा सिद्ध** माना जाएगा।

चूंकि अन्यथासिद्ध के उपर्युक्त लक्षणों मे कारण के लक्षण का 'नियत पूर्ववर्त्ती' अंश 'नियत' विशेषण के साथ उद्धृत किया गया है, अतः कारण लक्षण मे भी उसका रहना नितान्त आवश्यक हो गया है, भले ही कारण लक्षण मे 'अन्यथा सिद्ध रहित' यह विशेषण भी क्यों न सन्निविष्ट किया गया हो।

कारण भेद

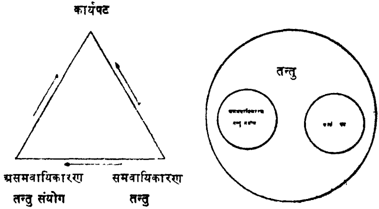
न्याय शास्त्र मे कारण तीन स्वीकार किये जाते है : समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्त कारण।

समवायिकारण :—जिस कारण मे कार्य समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न हो, उसे **समवायिकारण** कहते है, जैसे तन्तु मे समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध पट कार्य उत्पन्न होता है, अत. पट के प्रति तन्तु **समवायिकारण है**।

असमवायिकारण:—यह दो प्रकार का है, कार्यैकार्थ-प्रत्यासन्न, कारणैकार्थ प्रत्यासन्न। **कार्यैकार्थप्रत्यासन्नः** कार्य जिस अधिकरण मे समवाय सम्बन्ध से विद्यमान है, उसी अधिकरण मे समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहने वाला। जैसेः पट-कार्य मे तन्तुसयोग। वह सयोग जिसके द्वारा अनेक तन्तु मिलकर पट का निर्माण करते है, एव वह तन्तुसमूह तन्तुओ के गट्ठर से भिन्न होकर पट

के रूप में प्रतीत होता है । 'तन्तु' कारणों से उत्पन्न कार्य 'पट' समवाय सम्बन्ध से तन्तुओ मे विद्यमान है, इन तन्तुओ मे ही गुण होने के कारण सयोग भी समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता है, इस प्रकार यहा समान अधिकरण 'तन्तु' मे कार्य 'पट' एव सयोग समान रूप से रहते हैं, अतः तन्तु सयोग पट के प्रति असमवायिकारण है ।

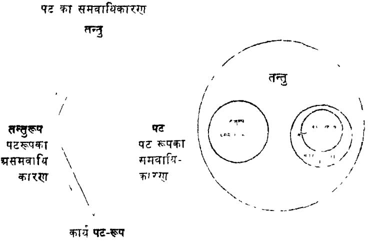
कार्यैकार्थ प्रत्यासत्ति से असमवायिकारण



(विवरण :—प्रत्यासत्ति का अर्थ है, एक अधिकरण मे दो वस्तुओ का रहना । इस प्रकार कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति का अर्थ हुआ 'कार्य के साथ रहने वाला कारण ।)

कारणैकार्थप्रत्यासन्नः—एक अधिकरण मे समवायिकारण के साथ रहने वाला कारण कारणैकार्थप्रत्यासन्न असमवायिकारण है । जैसे: पट-रूप के प्रति तन्तु का रूप, यहा पटगत रूप समवाय सम्बन्ध से पट मे विद्यमान रहता है, तथा कारण पट समवाय सम्बन्ध से तन्तुओ मे विद्यमान रहता है, इन्ही तन्तुओ मे समवाय सम्बन्ध से तन्तुगत रूप भी विद्यमान रहता है, इस प्रकार पटगत रूप के कारण 'पट के साथ 'तन्तु' मे समवाय सम्बन्ध से विद्यमान कारण तन्तुगत रूप पटगत रूप के प्रति असमवायिकारण है ।

कारणैकार्थ प्रत्यासत्ति मे असमवायिकारण



(**विवरण** —कारणैकार्थप्रत्यासत्ति मे कारण का अर्थ है, एक अधिकरण मे समवायिकारण के साथ रहने वाला कारण।)

इस प्रकार कारण के साथ अथवा कार्य के साथ एक अर्थ (विषय) मे समवाय सम्बन्ध मे विद्यमान कारण को असमवायिकारण कहते है।[1] चूकि नैयायिक नित्यद्रव्य (पृथिव आदि के परमाणुओं) मे विद्यमान **विशेष** तथा आत्मा मे विद्यमान ज्ञान आदि विशेष गुणो का किसी के प्रति कारण नही मानते, अत असमवायिकारण के लक्षण मे **ज्ञानादि भिन्न** विशेषण का अथवा **कारणताशालि** एव **आत्मगत विशेषगुणो से भिन्न** विशेषणो का भी नैयायिको के अनुसार समावेश किया जाता है।

निमित्त कारण—समवायि एव असमवायिकारण से भिन्न कारण को **निमित्त कारण** कहते है। जैसे पट के प्रति तुरी, वेम, तन्तुवाय आदि, घट के प्रति दण्ड, चक्र, कुम्हार आदि।

नैयायिक कारण तथा कार्य के बीच सम्बन्ध के रूप मे **असमवायिकारण** को स्वीकार करते है, जो प्राय सयोग रहता है। सत्कार्यवादी (साख्य,)

---

१. (क) तर्क सग्रह पृ० ७६, (ख) तर्क किरणावली पृ० ७६, (ग) न्याय मुक्तावली ११४-११५ (घ) सिद्धान्तचन्द्रिका कारणखण्ड।

मीमांसक एव वेदान्ती इस असमवायिकारण को न मानकर दोनो के बीच में तादात्म्य सम्बन्ध को स्वीकार करते है, पर उनके अनुसार कारण के दो भेद ही होगे ।

पाश्चात्य दर्शन शास्त्र के जन्म दाता अरस्तू (Aristotle) कारणों के चार भेद करते है । (i) Causa formalis (Formal couse) इसे ही Schovlmen के शब्दों मे Quiddity कहते है । (ii) Causa materialis (Material cause) (iii) Causa efficiens (Instrumental cause) तथा (iv) Causa finalis (Final cause) ।

अरस्तू स्वीकृत प्रथम कारण Causa formalis नैयायिको द्वारा स्वीकृत असमवायिकारण के लगभग समानान्तर है । चूंकि कुम्हार घडा बनाने के पूर्व घडे की मानसिक कल्पना करता है, मकान बनाने के पूर्व मकान का काल्पनिक चित्र (नक्शा) कागज पर अथवा मानस पटल पर अवश्य ही बना लिया जाता है, यही कल्पना अरस्तू के अनुसार Cousa formalis कहाती है, जो कि उनके अनुसार प्रत्येक कार्य के प्रति अनिवार्य कारण है । मुख्यत कार्य की आकृति की उत्पत्ति इसी कारण से होती है । नैयायिको के अनुसार जाति का समावेश भी ही इसमे होता है, क्योकि उनके अनुसार जाति प्रत्येक कार्य मे पूर्व नियत रूप मे विद्यमान रहती है । असमवायिकारणभूत उपादानकारणगत सयोग विशेष भी इसमे ही समाहित हो सकता है, जिसके द्वारा कार्य की आकृति का निर्माण होता है ।

अरस्तू स्वीकृत द्वितीय कारण Cousa materialis है, जो नैयायिको के **उपादान कारण** के पूर्ण समानान्तर है । इसी प्रकार अरस्तू का Cousa efficiens नैयायिको के **निमित्त कारण** का स्थानीय है ।

अरस्तू स्वीकृत चतुर्थ कारण Causa finalis कार्य वस्तु का प्रयोजन अथवा उसकी अच्छाई है । उनके अनुसार घडे मे जल लाया जाता है, यह घडा बनाने का प्रयोजन है, यदि यह प्रयोजन न होता, तो घडे का निर्माण भी न होता । नैयायिक लोग इस प्रकार का कोई कारण नही मानते, उनके अनुसार इसे अदृष्ट कहा जा सकता है । बेकन (Becon) ने अरस्तू के इस चतुर्थ कारण का स्पष्ट विरोध किया है । भारतीय दार्शनिकों ने भी इस अदृष्ट की, जो कि सकल विश्व का साधारण कारण कहा जा सकता है, उपेक्षा ही की है ।

पैथोगोरस (Pyathogorus) तथा प्लैटो (Plato) और उनके अनुयायियो ने अरस्तू के प्रथम कारण Causa formalis को भिन्न रूप से स्वीकार किया है। पैथोगोरस इसे (Model को) सख्याओ (Numbers) के रूप मे स्वीकार करते है, एव प्लैटो ने इसे Idia के रूप मे माना है। नैयायिक एतदर्थ घटत्व, गोत्व आदि जातियो को मान्यता देते हैं, जो कि कार्य की उत्पत्ति के पूर्व से ही विद्यमान रहती है, एव कार्य के उत्पन्न होते ही उससे सबद्ध हो जाती हैं।

सेनेसा (Seneca) ने समय (काल) दिशा और कर्म को भी कारण के रूप में स्वीकार किया है, जबकि नैयायिक सेनेसा के प्रथम दो काल और दिशा को साधारण कारण (Universal Cause) के रूप में मानते है तथा कर्म को कारण न मानकर व्यापार कहते है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार कारणो की परिभाषा के क्षेत्र से उन सभी को बाहर रखने का प्रयत्न किया जाता है, जब तक कि उनका छोड सकना असभव न हो।

गीता मे एक प्रसग मे किसी कार्य के पाच कारण स्वीकार किये गये हैं अधिष्ठान, कर्त्ता, करण (अनेक प्रकार के साधन), चेष्टा तथा दैव (अदृष्ट)।[1] नैयायिको के अनुमार अधिष्ठान साधारण कारण है, कर्त्ता निमित्त कारण है, करण अर्थात् विविध साधनो मे से, जिसमे चक्र दण्ड एव कपाल आदि समाहित होते है, कुछ को नैयायिको के अनुसार निमित्त कारण तथा कुछ को उपादान कारण कहा जाता है। चेष्टा (व्यापार) उनके अनुसार कारण नही है, अपितु कारण का व्यापार है। पाचवा कारण दैव नैयायिको द्वारा स्वीकार नही किया जाता।

इस कारण विभाजन मे चूकि उपादान और निमित्त दोनो को एक करण नाम से ही स्मरण किया गया है, जो कि किसी भी दार्शनिक द्वारा स्वीकृत नही है, अत हम कह सकते है कि कारणो का यह विभाजन दार्शनिक चिन्तन के आदि काल का है। जबकि अन्य विभाजन अधिक परिष्कृत है।

सबसे उचित विभाजन तो केवल दो भागो मे कारण को विभक्त करना है: उपादान कारण (Material cause) एवं अनुपादान कारण (Nonmaterial cause) अथवा निमित्त कारण (Instrumental

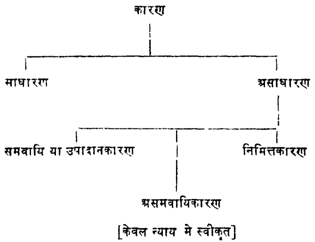
---

१. गीता १८ १४

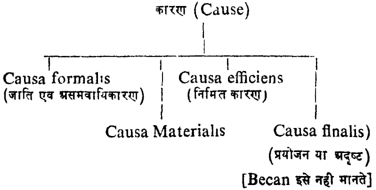
cause) । वेदान्त में भी कारण केवल दो ही माने जाते है निमित्त और उपादान, जो कि अधिक उचित प्रतीत होता है ।

उपर्युक्त समस्त कारण विवेचन को हम संक्षेप मे निम्नलिखित रेखा चित्र मे देख सकते है ।

-- भारतीय दार्शनिकों के अनुसार —



अरस्तू (Aristotle) के अनुसार



प्रत्यक्ष

प्रासंगिक रूप से करण, कारण एवं कार्य का परिचय प्राप्त करने के अनन्तर हम प्रमाणों की ओर दृष्टिपात करें। जैसा कि पहले कहा जा चुका है नैयायिकों के अनुसार यथार्थ ज्ञान चार प्रकार का स्वीकार किया जाता है **प्रत्यक्ष, अनुमिति उपमिति और शाब्द**। उन चारों प्रकार के ज्ञान के उत्पत्ति के कारण भी चार है **प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द**। इस प्रसंग में स्मरणीय है कि प्रमाणों की संख्या के सम्बन्ध में विविध दार्शनिकों में परस्पर अत्यधिक मतभेद है; उदाहरणार्थ चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमा को ही स्वीकार करते है, वैशेषिक (कणाद और उनके अनुयायी) तथा बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमिति केवल दो प्रमाभेद मानते है। कुछ नैयायिक उपमिति को, मानकर संख्या चार कर देते हैं। प्रभाकर के अनुयायी मीमांसक अर्थापत्ति को कुमारिलभट्ट एवं वेदान्त के अनुयायी अनुपलब्धि को जोड़कर संख्या छः कर देते है। पुराणों में संभव और ऐतिह्य को भी माना गया है। इस प्रकार करण भेद से प्रमा के अन्ततः आठ भेद हो जाते है।[1] न्यायशास्त्र में प्रमा और प्रमाणों की संख्या चार ही क्यों स्वीकार की गयी है इस बात पर विचार यथा स्थान किया जाएगा।

न्यायशास्त्र के आदिकाल में न्याय और वैशेषिक दर्शन स्वतन्त्र रूप से विकसित हुए हैं, उस काल में न्याय में चार प्रमाण स्वीकार किये जाते रहे है, एवं वैशेषिक में केवल दो प्रत्यक्ष और अनुमान। किन्तु नव्य न्याय का उदय होने पर उस में वैशेषिक के पदार्थवाद (परमाणुवाद) को अविकल स्वीकृति देते हुए प्रमा और प्रमाणों के प्रसंग में न्याय के सिद्धान्तों को ही स्वीकार किया गया है। इस प्रकार वर्तमान न्याय शास्त्र में प्रमाण प्रकरण के अतिरिक्त सभी सिद्धान्त वैशेषिक दर्शन के स्वीकार किये जाते हैं एवं प्रमाण प्रकरण में न्याय दर्शन का अनुगमन किया जाता है, किन्तु प्रमाण प्रकरण में भी अनुमान का विभाजन प्राचीन न्याय दर्शन के अनुसार न होकर नवीन रूप से किया जाता है।

नैयायिकों के साथ ही कुछ अन्य दार्शनिकों ने (वेदान्त, योग, सांख्यवादियों तथा बौद्ध आदि ने) प्रत्यक्ष ज्ञान और उसके करण भूत प्रमाण दोनों के

---

१ दिनकरी पृ० २३३

लिए ही प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु केशवमिश्र आदि ने 'प्रत्यक्ष ज्ञान के स्थान पर 'साक्षात्कार' शब्द को अधिक उचित माना है, जो अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है। साक्षात्कार के करण को उन्होने भी 'प्रत्यक्ष' ही कहा है। इस प्रसग मे यह भी स्मरणीय है कि नैयायिको ने साक्षात्कार का प्रत्यक्ष की परिभाषा करते हुए विशेष्य के रूप मे ज्ञान शब्द का प्रयोग किया है।[1] जिसके फलस्वरूप प्रमा और अप्रमा तथा उनके करणो के पृथक् विवेचन की आवश्यकता नही रह जाती। उनके विभाजन के लिए यही जानना रहता है कि 'वह ज्ञान सदोष है या अदोष ?' एतदर्थ किसी अन्य साधन की भी आवश्यकता नही रहती। प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति 'अक्षमक्ष प्रतीत्योत्पद्यते इति प्रत्यक्षम्'[2] (अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियो से द्रव्यादि विषयक उत्पन्न ज्ञान') के अनुसार भी प्रत्यक्ष शब्द इन्द्रियजन्य ज्ञान सामान्य का वाचक होता है, चाहे वह प्रमा (यथार्थ) कोटि का हो, चाहे अप्रमा (अयथार्थ) कोटि का। साख्य दर्शन के अनुसार केवल **यथार्थ ज्ञान ही प्रत्यक्ष** हो सकता है, अयथार्थ नही, इसीलिए वहा प्रत्यक्ष की परिभाषा मे अध्यवसाय (निश्चयात्मक ज्ञान) पद का प्रयोग किया गया है[3], अत. साख्यमत मे प्रत्यक्षज्ञान प्रमा रूप ही होगा। वेदान्त के अनुसार चू कि ज्ञान चैतन्य ब्रह्म रूप ही है[4] अत प्रत्यक्ष ज्ञान **प्रमा** ही होगा, **अप्रमा** नही। वात्स्यायन के अनुसार यदि प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति '**अक्षस्य अक्षस्य प्रतिविषयं वृत्ति** करे[5] तो इन्द्रियो का विषय सम्बन्धी व्यापार प्रत्यक्ष कहा जायेगा, और यह लक्षण प्रत्यक्ष प्रमा का न होकर प्रत्यक्ष प्रमाण का होगा। इस प्रकार प्रत्यक्ष शब्द प्रमा और प्रमाण, ज्ञान और व्यापार दोनो का वाचक है।

प्रत्यक्षज्ञान के लिए किया गया व्यापार **प्रत्यक्ष प्रमाण** कहा जाता है, वह व्यापार केवल इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष हो नही है, जैसा कि न्यायभाष्यकार वात्स्यायन स्वय स्वीकार करते है[6] कि सर्व प्रथम आत्मा मन से सयुक्त होती है, मन इन्द्रिय से एव इन्द्रिया विषय से, तब कही प्रत्यक्ष ज्ञान

१. (क) न्याय सूत्र १.१ ४.
(ख) न्यायमुक्तावली—पृ० २३३ (ग) तर्क सग्रह पृ० ८०
२. प्रशस्त पाद भाष्य पृ० ९४ ३. सांख्यकारिका ५
४. वेदान्त परिभाषा टिप्पणी पृ० १५ ५. वात्स्यायनभाष्य पृ० १० ·
६ वात्स्यायन भाष्य पृ० १२

उत्पन्न होता है, इसप्रकार समष्टिरूप से (परम्परा से ही सही) आत्मा और विषयों के सन्निकर्ष से प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न होता है, केवल इन्द्रियों और विषयों के सन्निकर्ष से नही, फिर भी इन्द्रिय सन्निकर्ष को ही प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है, इसका कारण यह है कि आत्मा और विषय का सन्निकर्ष केवल प्रत्यक्ष मे ही नही होता, अपितु अनुमिति उपमिति और शाब्द ज्ञान में भी उसका होना उतना ही अनिवार्य है, जितना कि प्रत्यक्ष में, अतः अनिवार्य होने पर भी उसे प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं माना जा सकता। यही कारण है कि न्यायसूत्रकार गौतम से लेकर अन्नभट्ट अथवा उनके टीकाकारो तक सभी ने इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को ही प्रत्यक्ष प्रमाण स्वीकार किया है। सूत्रकार ने प्रत्यक्षज्ञान के लक्षण मे इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान कहते हुए अव्यपदेश्य अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक तीन और विशेषण प्रयुक्त किये हैं।[1] चूंकि 'शब्द' श्रोत्र इन्द्रिय का विषय है, अत: श्रोत्र से शब्द का सन्निकर्ष होने पर उसका ज्ञान होता है, साथ ही शब्द से नित्य सम्बद्ध उसके अर्थ की भी प्रतीति होती है, यदि शब्द का श्रोत्र इन्द्रिय से सन्निकर्ष न हो तो शब्द ज्ञान के अभाव में शब्दार्थ ज्ञान का भी अभाव होगा, दूसरे शब्दो मे शब्दार्थ ज्ञान के पूर्व शब्द ज्ञान के कारणभूत शब्द और श्रोत्र इन्द्रिय का होना अनिवार्य है, अत शब्दार्थ ज्ञान के प्रति शब्द और श्रोत्रेन्द्रिय के सन्निकर्ष को नियत पूर्ववर्ती अथवा कारण कहा जा सकता है, अत इस शब्द ज्ञान के भी इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने के कारण इसमे प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति हो सकती है, इसीलिए सूत्रकार ने अव्यपदेश्य अर्थात् शब्द द्वारा अकथनीय यह विशेषण प्रत्यक्ष लक्षण मे रखा है। परवर्ती नैयायिक विश्वनाथ और अन्नभट्ट इस विशेषण का प्रयोग आवश्यक नही मानते, जैसाकि उनके लक्षणो से ही स्पष्ट है, इस विशेषण के प्रति उनकी अरुचि का कारण यह है कि श्रोत्र इन्द्रिय से शब्द का सन्निकर्ष शब्द के ज्ञान के प्रति कारण तो है, किन्तु शब्द द्वारा प्रतीत होने वाले अर्थ के ज्ञान के प्रति साक्षात् नही। इसके प्रति श्रोत्रेन्द्रिय का सन्निकर्ष तो परम्परया कारण है अत. वह अन्यथासिद्ध है, कारण नही। जैसाकि कारण का परिचय देते हुए स्पष्ट किया जा चुका है कि जिसका पूर्ववर्तित्व कारण के पूर्ववर्ती होने के कारण ही माना जाये उसे द्वितीय

---

1 न्याय सूत्र १ १. ४

अन्यथासिद्ध कहते हैं। फलतः शाब्द ज्ञान के प्रति श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द का सन्निकर्ष कारण न होने से शाब्द ज्ञान में प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति न होगी, अतः अव्यपदेश्य विशेषण अनावश्यक है। सूत्रकार गौतम ने प्रत्यक्ष के लक्षण में अव्यभिचारि (परिवर्तित न होने वाले) विशेषण मिथ्याज्ञान में, तथा व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) विशेषण सन्देह में प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति के निराकरण के लिए दिया है। इस प्रसग मे स्मरणीय है कि गौतम का यह प्रत्यक्ष लक्षण केवल प्रत्यक्ष प्रमा को ही लक्ष्य करके लिखा गया है, प्रमा और अप्रमा सामान्य को लक्ष्य करके नही।

इस प्रसंग में एक बात विचारणीय है यह वह कि गौतम ने निःश्रेयस् की प्राप्ति के लिए जिन सोलह तत्वो के ज्ञान को आवश्यक माना है, उनमें संशय भी एक है।[1] यदि प्रमाण लक्षण मे प्रत्यक्ष प्रमाण को प्रत्यक्ष ज्ञान का ही जनक माना जाएगा, जो कि प्रमा है, तो सशयात्मक ज्ञान की उत्पत्ति के लिए कारण की खोज करनी अनिवार्य होगी और उसका लक्षण भी करना होगा। इसके अतिरिक्त एक ज्ञान साधन से सशयात्मक अयथार्थ ज्ञान की एवं अन्य से व्यवसायात्मक यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति होने पर किसे ग्राह्य माना जाए, एतदर्थ बाध्य बाधक भाव की व्यवस्था अनिवार्य होगी। इसके अतिरिक्त निर्विकल्पक ज्ञान निश्चय कोटि तक नही पहुचता, अतः अव्याप्ति की भी सभावना होगी।

इन दोषो से बचने के लिए परवर्ती नैयायिको ने जिनमें आचार्य प्रशस्तपाद भी सम्मिलित है,[2] इन्द्रियो से उत्पन्न ज्ञान को ही प्रत्यक्ष का लक्षण स्वीकार किया है, जिसके फलस्वरूप प्रत्यक्ष प्रमा और अप्रमा दोनो प्रकार के ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जा सकेगा। किन्तु प्रमाणिकता की दृष्टि से उभयकोटि होने के कारण सशय को ग्राह्य न माना जाएगा। इसके साथ ही इस प्रत्यक्ष लक्षण से निर्विकल्पकज्ञान सविकल्पकज्ञान तथा प्रत्यभिज्ञा तीनों को ही प्रत्यक्ष कहा जा सकेगा।

प्रत्यक्ष की उपर्युक्त परिभाषा मे एक दोष और उठाया जाता है, वह यह कि 'ईश्वर प्रत्यक्ष' जो कि नित्य है, इन्द्रियसन्निकर्षजन्य नही हो सकता,

---

१. न्याय सूत्र १. १. १. २. (क) प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ९४
(ख) न्याय मुक्तावली पृ० २३३

अतः वह प्रत्यक्ष के अन्तर्गत नही आता।' नव्य नैयायिको ने इसके दो समाधान दिये है:— प्रथम यह कि 'जो ज्ञान अन्य ज्ञान से उत्पन्न नही है, वह प्रत्यक्ष है,' ऐसा लक्षण किया जाए। प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए अन्य किसी ज्ञान की आवश्यकता नही होती, जबकि अनुमिति के लिए हेतु का प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान एव व्याप्ति का स्मरण, उपमिति के लिए सादृश्य ज्ञान, शाब्द ज्ञान के लिए शब्द का प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान आवश्यक होता है। यह लक्षण लौकिक और अलौकिक प्रत्यक्ष के साथ ही ईश्वर प्रत्यक्ष मे भी समान रूप से व्याप्त होता है।[1] किन्तु इस लक्षण को भी पूर्णत निर्दुष्ट नही कहा जा सकता है, क्योकि यह सविकल्पक प्रत्यक्ष मे अव्याप्त होता है, कारण यह है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष से पूर्व निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का होना अनिवार्य रूप से अपेक्षित है, अत इस स्थल पर अव्याप्ति दोष का होना अनिवार्य है। ईश्वर प्रत्यक्ष मे अव्याप्ति निवारण हेतु न्यायबोधिनीकार के अनुसार दूसरा समाधान यह है कि प्रस्तुत प्रत्यक्ष लक्षणो मे अनित्य प्रत्यक्ष के सम्बन्ध मे ही विचार किया गया है,[2] ईश्वर प्रत्यक्ष चूकि नित्य प्रत्यक्ष है, अत उनमे प्रत्यक्ष लक्षण की अव्याप्ति दोष रूप मे नही अपितु साभिप्राय है, जबकि नित्य प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष के लक्षण का लक्ष्य ही नही है, तो उसमे लक्षण का न पहुचना दोष नही, अपितु गुण है, क्योकि न्यायशास्त्र के प्रवर्त्तक गौतम तथा उनके अनुयायियो को नित्य प्रत्यक्ष (ईश्वर प्रत्यक्ष) को प्रत्यक्ष लक्षण द्वारा परिभाषित करना अभिप्रेत न था। इस प्रकार प्रत्यक्ष लक्षण मे कोई दोष नही रह जाता।

प्रत्यक्ष भेद—जैसा कि ऊपर की पक्तियो मे प्रासगिक रूप से स्पष्ट हो चुका है कि प्रत्यक्ष के प्रथमत दो भेद है **नित्यप्रत्यक्ष एव अनित्य** अर्थात् जन्य प्रत्यक्ष। जन्य प्रत्यक्ष के भी प्रथम दो भेद किये जाते है **सविकल्पक एव निर्विकल्पक**। सविकल्पक प्रत्यक्ष के भी आरम्भ मे दो भेद किये जाते है **लौकिक प्रत्यक्ष और अलौकिक प्रत्यक्ष**। लौकिक प्रत्यक्ष के पुन. साधनो के भेद से छः उपविभाग किये गये है चाक्षुष, स्पार्शन, घ्राणज, रासन, श्रौत्र एव **मानस**। अलौकिक प्रत्यक्ष जिसे प्रत्यासत्ति कहते है, तीन प्रकार का है **सामान्यलक्षण, ज्ञान लक्षण एव योगज**।

१. न्याय मुक्तावली पृ० २३४-२३५ २. न्याय बोधिनी पृ० ३०

चक्षुरिन्द्रिय (नेत्र इन्द्रिय) एवं विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्ष को चाक्षुष प्रत्यक्ष कहते हैं, स्पर्श इन्द्रिय (त्वचा) एवं विषयों के सन्निकर्ष के द्वारा उत्पन्न प्रत्यक्ष को स्पार्शन तथा इसी प्रकार घ्राण (नासिका) रसना (जिह्वा) एव श्रोत्र (कान) इन्द्रियों के साथ सन्निकर्ष होने से उत्पन्न प्रत्यक्ष को क्रमश घ्राणज, रासन एव श्रौत्र प्रत्यक्ष कहते हैं। बाह्य इन्द्रियो की सहायता के बिना भी योगिजनों को केवल मन का विषय के साथ सन्निधान होने पर विषय और मनस् के सन्निकर्ष द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है, उसे मानस प्रत्यक्ष कहते हैं।

अलौकिक प्रत्यक्षो मे किसी वस्तु के विशेषणो से रहित सामान्य परिचयात्मक ज्ञान को **सामान्य लक्षण** कहते है। इसमे किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होते ही उस वस्तु मे विद्यमान धर्म अथवा जाति का भी सामान्य ज्ञान होता है, किन्तु जाति का यह ज्ञान विशेषण ज्ञान रहित सामान्य ज्ञान होता है। जैसे घट का प्रत्यक्ष होते ही घट मे विद्यमान घटत्व का प्रत्यक्ष तत्काल ही होता है, जो कि प्रत्यक्ष किये जाने वाले घट से अतिरिक्त अन्य घटों मे भी सामान्य रूप से विद्यमान है। इसी प्रकार सयोग सम्बन्ध से भूतल मे एव समवाय सम्बन्ध से कपाल मे विद्यमान एक घट का प्रत्यक्ष होते ही घट मात्र के सम्बन्ध मे जो एक सामान्य ज्ञान या धारणा होती है, वह भी सामान्यलक्षण अलौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान है। सामान्य लक्षण पद मे लक्षण शब्द का तात्पर्य विषय (अर्थ) है, इस प्रकार सामान्य लक्षण का अर्थ सामान्य विषयक ज्ञान हुआ।[1]

ज्ञान लक्षण प्रत्यासत्ति जब दर्शक किसी वस्तु को देखकर देखने के साथ ही अपने सस्कारवश उस वस्तु मे विद्यमान धर्म का ज्ञान करता है तो उस ज्ञान को **ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति** अथवा **ज्ञानलक्षणज्ञान** कहते है। जैसे चन्दन का दूर से चाक्षुष प्रत्यक्ष होने पर घ्राण का आश्रय लिये बिना ही चन्दनगत सौरभ का ज्ञान हो जाता है, इसी प्रकार जब इमली आदि अम्ल पदार्थों का चाक्षुष प्रत्यक्ष करते है, तो उसमे विद्यमान अम्लता की भी प्रतीति हो जाती है, जिसके फलस्वरूप दन्तोदक (लार) उत्पन्न हो जाता है, अम्लता की यह प्रतीति ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति नामक द्वितीय अलौकिक प्रत्यक्ष है।

१. न्याय मुक्तावली पृ० २७७

योगज प्रत्यक्ष: योगिजनो को अपनी अलौकिक शक्ति द्वारा प्राप्त ज्ञान अलौकिक योगज प्रत्यक्ष है । इनमें से प्रथम दो का सम्बन्ध सामान्य मानव से है, किन्तु योगज प्रत्यक्ष का सम्बन्ध केवल विशिष्ट शक्ति सम्पन्न योगियो से ही है, सामान्य मानव से नही । इसीलिए कुछ विद्वान् इस अलौकिक योगज प्रत्यक्ष को काल्पनिक कहते है । लौकिक षड्विध प्रत्यक्षो मे द्रव्य का ज्ञान प्राचीन नैयायिको के अनुसार केवल चाक्षुष प्रत्यक्ष से होता है, जब कि नव्यनैयायिको के अनुसार उसका ज्ञान चाक्षुष और स्पार्शन दोनो ही प्रत्यक्षो से सम्भव है । इसका कारण प्राचीन नैयायिको द्वारा द्रव्य प्रत्यक्ष के लिए उद्भूत रूप को अनिवार्य रूप मे स्वीकार करना है, जबकि नव्य नैयायिक उद्भूत रूप के साथ ही उद्भूत स्पर्श को भी द्रव्य प्रत्यक्ष के प्रति कारण स्वीकार करते हैं ।

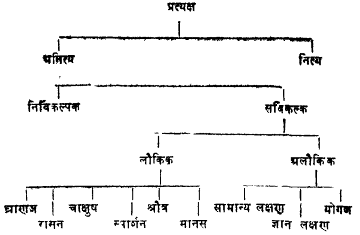
करण के सम्बन्ध मे पूर्व पृष्ठो मे विचार किया जा चुका है । प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति करण क्या है, इस प्रसग मे प्राचीन ग्रन्थो मे कोई स्पष्ट निर्देश नही किया गया था । तर्कसग्रहकार अन्नभट्ट ने 'प्रत्यक्ष ज्ञान का करण इन्द्रिय है' ऐसा स्पष्टत स्वीकार किया है,[1] अत उनके अनुसार इन्द्रिय ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, किन्तु उन्होने अनुमिति के अव्यवहित पूर्ववर्ती लिङ्ग परामर्श को करण माना है, व्याप्ति ज्ञान को नही ।[2] जबकि व्याप्ति ज्ञान ही अनुमिति का असाधारण कारण है, परामर्श तो व्यापार है । यदि व्यापार को ही कारण मानना है, तो प्रत्यक्ष के प्रसङ्ग मे भी सन्निकर्ष को, जो कि इन्द्रिय आश्रित व्यापार है, करण मानना चाहिए । नव्य नैयायिको को यही अभिप्रेत है । प्राचीन नैयायिक चू कि व्यापार को करण न मानकर व्यापार युक्त असाधारण कारण को करण मानते है, अत उनके अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान का करण इन्द्रिय तथा अनुमिति ज्ञान का करण व्याप्ति ज्ञान माना जायेगा ।

---

१ तर्क सग्रह पृ० ८६

२ वही पृ० ९८

प्रत्यक्ष के वर्गीकृत विभाग के लिए निम्नलिखित रेखा चित्र द्रष्टव्य है :—



निर्विकल्पक-सविकल्पक

प्रत्यक्ष ज्ञान के मुख्यत दो भेद है · निर्विकल्पक और सविकल्पक। वाटले (whately) के शब्दो मे इन्हें क्रमश Incomplex तथा Complex कह सकते है। जब कोई वस्तु हमारे इन्द्रियपथ में आती है, तो सर्व प्रथम यह प्रतीति होती है कि 'यह कुछ है', उसके अनन्तर जब वह वस्तु निकट और स्पष्ट होती है, तब वस्तु की विशेषताओ का परिचय होता है। प्रथम में केवल वस्तु की 'सत्ता' या सद्भाव मात्र की प्रतीति होती है, परवर्ती ज्ञान (सविकल्पक) मे हमे उस वस्तु के विविध विशेषणों से विशिष्ट होने का भान होता है। प्रथम सत्तात्मक ज्ञान विशिष्ट बुद्धि से रहित ज्ञान निष्प्रकारक या निर्विकल्पक[1] तथा घटत्व आदि से विशिष्ट घट आदि का ज्ञान, जिसमे कि नाम जाति आदि विशेषणो की प्रतीति भी सम्मिलित है, सप्रकारक या सविकल्पक ज्ञान कहाता है।[2]

सविकल्पक ज्ञान में सामान्यत· चार प्रकार के विशेषणो (उपाधियों) का ज्ञान होता है जाति, गुण, क्रिया और नाम। गौर ब्राह्मण देवदत्त

१. कणाद रहस्यम् पृ० ९१ २. तर्क दीपिका पृ० ८२

पढ़ता है (ब्राह्मणो गौरो देवदत्तः पठति) इस ज्ञान को हम पूर्ण सविकल्पक कह सकते हैं; इसमे सभी उपाधियो या विशेषणो की चर्चा की गयी है।' 'गौर' शब्द उसके गुणो का प्रतिनिधित्व करता है, 'ब्राह्मण' शब्द जाति का, पढ़ना' (पठति) क्रिया का बोधक है तथा देवदत्त' नाम है। सविकल्पक ज्ञान से पूर्व 'यह कुछ है' यह भान अनिवार्यत: होता है, तदनन्तर 'यह गौर है' 'यह ब्राह्मण या मनुष्य है,' उसके बाद उसमे विद्यमान 'पठन क्रिया का पता चलता है, साथ ही उसके नाम की प्रतीति होती है, एव अन्त मे सब का सम्मिलित ज्ञान होता है, इस प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान ही विशेषणो (उपाधियो) के ज्ञान मे विशिष्ट होने पर सविकल्पक बन जाता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान की इन दोनो कोटियो के सम्बन्ध मे सन्देह हो सकता है, कि इन दोनो को पृथक् पृथक् मानने की क्या आवश्यकता है? यह सन्देह मुख्यत निर्विकल्पक ज्ञान की सत्ता के सम्बन्ध मे है, किन्तु नैयायिको के अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान ही सविकल्पक ज्ञान के प्रति कारण है।[1] कारण यह है कि सविकल्पक ज्ञान असीम होता है। किसी भी पदार्थ का प्रत्यक्ष करने पर क्रमश उसकी अधिकाधिक विशेषताओ की प्रतीति होती है, इसलिए मानना पडता है कि प्रथम विशेषण ज्ञान स पूव भी एक विशेषण रहित ज्ञान हुआ होगा, क्योकि विशेषण ज्ञान के बिना विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न नही होता तथा 'विशेषण' विद्यमान वस्तु मे ही वैशिष्ट उत्पन्न करता है, अविद्यमान मे नही। इस प्रकार जाति, गुण, क्रिया और नाम से युक्त 'गौ का ज्ञान विशेषण के ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान है, क्योकि वह विशिष्ट ज्ञान है, जैसे अनुमिति आदि का ज्ञान।[2] इस अनुमान के द्वारा निर्विकल्पक ज्ञान को मानना अनिवार्य हो जाता है।

चूकि निर्विकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है, इस प्रत्यक्ष ज्ञान की सिद्धि के लिए अनुमान का आश्रय लेना पडता है, जबकि अनुमिति ज्ञान स्वत प्रत्यक्ष के आश्रित होता है। अत यदि किसी विचारक को निर्विकल्पक का स्वतन्त्र ज्ञान मानने मे आपत्ति हो, तो भी उन्हे उसे (निर्विकल्पक को) सविकल्पक की एक पूर्व अवस्था विशेष के रूप में तो स्वीकार करना ही होगा।

---

१. कणाद रहस्यम् पृ० ६१।

२ (क) वही पृ० ६१ (ख) तर्क दीपिका पृ० ८१

नैयायिकों के निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञान को बौद्धों के अतिरिक्त प्राय· सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है । बौद्धो के अनुसार 'केवल निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्ष काटिक ज्ञान है; सविकल्पक ज्ञान न तो वास्तविक है और न प्रत्यक्ष । उनके अनुसार गुणो की सत्ता वास्तविक न होकर 'बन्ध्या पुत्र' के समान केवल काल्पनिक है, जबकि निर्विकल्पक ज्ञान वास्तविक होने के कारण ही प्रत्यक्ष भी है । बौद्धो की यह मान्यता संभवत उनके शून्यवाद पर आधारित है ।

निर्विकल्पक ज्ञान पूर्णत. इन्द्रिय सन्निकर्ष जन्य है, अत. उसको प्रत्यक्ष स्वीकार करने मे कोई आपत्ति किसी को भी नही है, किन्तु सविकल्पक ज्ञान अशत निर्विकल्पक पर एव अशत पूर्व ज्ञान पर आश्रित है जैसे समुद्र में आते हुए जहाज को देखकर सर्व प्रथम हमे कुछ काला-सा प्रतीत होता है, जिसके फलस्वरूप 'यह कुछ (वस्तु) है' यह ज्ञान होता है, यह निर्विकल्पक ज्ञान है । उसके अनन्तर जहाज के मस्तूल आदि का साक्षात्कार होता है, साथ ही जहाज के लक्षणो का स्मरण होता है, तदनन्तर 'यह जहाज है' यह ज्ञान (प्रत्यक्ष ज्ञान) उत्पन्न होता है । इसी प्रकार घट के साक्षात्कार के समय सर्व प्रथम 'यह कुछ है' यह निर्विकल्पक प्रतीति होती है, तदनन्तर उसकी आकृति विशेष गोलाई और शख के समान ग्रीवा आदि का साक्षात्कार होने पर 'इस आकृति का पदार्थ घट होता है' यह स्मरण होता है, तत्पश्चात् 'यह घट है, इस प्रकार का सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है ।

यदि विचार कर देखा जाए, तो यह सविकल्पक प्रत्यक्षज्ञान उपमिति के बहुत निकट है । उपमिति मे वस्तु के प्रत्यक्ष के बाद सादृश्य एव शाब्द ज्ञान का स्मरण आदि अनिवार्य होता है, इसी प्रकार यहा भी 'यह घट है' इस प्रत्यक्ष के पूर्व घट सादृश्य का स्मरण, तथा घट नाम का स्मरण आवश्यक होता है । इस प्रकार यह प्रत्यक्ष अनेक ज्ञानो का मिश्रित रूप है, जैसा कि अनुमिति और उपमिति है ।

पाश्चात्य दार्शनिक भी नैयायिको की इस सविकल्पक प्रत्यक्ष की परिभाषा से सहमत नही है । वे भी इसे अनेक ज्ञानो का मिश्रण ही मानते हैं । उनका कथन है कि 'दशासूचक' (Compass) द्वारा दिशा का ज्ञान करते हुए दर्शक उसकी सुई को देखता है, अब जिधर सुई की नोक हुई उधर ही यह उत्तर दिशा है' यह ज्ञान उस को होता है, किन्तु क्या इस ज्ञान को प्रत्यक्ष

कहना उचित होगा ? क्योकि यह ज्ञान तो निश्चित रूप से अनेक ज्ञानो का मिश्रण है, इसीलिए तो दिशा सूचक के सिद्धान्त से अपरिचित व्यक्ति उसे देखकर भी दिशा ज्ञान नही कर पाते। इस प्रकार यह स्वीकार करना अनुचित न होगा कि नैयायिको का सविकल्पक ज्ञान उनकी ही प्रथम परिभाषा के अनुसार प्रत्यक्ष की कोटि मे नही आ पाता।

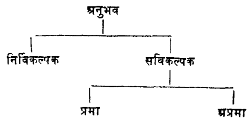
किन्तु बौद्धो की मान्यता को भी हम सत्य के निकट स्वीकार नही कर सकते, क्योकि वे सविकल्पक ज्ञान का खण्डन शून्यवाद के आधार पर करते है। शून्यवाद के अनुसार जगत् केवल मानसिक कल्पनामात्र है, इसलिए उनके निकट वास्तविक रूप से किसी वस्तु की प्रतीति स्वीकार करने के लिए कोई स्थान नही है। साथ ही उनकी मान्यता के अनुसार इस निर्विकल्पक ज्ञान मे वस्तु की स्पष्ट सविशेषण प्रतीति सभव नही है, तथा सविशेषण प्रतीति न होने के कारण उनके मत मे अनुमिति उपमिति या शाब्द ज्ञान की मान्यता भी सन्दिग्ध हो जायेगी, क्योकि बिना विशेषण ज्ञान के अनुमान के लिए व्याप्ति, उपमिति के लिए सादृश्य की प्रतीति सभव नही है।

इसके साथ ही यह भी स्मरणीय है कि वास्तविक मे रूप सविकल्पक ज्ञान ही हमारे मानस मे किसी वस्तु के ज्ञान को आरोपित करता है, अत इसे अस्वीकार करना प्रकारान्तर से बाह्य जगत् के ज्ञान के मूलाधार को ही अस्वीकार करना है, फलस्वरूप प्रत्यक्ष ज्ञान की कोटि से सविकल्पक को पृथक रख सकना भी सभव नही है।

यह एक ऐसी समस्या है, जिसका समाधान तर्क द्वारा सभव भी नही प्रतीत होता, क्योकि यह समस्या सभी तर्कों के मूल आधार प्रत्यक्ष के सम्बन्ध मे ही उठ खडी हुई है, एव प्रत्यक्ष के बिना किसी भी तर्क की स्थिति सम्भव नही।

इसके अतिरिक्त एक प्रश्न निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के सम्बन्ध मे भी है कि न्यायशास्त्र की परिभाषाओ के अनुसार निर्विकल्पक का कोई स्थान ही निश्चित हो पाता चू कि यह किसी भी व्यवहार का कारण नही होता, अत इसे बुद्धि के अन्तर्गत स्थान नही मिलना चाहिए। विशेषणात्मक ज्ञान के अभाव मे इसे प्रमा या अप्रमा नही कह सकते, इसे अनुभूति सामान्य भी नही कह सकते, क्योकि उसके द्वारा विशेष्य, प्रकारता तथा संसर्ग की प्रतीति होती

है, तथा निर्विकल्पक में यह सब कुछ नहीं है। इस प्रकार यह निःसन्दिग्ध रूप से ज्ञान होते हुए भी ज्ञान (अनुभव) के उन सभी प्रकारो से भिन्न है, जिन्हे न्यायशास्त्र की परम्परा मे स्वीकार किया जाता है। इसलिए तर्क सग्रह के आधुनिक व्याख्याकार महादेव राजाराम बोडास ने न्याय शास्त्र के परम्परागत विभाजन की उपेक्षा करके अनुभव के प्रथम निर्विकल्पक और सविकल्पक रूप से विभाग कर सविकल्पक मे प्रमा और अप्रमा नाम से दो भेद किये है।[1]



चूकि निर्विकल्पक ज्ञान मे प्रकारता (विशेषणता) ज्ञान नही होता, अतएव इसे किसी ज्ञान विशेष प्रत्यक्ष अनुमिति उपमिति अथवा शाब्द मे नही रखा जा सकता, इसलिए इसे इन्द्रियबोध या सवेदना कहना अधिक उचित होगा। प्रत्यक्ष तो केवल सविकल्प ज्ञान को ही कहना उचित होगा। काण्ट ने भी अनुभव (Apprehension) के दो भेद स्वीकार किये है · Percept proper एव Sensation proper जो क्रमश सविकल्पक और निर्विकल्प के समानान्तर कहे जा सकते हैं। सवेदना को पृथक् करते हुए प्रत्यक्ष का यह सकुचित अर्थ अधिकाश पाश्चात्य दार्शनिको ने भी स्वीकार किया है,[2] उनके अनुसार निर्विकल्प सवेदना (Sensation) शान्त मस्तिष्क मे उत्पन्न हुआ एक परिवर्तन मात्र है, जिसमे मस्तिष्क को किसी बाह्य वस्तु का साक्षात्कार नही होता। जबकि प्रत्यक्ष (Perception) किसी बाह्य वस्तु के गुणो के सम्बन्ध मे इन्द्रियो के माध्यम से उत्पन्न हुआ ज्ञान है। ये परिभाषाएं रेड (Reid) तथा काण्ट (Kant) द्वारा स्थापित की गई है तथा सामान्यतः दार्शनिक समाज मे स्वीकृत है। इस प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान को सवेदन तथा सविकल्पक को प्रत्यक्ष कहा जा सकता है।

1. Nates on Tarkasangraha by M. R. Bodas P. 219
2. Vocabulary of Philosophy by Fleming P. 443.

किन्तु यह समाधान आंशिक ही कहा जाएगा; **क्योंकि माध्यम के भेद से अनुभव के अनेक भेद हैं** : यदि वह बाह्य वस्तु के सम्बन्ध में है साथ ही इन्द्रिय सन्निकर्षजन्य है, तो उसे **प्रत्यक्ष** कहा जाता है, यदि वह दो पूर्व अनुभवों पर आधारित है तो **अनुमिति**, दो पदार्थों की तुलना पर आधारित होने पर **उपमिति** एवं शब्दार्थ सम्बन्ध पर आश्रित होने की स्थिति में उसे **शाब्द ज्ञान** कहते हैं, इस प्रकार **सविकल्पक** इन सभी से भिन्न सिद्ध होता है, क्योंकि '**इन्द्रियसन्निकर्षजन्य**' रूप लक्षण उसमें घटित नहीं होता। यदि कुछ अंशों में इन्द्रिय सन्निकर्ष **सविकल्पक प्रत्यक्ष** के प्रतिकारण है, तो वह **अनुमिति** के प्रति भी आंशिक रूप से कारण है। इतना अन्तर अवश्य है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष के लिए जिन अनेक अनुभवों (बोध) की आवश्यकता है, उनकी उपलब्धि इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष के द्वारा ही होती है, जबकि अनुमिति में उनकी उपलब्धि के लिए केवल इन्द्रिय सन्निकर्ष कारण नहीं है। वहाँ हेतु का साक्षात्कार प्रत्यक्ष द्वारा होता है, तो व्याप्ति का ज्ञान, जिसके बिना हेतु का हेतुत्व सिद्ध नहीं हो सकता, सन्निकर्ष द्वारा न होकर स्मरण द्वारा होता है। **सविकल्पक** प्रत्यक्ष की इस प्रक्रिया में निर्विकल्पक को विभिन्न अनुभवों के सम्बद्ध ज्ञान के प्रति अवान्तर व्यापार कह सकते हैं, क्योंकि उसकी उत्पत्ति सन्निकर्ष और सविकल्पक प्रत्यक्ष के मध्य में होती है।[1]

इस प्रकार न्याय शास्त्र के सिद्धान्तों में परस्पर विरोध सामान्य अनुभवों पर आधारित कुछ समाधानों के साथ दूर किये जा सकते हैं। केशवमिश्र ने सम्भवतः इस प्रत्यक्ष के प्रसङ्ग में आने वाली इन समस्याओं के समाधान के लिए **करण**, **व्यापार** और **फल** के कुछ वर्ग प्रस्तुत करते हुए समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, यद्यपि परवर्ती विद्वानों द्वारा उनका अनुगमन नहीं किया गया है। उनके अनुसार यदि निर्विकल्पक ज्ञान **फल** है, तो इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष **व्यापार** तथा इन्द्रिय **करण** होगा। यदि सविकल्पक ज्ञान **फल** हो तो निर्विकल्पक ज्ञान **व्यापार** एवं इन्द्रिय तथा विषय का सन्निकर्ष **करण** होगा तथा यदि ज्ञान से उत्पन्न इच्छा **फल** हो तो सविकल्पक ज्ञान **व्यापार** तथा निर्विकल्पक ज्ञान

१. तर्कभाषा पृ० २०।

करण होगा ।* किन्तु इस प्रक्रिया मे निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञान को समान कोटि में रखा जाना सम्भव न होगा। साथ ही सविकल्पक के प्रति इन्द्रिय को प्रत्यक्ष प्रमाण न कह सकेगे, जैसाकि अनेक नैयायिक स्वीकार करते है ।[1]

पूर्व पृष्ठो में हम देख चुके है कि न्यायशास्त्र मे इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को **प्रत्यक्ष ज्ञान** माना जाता है। इन्द्रियो से तात्पर्य यहा ज्ञानेन्द्रियो से है। ज्ञानेन्द्रिया पाच हैं **नेत्र, त्वचा, श्रोत्र, घ्राण एव रसना**। इनके अतिरिक्त **मन** ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनो ही है, उसे भी प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति हेतु माना जाता है। सन्निकर्ष भी छ प्रकार का है **संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषणविशेष्यभाव**।[2] इनमे से तीन सयोग समवाय और विशेषणविशेष्य-भाव को मूल (आधार भूत) सन्निकर्ष तथा शेष तीन को परम्परया सम्बन्ध कह सकते है। इनमे से सयोग द्वारा अर्थात् इन्द्रियो का विषय से सयोग होने पर घट का प्रत्यक्ष होता है। चक्षु से सयुक्त घट मे घटगत गुण समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहते है, चूंकि चक्षु स्वय द्रव्य है, एव उसका घट मे विद्यमान रूप से साक्षात्सम्बन्ध (सयोग सम्बन्ध) सम्भव नही है, अत. सयोग द्वारा उसका (घट रूप का) प्रत्यक्ष भी सभव नही है, फलत रूप के प्रत्यक्ष मे चक्षु और घट के बीच विद्यमान **सयोग** तथा घट और रूप के बीच मे विद्यमान **समवाय** सम्बन्ध को समन्वित रूप से **संयुक्तसमवाय** सन्निकर्ष नाम से कारण माना जाता है। इसी प्रकार घट रूप मे विद्यमान रूपत्व जाति के प्रत्यक्ष के लिए, चूंकि रूप और रूपत्व के मध्य एक **समवाय** सम्बन्ध और बढ जाता है, अत **संयुक्त-समवाय** एव **समवाय** को समन्वित रूप से, **संयुक्तसमवेतसमवाय** सन्निकर्ष के नाम से कारण स्वीकार किया जाता है। घट मे विद्यमान **घटत्व जाति** तथा घटरूप मे विद्यमान **रूपत्व** जाति का प्रत्यक्ष भी चक्षु द्वारा ही होता है, इसके सम्बन्ध मे नैयायिको का यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि जिस द्रव्य

* **करण**		**व्यापार**		**फल**
(१) इन्द्रिय	→	सन्निकर्ष	→	निर्विकल्पक ज्ञान
(२) सन्निकर्ष	→	निर्विकल्पक ज्ञान	→	सविकल्पक ज्ञान
(३) निर्विकल्पक ज्ञान	→	सविकल्पक ज्ञान	→	इच्छा (ज्ञानजन्य इच्छा)

१. तर्क संग्रह पृ० ८४

२. कणाद रहस्यम् पृ० ८६।

अथवा गुण का जिस इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, उस द्रव्य अथवा गुण में विद्यमान जाति समवाय और अभाव का भी उस इन्द्रिय से ही प्रत्यक्ष होता है।[1] कर्ण कुहर मे विद्यमान आकाश ही नैयायिकों के मत मे श्रोत्र इन्द्रिय है, शब्द आकाश का गुण है, अत दोनो के बीच समवाय सम्बन्ध है, फलत. श्रोत्र इन्द्रिय और शब्द के बीच भी समवाय सन्निकर्ष होगा, इस प्रकार शब्द के प्रत्यक्ष मे श्रोत्र इन्द्रिय एव विषय शब्द के मध्य में विद्यमान समवाय सन्निकर्ष ही कारण है। शब्द मे विद्यमान शब्दत्व जाति उसमे समवाय सम्बन्ध से रहती है, अत. श्रोत्र और शब्दत्व के बीच समवेतसमवाय (समवाय + समवाय) सम्बन्ध होगा।

इस प्रसग मे एक बात विचारणीय है कि ऊपर की पक्तियो मे कहा गया है, 'श्रोत्र इन्द्रिय आकाशस्वरूप है', किन्तु क्या इसीप्रकार चक्षुको अग्नि, घ्राण को पृथिवी, त्वचा को वायु तथा रसना को जल नही माना जा सकता ? नैयायिको की ओर से इसका उत्तर है नहीं। इसका कारण यह है कि इन चारो द्रव्यो मे विद्यमान विशेषगुण अथवा प्रधान गुणों की सत्ता इन्द्रिय की स्थिति मे प्रत्यक्ष नही होती जबकि श्रोत्र मे शब्द की सत्ता रहती ही है, अतएव श्रोत्र को आकाशरूप ही माना जाता है, आकाश का विकार नहीं, किन्तु चक्षु आदि को अग्नि आदि न मानकर उनका विकार माना जाता है। इसीलिए कर्ण कुहर मे विमान आकाश ही श्रोत्र है' ऐसी श्रोत्र की परिभाषा की जाती है।[2]

प्रत्यक्ष के प्रसंग मे एक बात स्मरणीय है कि नैयायिको के मत मे किसी द्रव्य के प्रत्यक्ष के लिए उसमे उदभूतरूप अथवा उद्भूतस्पर्श का होना अनिवार्य है, अन्यथा उस द्रव्य का प्रत्यक्ष नही हो सकता, इसके फलस्वरूप इस मत मे त्वक् इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष की प्रक्रिया वही है, जो नेत्रजन्य प्रत्यक्ष की है, शेष तीन इन्द्रिया घ्राण रसना और श्रोत्र द्रव्य का प्रत्यक्ष नही कराती, अपितु इनके द्वारा द्रव्य मे विद्यमान गुणो का ही प्रत्यक्ष होता है। वशेषिको अथवा प्राचीन नैयायिको का मत इससे भिन्न है, वे केवल चक्षु द्वारा ही द्रव्य का प्रत्यक्ष मानते है, इनके अनुसार त्वक् इन्द्रिय भी घ्राण आदि के समान

---

१. तर्क कौमुदी पृ० १०

२. वही पृ० ८४

केवल गुण की ही ग्राहक है। इस प्रकार चक्षु इन्द्रिय (नव्य नैयायिकों के अनुसार चक्षु और त्वक्-इन्द्रिय) द्वारा द्रव्य और उसमें विद्यमान गुण, क्रिया, जाति एव अभाव का प्रत्यक्ष होता है, तथा शेष इन्द्रियो द्वारा केवल गुण, क्रिया, जाति एव उसमे विद्यमान अभाव का प्रत्यक्ष होता है। 'द्रव्य का प्रत्यक्ष केवल चक्षु द्वारा अथवा चक्षु और त्वचा द्वारा ही होता है' इस मान्यता का कारण प्राचीन नैयायिको द्वारा द्रव्य प्रत्यक्षमात्र के प्रति उद्भूत रूप तथा नव्यनैयायिको द्वारा उद्भूतरूप एव उद्भूतस्पर्श को कारण स्वीकार करना है।

भाषा परिच्छेदकार विश्वनाथ ने दोनो के मध्य का मार्ग अपनाया है। उनकी मान्यता है कि प्रत्येक उद्भूत रूपयुक्त द्रव्य का प्रत्यक्ष त्वक् इन्द्रिय एव चक्षुइन्द्रिय दोनो से होता है, किन्तु इस प्रत्यक्ष मे, भले ही वह त्वक् इन्द्रिय द्वारा किया जा रहा हो, उद्भूतरूप अवश्य ही कारण होता है[1] इसी प्रकार विश्वनाथ के मत मे अन्य बाह्य इन्द्रियो से भी प्रत्यक्ष उसी स्थिति मे होगा, जबकि उस द्रव्य मे उद्भूतरूप विद्यमान हो। इस मान्यता के अनुसार परमाणुगत रूप रस गन्ध स्पर्श आदि का प्रत्यक्ष नही होगा, क्योकि परमाणु मे उद्भूतरूप विद्यमान नही है। किन्तु इसे उचित कहना तो उस स्थिति मे ठीक होगा, जब आकाश गत शब्द अथवा वायुगत स्पर्श को प्रत्यक्ष न माना जाता, क्योकि आकाश एव वायु मे उद्भूतरूप विद्यमान नही है। किन्तु आकाश गत शब्द आदि एव वायु गत स्पर्श आदि गुणो का प्रत्यक्ष नही होता यह उन्हे कथमपि मान्य नहीं है। यही कारण है विश्वनाथ उद्भूत रूप को प्रत्यक्षमात्र के प्रति कारण न मानकर केवल द्रव्य प्रत्यक्ष के प्रति कारण मानते है। इस प्रकार इस मत मे वायु को प्रत्यक्ष न मानकर स्पर्शाश्रय अनुमेय माना जाता है, किन्तु वायुगत स्पर्श गुण को त्वक् ग्राह्य माना जाता है, साथ ही त्वचा का प्रत्यक्षजनक इन्द्रिय माना जाता है।

इस प्रसग मे यह स्मरणीय है कि विश्वनाथ के अनुसार त्वक् इन्द्रिय केवल उन्ही द्रव्यों का प्रत्यक्ष करती है, जिन मे उद्भूत रूप विद्यमान हो, किन्तु द्रव्यो मे विद्यमान उन गुणो के लिए जिनका कि त्वचा द्वारा प्रत्यक्ष किया जाना है, यह अनिवार्य नही है कि उनके आश्रय द्रव्य मे रूप हो अथवा उनका प्रत्यक्ष होता हो इसीलिए इनके मत मे वायु मे उद्भूत रूप न होने से उसका तो प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु तद्गत

१ (क) भाषा परिच्छेद ५६, (ख) न्याय मुक्तावली पृ० २४३

स्पर्श आदि गुणो का प्रत्यक्ष होता है । जबकि नव्यनैयायिक उद्भूतरूप अथवा उद्भूत स्पर्श मे किसी की भी सत्ता रहने पर द्रव्य का प्रत्यक्ष स्वीकार करते है, अत इनके मत मे वायु का स्पार्शन प्रत्यक्ष होता ही है ।

आकाश में न तो उद्भूत रूप है और न उद्भूत स्पर्श, अत उसका प्रत्यक्ष नहीं होता; किन्तु उसमें विद्यमान शब्द के द्वारा जो कि प्रत्यक्ष का विषय है, उसका अनुमान किया जाता है । इसी प्रकार मानस प्रत्यक्ष भी केवल सुख दुःख आदि गुणो का ही होगा, आत्मा का नही । आत्मा तो सदा अनुमेय है, प्रत्यक्ष का विषय नही, यह वैशेषिको की मान्यता है । किन्तु उद्भूतरूप अथवा उद्भूतस्पर्श को द्रव्य प्रत्यक्ष मे अनिवार्य रूप से आवश्यक मानते समय, नैयायिको का प्रत्यक्ष से तात्पर्य बाह्य प्रत्यक्ष से है, मानस प्रत्यक्ष से नही ।[1] इसलिए उनके मत मे आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता ही है ।[2]

वैशेषिक मत मे प्रत्यक्ष के हेतु के रूप मे पहले गिनाये हुए छ सन्निकर्षो मे प्रथम पाच (सयोग, सयुक्तसमवाय, सयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, और समवेत समवाय) केवल चार पदार्थो का (द्रव्य गुण कर्म और सामान्य का) ही प्रत्यक्ष कराते है । परमाणु का धर्म होने के कारण एव परमाणु मे उद्भूत रूप न होने के कारण, विशेष का प्रत्यक्ष नही होता । इसीप्रकार समवाय का भी वैशेषिकमत मे प्रत्यक्ष नही हो पाता, क्योकि द्रव्यगत रूप क्रिया एव जाति आदि तो द्रव्य मे समवाय सम्बन्ध से रहते है, अत उनका प्रत्यक्ष तो संयुक्तसमवाय, अथवा सयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष से हो जाता है, किन्तु द्रव्य मे समवाय तादात्म्य सम्बन्ध मे रहता है, एव तादात्म्य नामक कोई सन्निकर्ष है नही, अतः उनके मत मे समवाय का प्रत्यक्ष सम्भव नही है ।

अभाव का प्रत्यक्ष संयोग अथवा समवाय से सम्भव नही है, क्योकि अभाव कोई द्रव्य नही है, जो किसी अधिकरण मे स्वय रहे, अतएव इसका इन्द्रिय से सयोग सम्भव नही है, चूकि यह कोई गुण क्रिया अथवा जाति नही है, जो द्रव्य मे समवाय सम्बन्ध से रह सके, अत. इसका परम्परया (सयुक्त समवाय और सयुक्तसमवेतसमवाय) सम्बन्ध भी सम्भव नही हो सकता । चूकि नैयायिको ने इसे एक धर्म माना है, जो किसी द्रव्य आदि अधिकरण

---

१ न्याय मुक्तावली पृ० २४३, २ (क) वही पृ० २५१
(ख) भाषा परिच्छेद ५०

में रहता है, इसलिए 'भूतल घट के अभाव से युक्त है' (घटाभाववद् भूतलम्) इस प्रत्यभिज्ञा मे घट का अभाव भूतल के एक विशेषण के रूप में संगृहीत होता है, तथा घट उस अभाव का प्रतियोगी कहा जाता है । चूंकि अभाव के अधिकरण और अभाव के बीच संयोग समवाय अथवा इन दोनों के समन्वय से परम्परया कोई सम्बन्ध नही सिद्ध होता (जैसा कि ऊपर की पक्ति मे सिद्ध किया गया है) अत. अभाव के प्रत्यक्ष की प्रक्रिया द्रव्य आदि पदार्थों के प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के समान न होकर एक विशिष्ट प्रक्रिया सिद्ध होती है ।

अभाव के प्रत्यक्ष की प्रक्रिया –सर्व प्रथम भूतल आदि अधिकरण से जहा किसी वस्तु का अभाव प्रत्यक्ष करना होता है, नेत्र आदि इन्द्रियो का संयोग होता है, भूतल मे घटाभाव प्रत्यक्ष के समय भो नेत्र और भूतल संयुक्त होगे, साथ ही भूतल और घटाभाव का सम्बन्ध विशेषणविशेष्यभाव नेत्रेन्द्रिय मे सम्बन्ध का माध्यम होगा, इस प्रकार नेत्र आदि इन्द्रिय एव घटाभाव का सम्बन्ध मिलकर सयुक्तविशेषणता (सयोग+विशेषणता) अथवा संयुक्तविशेषणविशेष्यभाव (संयोग+विशेषणविशेष्यभाव) सम्बन्ध प्राप्त होता है । घटाभाव के साथ चक्षु के सम्बन्ध को ही दूसरे शब्दो मे इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता अथवा इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यता भी कह सकते है । इस प्रकार 'घटाभाव युक्त भूतल है' (घटाभाववद् भूतलम्) इस प्रतीति मे, जहा भूतल विशेष्य रूप से प्रतीत होता है, इन्द्रियसयुक्तविशेषणता; तथा 'भूतल मे घटाभाव है' (भूतले घटाभाव), इस प्रतीति मे, जहा घटाभाव विशेष्य एव भूतल विशेषण के रूप में प्रतीत होता है, संयुक्तविशेष्यता सन्निकर्ष होगा । इसप्रकार अभाव प्रत्यक्ष मे विशेषण विशेष्यभाव सन्निकर्ष कारण होगा ।

पूर्व पक्तियो मे भूतल मे विद्यमान घटाभाव के प्रत्यक्ष के सम्बन्ध पर विचार किया गया है । भूतल से चूकि नेत्र का सयोग होता है, अत. इस सम्बन्ध को **संयुक्तविशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध** कहा गया है । भूतल मे विद्यमान रूप मे यदि घटाभाव अथवा रसाभाव का प्रत्यक्ष करे तो नेत्र और भूतल का सयोग सम्बन्ध, भूतल और रूप का समवाय सम्बन्ध, तथा रूप और अभाव (घटाभाव या रसाभाव) का **विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध** होने से समन्वित रूप मे **संयुक्तसमवेतविशेषणविशेष्यभाव** सम्बन्ध होगा । इसी प्रकार भूतलगत रूप मे **विद्यमान** रूपत्व जाति मे क्रिया के अभाव का प्रत्यक्ष करते समय रूप और

रूपत्व के बीच सम्बन्ध के रूप मे एक समवाय के और बढ जाने के कारण **संयुक्तसमवेतविशेषणविशेष्यभाव** सम्बन्ध माना जाएगा। शब्द मे रूपाभाव प्रत्यक्ष के समय चूंकि शब्द और श्रोत्र के बीच सयोग सम्बन्ध न होकर केवल समवाय सम्बन्ध है (क्योकि कर्ण विवर मे विद्यमान आकाश को ही श्रोत्र कहते हैं) एवं शब्द और अभाव के मध्य विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध है, अत समष्टि रूप से **समवेतविशेषणविशेष्यभाव** सम्बन्ध होगा, इसी प्रकार शब्द मे विद्यमान **शब्दत्व** जाति मे क्रिया के अभाव का प्रत्यक्ष करने मे शब्द और आकाश, शब्द और शब्दत्व तथा शब्दत्व और क्रियाभाव के सम्बन्धो को समन्वित कर **समवेत-समवेतविशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध** होगा। इस प्रकार यद्यपि विशेषणविशेष्यभाव के अनेक भेद सभव है, किन्तु यहा समष्टि रूप से ही उस का सकेत किया गया है।

इस अभाव प्रत्यक्ष के प्रसग मे एक प्रश्न विचारणीय है कि 'क्या आकाश मे रूप के अभाव' का प्रत्यक्ष होगा ? नैयायिको का उत्तर है नही। क्योकि आकाश मे किसी इन्द्रिय का सयोग नही हो सकता। श्रोत्र इन्द्रिय यद्यपि आकाश स्वरूप ही है, किन्तु उसकी इन्द्रियता केवल कर्णविवर मे वर्त्तमान आकाश तक ही है, उससे बाहर नही, अत इस अभाव का प्रत्यक्ष न होकर केवल अनुमान से ही इसकी प्रतीति होगी। इस अनुमान की प्रक्रिया यह होगी 'आकाश मे रूप का अभाव है, रूप की प्रतीति न होने से, जहा जहा रूप होता है, वहा वहा उसकी प्रतीति होती है, जैसे घट मे रूप, यहा चूकि रूप की प्रतीति नही होती, अत यहा (आकाश मे) रूप का अभाव है।

प्रत्यक्ष के प्रसग मे एक अन्य प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि जैसे — घटाभाव प्रत्यक्ष मे दो सन्निकर्ष **सयुक्तविशेष्यता** और **सयुक्तविशेषणता** को स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार घट प्रत्यक्ष मे दो सन्निकर्ष क्यो न स्वीकार किये जाए ? जब कि 'भूतल मे घडा है' (भूतले घट) तथा 'घडे से युक्त भूतल है, (घटाभाववद् भूतलम्) ये दो पूर्णतया भिन्न ज्ञान है। इसका समाधान यह है कि घट के अभाव स्थल मे भूतल चाहे विशेष्य हो या विशेषण इन्द्रिय का सयोग भूतल से ही होगा, तथा भूतल और अभाव के सम्बन्ध का ही प्रत्यक्ष की प्रक्रिया मे स्थान होगा, जब कि घट प्रत्यक्ष मे प्रत्येक स्थिति मे घट से चक्षु सयोग होगा ही, अत. उस ज्ञान मे जहा भूतल विशेष्य और घट विशेषण है, एव उस मे भी जहा

घट विशेष्य और भूतल विशेषण है, दोनो ही ज्ञानो मे भूतल और घट दोनो ही द्रव्यो से नेत्र इन्द्रिय का सयोग सम्बन्ध अवश्य ही होगा, अत दोनों के ही प्रत्यक्ष के अवसर पर सयोग सन्निकर्ष ही होगा, अभाव प्रत्यक्ष मे यह सभव नही है, अत वहा दो सम्बन्ध मानना आवश्यक हो जाता है।

सन्निकर्ष के भेद

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि 'भूतल मे घट का अभाव है, इस ज्ञान मे अभाव विशेष्य है, अत विशेष्यता सम्बन्ध, तथा 'भूतल घट के अभाव से युक्त है, इस ज्ञान मे अभाव विशेषण है, अत विशेषणता सम्बन्ध है, फलत विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध को **विशेष्यता** और **विशेषणता** नाम से पृथक् कहा जा सकता है। इस प्रकार **सयोग सयुक्त-समवाय**, **सयुक्तसमवेतसमवाय**, **समवाय**, **समवेतसमवाय** इन पाच भाव प्रत्यक्ष के सन्निकर्षो के साथ ही अभाव प्रत्यक्ष मे **विशेषणविशेष्यभाव** सन्निकर्ष का **सयुक्तविशेषणविशेष्यभाव**, **सयुक्तसमवेतविशेषणविशेष्यभाव**, **सयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणविशेष्यभाव**, **समवेतविशेषणविशेष्यभाव**, **एवं समवेतसमवेतविशेषणविशेष्यभाव** इन पाच भेदो के रूप मे अथवा विशेषणता और विशेष्यता को पृथक् पृथक् करके **संयुक्त विशेषणता**, **सयुक्तविशेष्यता**; **संयुक्तसमवेतविशेषणता**, **सयुक्तसमवेतविशेष्यता**, **संयुक्त-समवेतसमवेतविशेषणता**, **संयुक्तसमवेतसमवेतविशेष्यता**, **समवेतविशेषणता**, समवेतविशेष्यता, **समवेतसमवेतविशेषणता**, एव **समवेतसमवेतविशेष्यता** भेद से अनेक भेदो के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु प्रत्यक्ष के विषय 'अभाव' के एक होने के कारण, उसके प्रत्यक्ष के हेतु को सक्षेपत **विशेषणविशेष्यभाव** नाम से एक सन्निकर्ष ही स्वीकार किया गया है।

अनुपलब्धि प्रमाण —

अभाव की प्रतीति के लिए मीमासिको एव वेदान्तियो ने अनुपलब्धि नामक नामक एक पृथक् प्रमाण स्वीकार किया है, जब कि नैयायिक केवल एक सन्निकर्ष मानकर ही काम चलाते है। इस सम्बन्ध मे मीमासको एव वेदान्तियो का कथन है कि भौतिक इन्द्रियो एव अभाव का परस्पर सम्बन्ध

सभव नहीं है, अतएव इन्द्रियो द्वारा अभाव का प्रत्यक्ष भी सभव नही है। किन्तु नैयायिको की मान्यता है कि जिस द्रव्य का जिस इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, उस द्रव्य मे विद्यमान गुण क्रिया जाति एव उसके अभाव का प्रत्यक्ष भी उस इन्द्रिय से ही होता है। जैसे चक्षुर्ग्राह्य पृथिवी के गुण **रूप** का, जाति **पृथिवीत्व** का, साथ ही पृथिवी मे विद्यमान **रूपाभाव** का प्रत्यक्ष चक्षु द्वारा ही होगा। इतना अन्तर अवश्य है कि नैयायिको के अनुसार अभाव प्रत्यक्ष के लिए **विशेषणविशेष्यभाव** नाम से अतिरिक्त सन्निकर्ष अवश्य माना जाता है। दोनो ने ही अपने अपने पक्ष मे लाघव दिखाने का प्रयत्न किया है।

किसी न किसी रूप मे फिर भी नैयायिक अनुपलब्धि को स्वीकार अवश्य करते है, क्योकि अभाव ऐसी वस्तु नही है, जिसे स्वतन्त्र रूप से जाना जा सके, अपितु उसके ज्ञान के लिए घट एव उसके आधार भूतल का पूर्व ज्ञान आवश्यक है। साथ ही यह भी निश्चित है कि जहा घट का आधार एव घट प्रतीत होता है वहा **घटाभाव** का प्रत्यक्ष भी नही हो सकता, किन्तु जहा स्थिति विपरीत हो अर्थात् अधिकरण प्रतीयमान हो एव आधेय घट अप्रतीयमान हो, वहा घट की उपलब्धि न होना (अर्थात् अनुपलब्धि) घटाभाव का परिचायक होगा। इस प्रकार भूतल विशेष मे घटाभाव के प्रत्यक्ष मे घट की अनुपलब्धि सहायक है। अब प्रश्न यह है कि यह अनुलब्धि क्या है? इसे सामान्यतः घट की अप्राप्ति नही कहा जा सकता, क्योकि अन्धकार मे जब घट की अप्रतीति होती है, हम उसे घटानुपलब्धि नही कह सकते। किन्तु जिस वस्तु की आशका की जा रही है, उसका सर्वथा न होना ही अनुपलब्धि है[1], इसके लिए वस्तु की अप्रतीतिमात्र आवश्यक नही है, अपितु वस्तु की प्रतीति के लिए जो साधन अपेक्षित हैं, जो व्यापार अपेक्षित है, उनके रहते वस्तु की अनुपलब्धि (अप्राप्ति) वस्तु का अभाव सिद्ध करती है। इस प्रकार अभाव प्रत्यक्ष के लिए वे सभी साधन आवश्यक है, जिन के द्वारा वस्तु के रहने पर उसका प्रत्यक्ष हो सकता हो।

अन्नभट्टकृत अनुपलब्धि की उपर्युक्त व्याख्या का उनके टीकाकर नील-कण्ठ शास्त्री ने विरोध किया है, उनका कहना है कि 'तर्कित प्रतियोगिसत्व

१. तर्क दीपिका-पृ०८५

विरोधि' (अर्थात् जिस वस्तु की आशका की जा रही है उसका न होना) के दो अर्थ हो सकते हैं . प्रथम यह कि 'किसी वस्तु की आशकित जो स्थिति उसकी विरोधिनी ही अनुपलब्धि है,[1] अर्थात् एक क्षण के लिए हम वस्तु की स्थिति मान लिया करते हैं, पुनः वस्तु की स्थिति को न पाकर यह तर्क करते हुए कि यदि घट होता तो भूतल की भाति अवश्य प्रत्यक्ष होता ।[2] भूतल का प्रत्यक्ष ही चाक्षुष प्रत्यक्ष के सभी साधनों की उपस्थिति सिद्ध करता है; तथापि घट का प्रत्यक्ष न होना ही उसका अभाव सिद्ध करता है । इस प्रकार प्रथम घट की सशय पूर्ण स्थिति, चक्षु की सहायता से घटाभावरूप निश्चय मे बदल जाती है । जो कल्पित घट का विरोध करता है, किन्तु वास्तविक घट का विरोध नही करता, अर्थात् यदि वस्तुत घट होता, तो उसकी प्रतीति अवश्य होती, किन्तु जो घट की प्रतीति कल्पना मात्र थी, वह इस प्रत्यक्ष से (घट के अप्रत्यक्ष से) खण्डित हो रही है, अतएव यहां वस्तुत घट नही है ।[3]

वस्तुत अनुपलब्धि की इन व्याख्याओ से स्वीकार्य समाधान नही हो पाता, क्योकि आत्मा के गुण धर्म और अधर्म अप्रत्यक्ष है । यदि कोई आत्मा का प्रत्यक्षाभास करके यह कहता है कि आत्मा मे धर्म और अधर्म का अभाव है, तो वह कथन असत्य होगा । इसीप्रकार भूतल पर प्रत्यक्ष के अविषय आकाश आदि का प्रत्यक्ष न होने के कारण उनकी अनुपलब्धि एव फलस्वरूप उनका अभाव कहना असत्य होगा । इसलिए किसी वस्तु का अभाव सिद्ध करने के लिए अनुपलब्धि के साथ 'योग्य' विशेषण लगाना आवश्यक है। अर्थात् प्रत्यक्ष योग्य पदार्थो की समस्त प्रत्यक्ष साधनो के रहने पर भी प्रतीति न होना अनुपलब्धि या उस पदार्थ का अभाव सिद्ध करता है ।

इस प्रकार नैयायिक वस्तु की अनुपलब्धि तथा विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष दोनो को स्वीकार करते है । जबकि मीमासक अनुपलब्धि सहित केवल पाच प्रमाण ही स्वीकार करते है । फिर भी नैयायिको का कथन है कि उनके पक्ष मे अर्थात् वस्तु की अनुपलब्धि और विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष दोनो को स्वीकार करने मे भी लाघव है, क्योकि वस्तु की अनुप-

---

१ तर्क दीपिका प्रकाश २४४-४५ २. वही पृ० २४४

३. वही पृ० २४४

लब्धि तो अभाव पदार्थ ही है, उससे भिन्न नही, विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध भी विशेषण और विशेष्य के स्वरूप से भिन्न नही है, केवल एक व्यापार की कल्पना करनी होती है। इसलिए इस पक्ष मे गौरव नही है।'[1] इसके विपरीत मीमासको को एक कारण के साथ (जिसमे व्यापार भी सम्मिलित है) एक अतिरिक्त प्रमाण भी स्वीकार करना पडता है। वस्तुत भूतल मे घटाभाव का तो केवल इतना ही अर्थ है कि केवल भूतल है, उसमे अन्य कुछ भी नही है। इसप्रकार अनुपलब्धि की मान्यता तो दोनो पक्षो मे समान रूप से ही है, अन्तर केवल इतना है, एक उसे प्रमाण कहता है, और दूसरा केवल प्रतीति मात्र।

यहा एक बात और ध्यान देने योग्य है कि प्रत्यक्षज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से ही उत्पन्न होता है, एव अभाव प्रत्यक्ष ज्ञान का ही विषय है, यह माना जाता है, किन्तु वास्तविकता यह है कि अभाव ज्ञान का जनक एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण ही नही है, उसकी प्रतीति प्रत्यक्ष (अनुपलब्धि) अथवा शब्द प्रमाण से भी होती है। अनुमान द्वारा भी अभाव की प्रतीति हो सकती है। फिर भी मीमासक और नैयायिक दोनो ही अभाव को प्रत्यक्षज्ञान का ही विषय मानते हैं, किन्तु इस प्रत्यक्ष के लिए वे प्रत्यक्ष प्रमाण का ही करण नही मानते ।

वेदान्तपरिभाषा के अनुसार भी 'फलीभूत प्रत्यक्षज्ञान का करण प्रत्यक्ष प्रमाण ही हो, यह निश्चित नही है, जैसे 'तुम दसम हो यह प्रत्यक्ष ज्ञान उक्त वाक्य ज्ञान (शब्द प्रमाण) से, जो कि प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न है, उत्पन्न होता है'।[2]

उक्त ग्रन्थ मे ही इस प्रसङ्ग मे एक नोट दिया गया है, जो स्मरणीय है कि 'नैयायिको के प्रमाण केवल भौतिक या स्थूल वस्तु के ही ज्ञान के करण हो पाते है। उनसे केवल वस्तु का या गुणो का (रूप आदि का) ही ज्ञान प्राप्त होता है।' यही कारण है कि न्याय वैशेपिक दर्शन को वस्तुवादी दर्शन कहा जाता है, और इसीलिए अवस्तुवादी दार्शनिको (साख्य और वेदान्तियो) से इनका मतभेद है।' लॉक (Lock) के सिद्धान्त द्वारा इसकी आलोचना अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। उनके अनुसार ज्ञान दो भागो मे विभाजित है. बाह्यवस्तु सम्बन्धी इन्द्रियो से उत्पन्न एव मन द्वारा अन्त. प्रसूत।

---

१ तर्क किरणावली पृ० ८६   २ वेदान्त परिभाषा पृ० २५

बाह्य वस्तु सम्बन्धी प्रथम ज्ञान वह है, जब इन्द्रिया किसी प्रत्यक्ष योग्य वस्तु का साक्षात्कार कर उसका ज्ञान मस्तिष्क तक पहुचाती है, एव मस्तिष्क उस ज्ञान को विविध विशेषताम्रो के अनुसार विभाजित करता है, जिसके फलस्वरूप हम इस निश्चय पर पहुंचते है, कि अमुक वस्तु पीली, स्वेत लाल आदि, उष्ण शीतल कठोर और कोमल आदि है। दूसरे प्रकार का ज्ञान वह है, जो आत्मा और मन के सम्पर्क से स्वय उत्पन्न होता है, वह ज्ञान वस्तु से सम्बद्ध नही होता, जैसे-सोचना सन्देह करना, विश्वास करना, जानना, इच्छा करना इत्यादि। यह मस्तिष्क मे स्वय ही उत्पन्न होता है। इन दोनो ज्ञानो मे मूल अन्तर यह है कि प्रथम मे बाह्य वस्तुए ही एक विचार (Idia) मस्तिष्क मे उत्पन्न करती है, यह अन्य वस्तु सम्बन्धी होता है, स्वगत नही। इसके विपरीत दूसरे मे मस्तिष्क स्वय ही आत्मा को कुछ ज्ञान अर्पित करता है, जिसका सम्बन्ध बाह्य वस्तुओ से न होकर उन अनुभवों से होता है जो मस्तिष्क का प्राप्त हुए होते है।" [1]

लॉक के इन विचारो की उत्तर कालीन दार्शनिक काण्ट (Kant) ने आलोचना की है, और इधर न्याय वैशेपक के सन्निकर्ष सम्बन्धी सिद्धान्तो की वेदान्तियो द्वारा आलाचना की गयी है।

अनुमान

नैयायिक अभिमत द्वितीय प्रमाण अनुमान है, यह यद्यपि प्रत्यक्ष पर आश्रित है, प्रत्यक्ष के अभाव मे इसकी प्रमाणिकता भी सन्दिग्ध हो सकती है, तथापि नैयायिक अनुमान को प्रत्यक्ष से अधिक महत्व प्रदान करते हैं, जिसके फलस्वरूप यह उक्ति प्रसिद्ध हो गयी है कि 'प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध विषय को भी तर्क रसिक नैयायिक अनुमान से सिद्ध करने का प्रयत्न करते है।'[2]

अनुमान परामर्श के द्वारा अनुमिति ज्ञान को उत्पन्न करता है। अतएव अनुमति परामर्श पर आश्रित है, ऐसा भी कह सकते हैं। उचित परामर्श के उत्पन्न होते ही, तत्काल बाद अनुमिति की उत्पत्ति आवश्यक है। इसीलिए

(1) Locke. Essay on Human Understanding Bk II Ch I Sec 3-4

२ तत्व चिन्तामणि भाग २ पृ०-१८

अनुमति के प्रति परामर्श को व्यापार(प्राचीन मत मे) या करण (नव्य मत-में) कहा जाता है ।

न्याय शास्त्र की परम्परा मे परामर्श का महत्व पूर्ण स्थान है, इसीलिए उत्तरवर्त्ती नैयायिको ने अपना अधिकाश समय परामर्श और उसके अंग भूत हेतु या लिङ्ग तथा व्याप्ति के विचार मे लगाया है । हेतु या लिङ्ग उसे कहते हैं, जो साध्य के साथ नियत रूप से रहता हो, और इसी कारण साध्य का साधक हो ।[1] व्याप्ति हेतु तथा साध्य के बीच विद्यमान नियत सहभाव (नियत साहचर्य) को कहते है ।[2]

अनुमान प्रक्रिया मे जिन तीन का विद्यमान रहना अनिवार्यत आवश्यक होता है, वे हैं. हेतु साध्य तथा व्याप्ति अर्थात् इन दोनों का सहभाव । इन मे साध्य तो सदा ही अनुमान से प्राप्त होने वाला फल होगा, क्योकि साध्य को सिद्ध करने के लिए अनुमान का आश्रय लिया जाता है । इसके साथ ही हेतु और साध्य के नियत सम्बन्ध का, जिसे व्याप्ति कहा जाता है, ज्ञान भी अनुमान के लिए अनिवार्यत आवश्यक होता है । इन दोनो पर ही अनुमति ज्ञान आश्रित रहता है ।

अरस्तू (Aristotle) ने न्याय वाक्य (Syllogism) मे दो अग (Premises) माने है, (Major तथा Minor Premises इन दोनो को Middle term द्वारा सम्बद्ध किया जाता है, जो कि दोनो Premises मे सामान्य है । अरस्तू के न्याय वाक्य (Sylogism) का मुख्य दोष यह है कि उसमे Major और Minor Premises को सम्बद्ध करने के लिए कोई तृतीय Premise नही है, जब कि न्याय-शास्त्र मे हेतु और व्याप्ति को एक अन्य वाक्य द्वारा सबद्ध रखा जाता है, जिसके फलस्वरूप इसमे अरस्तू के न्याय वाक्य (Syllogism) की भाति अनुमिति की ओर छलाग नही लगानी पडती । इसमे हेतु और साध्य का पृथक् पृथक् विश्लेषण कर एक तृतीय अवयव से उसका सम्बन्ध प्रदर्शित करते हैं । इस तृतीय Premise को परामर्श करते है । इसके तत्काल बाद ही अनुमिति ज्ञान प्राप्त होता है, अतएव इसे अनुमिति का करण (व्यापार युक्त असाधारण कारण) माना गया है ।

---

१ न्यायदर्शन १ १. ३४. २. तर्क सग्रह पृ० ६१

परामर्शः—

ऊपर की पक्तियो में कहा जा चुका है कि हेतु और व्याप्ति का समन्वय ही परामर्श है, किन्तु यह समन्वय दोनों को एक साथ रखकर अथवा उद्देश्य और विधेय रूप से रखकर नही किया जाता, अपितु वाक्य मे इनकी योजना विशेषण और विशेष्य के रूप मे रखकर की जाती है, अर्थात् अनुमान वाक्य के परामर्श अश में व्याप्ति को विशेषण के रूप मे तथा हेतु को विशेष्य के रूप रखा जाता है। इस प्रकार व्याप्ति रूप विशेषग से विशिष्ट हेतु का ज्ञान ही परामर्श कहा जाता है।

अन्नभट्ट कृत परामर्श का लक्षण इस से कुछ भिन्न है, इनके अनुसार 'व्याप्ति विशेषण मे युक्त पक्षधर्मता का ज्ञान परामर्श कहाता है,'[1] चू कि हेतुता को कुछ विशेष स्थितियो मे पक्षधर्मता कहा जा सकता है तथा केवल हेतुता ज्ञान को ही परामर्श नहीं कहा जा सकता, अत व्याप्तिविशिष्ट तथा पक्षधर्मता विशिष्ट हेतु ज्ञान को परामर्श कहा जा सकता है, वस्तुत हेतु सदा ही व्याप्ति विशिष्ट होता है, तथा एक व्याप्ति वाक्य द्वारा उसे स्पष्ट किया जाता है। अरस्तू के न्याय वाक्य (Syllogism) मे भी Magor Premise द्वारा इसका ही स्पष्टीकरण रहता है, जैसे 'जहा जहा धूम है, वहा वहा अग्नि है; तथा सभी मनुष्य मर्त्य हैं। इन उदाहरणो मे हम धूम और अग्नि का तथा मनुष्यत्व और मर्त्यत्व का नियत साहचर्य देखते हैं, अर्थात् जिस प्रकार 'धूम वह्निव्याप्यत्व विशिष्ट है' उसी प्रकार 'मनुष्यत्व मर्त्यव्याप्यत्व विशिष्ट है, किन्तु इस साध्यव्याप्यत्वविशिष्ट हेतु ज्ञान से साध्य का ज्ञान तब तक नही होता, जब तक पक्ष इस प्रकार के ज्ञान से युक्त है, यह ज्ञान न हो जाए। न्याय के अनुसार इसे ही **पक्षधर्मताज्ञान** तथा अरस्तू के अनुसार Minor Premise कहते है. पक्ष धर्मता का अर्थ है? 'पक्ष में हेतु की विद्यमानता। यह अनुमान के लिए आवश्यक इसलिए है कि व्याप्ति सम्बन्धयुक्त हेतु पक्ष मे साध्य की सत्ता को तब तक सिद्ध न कर सकेगा, जब तक कि पक्ष मे (जहा साध्य को सिद्ध करना है, हेतु स्वय विद्यमान है, यह सिद्ध न हो।

इस प्रकार हम देखते है, कि अरस्तू के Magor तथा Minor Premise दो पृथक् ज्ञान हैं, जिन्हें एक विशेष ज्ञान द्वारा सम्बद्ध किया

---

१. तर्क संग्रह पृ० ६०

जाता है. जिसके फलस्वरूप यह प्रतीति होती है कि हेतु अपने अटल साथी साध्य के साथ एक विशेष स्थल मे विद्यमान है। इसे ही न्याय की भाषा मे 'वह्नि व्याप्यधूमवानय पर्वत, कहा जा सकता है। मुख्य रूप से नैयायिको के अनुमान और अरस्तू के Syllogism मे निम्नलिखित अन्तर है — अरस्तू के Major और Minor Premiscs क्रमश नैयायिको की व्याप्ति एव पक्षधर्मता ज्ञान ही है, किन्तु इनके समन्वय के क्रम मे दोनो मे मत भेद है अरस्तू पहले Major Premise मे हेतु का ज्ञान प्राप्त करते है। तदनन्तर Minor Premise मे व्याप्ति सहित हेतुका दर्शन करते है। इस प्रकार वे सर्व प्रथम व्याप्ति का, एक सामान्य स्थिर सत्यका, दर्शन करते है, तदन्तर उस वास्तविकता के साथ हेतु का ज्ञान प्राप्त करते है। नैयायिक इस क्रम को स्वीकार नही करते। वे सर्व प्रथम पक्ष मे हेतु को सिद्ध कर पुन साध्य के साथ उसके नियत साहचर्य का ज्ञान प्राप्त करते है। इस प्रकार **व्याप्ति पक्षधर्मता परामर्श** अरस्तू तथा **पक्षधर्मता व्याप्ति परामर्श** नैयायिको का स्वीकृत क्रम है। फलत अरस्तू के मत मे **पक्षधर्मताविशिष्टव्याप्तिज्ञान** एव न्याय मत मे **व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान** अनुमति का जनक है। परिणाम स्वरूप अरस्तू के अनुसार न्याय वाक्य का क्रम निम्नलिखित होगा —प्रत्येक मनुष्य मरणधर्मा है, सुकरात एक मनुष्य है, सुकरात मरणधर्मा है। नैयायको की भाषा मे इस न्याय वाक्य का स्वरूप निम्नलिखित होना चाहिए सुकरात मरणधर्मा है, चूंकि वह मनुष्य है और प्रत्येक मनुष्यमरण धर्मा है। इसलिए सुकरात मरणधर्मा है।

यहा हम देखते है कि अरस्तू की प्रक्रिया न्याय शास्त्र की परम्परा से भिन्न है। वे (नैयायिक) फलप्राप्ति के तत्काल पूर्व परामर्श (व्याप्ति एव पक्षधर्मता के नियत सम्बन्ध का ज्ञान) आवश्यक मानते है। उनके अनुसार इसी कारण पूर्व प्रक्रिया प्रशस्त नही है, इसे प्रशस्त बनाने के लिए इसका रूपान्तर निम्नलिखित रूप से किया जाना चाहिए — 'सुकरात मरणधर्मा है (प्रतिज्ञा), क्योकि वह मनुष्य है (हेतु), जो मनुष्य है वे सभी मरण धर्मा हैं, जैसे सिकन्दर (उदाहरण), सुकरात भी इसी प्रकार मरणधर्मत्व के नियत सहचारी मनुष्यत्व से युक्त है (उपनय), इसलिए सुकरात मरण-धर्मा है (निगमन)।' इस प्रक्रिया मे चतुर्थ अवयव (उपनय) परामर्श है, इसके तत्काल बाद ही पक्ष मे साध्य का निश्चय हो जाता है।

पूर्व पक्तियो में हमने अरस्तू तथा न्याय की अनुमान प्रक्रिया के अन्तर को देखा है, यद्यपि यह न्यायशास्त्र के प्रारम्भिक विद्यार्थी के लिए निस्सन्देह सरल नही है, किन्तु इसके ज्ञान के बिना भारतीय न्यायशास्त्र की दार्शनिक प्रक्रिया से पूर्ण परिचय हो सकना भी सभव नही। यहा स्मरणीय है कि न्याय शास्त्र की अनुमान प्रक्रिया परामर्श पर पूर्णत आश्रित है, इसीलिए इस शास्त्र मे परामर्श अत्यन्त महत्व पूर्ण है। साथ ही उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि परामर्श की प्रक्रिया अत्यन्त स्वाभाविक नही है। वह न्यायशास्त्र की अपनी स्वतन्त्र प्रक्रिया पर ही आश्रित है।

अनुमान केशव मिश्र के अनुसार जिससे अनुमिति ज्ञान प्राप्त हो उसे अनुमान कहते है, चूकि अनुमिति के प्रति असाधारण कारण लिङ्ग परामर्श है, अत. लिङ्ग परामर्श ही अनुमान है।[1] लिङ्ग परामर्श के लिए व्याप्ति अर्थात् हेतु और साध्य का नियत साहचर्य तथा पक्षधर्मता अर्थात् पक्ष मे हेतु की विद्यमानता का ज्ञान का होना आवश्यक है।[2] इनमे व्याप्ति के द्वारा साध्यसामान्य हेतुसहचरित है, इस की सिद्धि होती है; जबकि पक्षधर्मता ज्ञान द्वारा पक्ष मे हेतु की सत्ता का ज्ञान होता है, पुनः परामर्श द्वारा अर्थात् साध्य नियत-सहचारी हेतु को पक्ष मे देखकर सहचारी साध्य की प्रतीति होती है। इस प्रकार पक्ष मे साध्य की विद्यमानता सिद्ध होती है।

वात्स्यायन के अनुसार 'जाने हुए हेतु के आधार पर साध्य का ज्ञान अनुमान कहाता है। अर्थात् लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्ध के आधार पर प्रत्यक्ष द्वारा अप्रत्यक्ष का दर्शन करना अनुमान है।[3] अन्नभट्ट के अनुसार 'नियत साहचर्य युक्त हेतु को पक्षधर्म मानने से (परामर्श से) जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अनुमिति है।[4] अनुमिति का उपर्युक्त लक्षण सशयोत्तर प्रत्यक्ष मे भी अतिव्याप्त है, क्योकि किसी दूर स्थित पुरुष को पूर्ण प्रकाश के अभाव मे देखने पर सन्देह होता है कि 'यह स्थाणु है' या 'पुरुष'? इस अवसर पर हाथ, पैर आदि उन अवयवो को जो केवल मनुष्य मे ही होते है, देखकर 'यह पुरुष है' यह निश्चयात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। यहा हाथ पैर आदि का पुरुषत्व के साथ नियत सहचार तथा उनका उस सन्दिग्ध वस्तु (पक्ष) में होना क्रमश· व्याप्ति और पक्षधर्मता ज्ञान है। इस प्रकार उक्त लक्षण की यहा अतिव्याप्ति है। इसके अतिरिक्त

---

१ तर्क भाषा पृ० ७१
२. तर्क सग्रह पृ० ६३
३. वात्स्यायन भाष्य १. १ ३
४ तर्क संग्रह पृ० ६०

अनुमान का उपर्युक्त लक्षण सविकल्पक ज्ञान मे भी अतिव्याप्त है, क्योंकि किसी वस्तु को देखते ही प्रथम वस्तु सामान्य की प्रतीति होती है, तदनन्तर विशेष धर्मों का दर्शन होने पर सविकल्पक ज्ञान होता है, यहा भी पूर्वज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से प्रतीत वस्तु मे नियतसहचारी विशेष धर्म का साक्षात्कार किया जाता है। इस प्रकार यहा भी अनुमिति के लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। यही स्थिति (अतिव्याप्ति की उपस्थिति) उपमान और शब्द मे है, क्योंकि वहा भी प्रत्यक्ष अनुभूत गौ' और शब्द का ज्ञान वाक्य और शाब्द ज्ञान के प्रति कारण है उपमिति और शाब्द ज्ञान मे उपस्थित अतिव्याप्ति को और उसकी अनिवार्यता को देखकर ही बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमिति से भिन्न उपमिति और शाब्द ज्ञान को स्वीकार नही करते। न्यायशास्त्र मे उपर्युक्त अतिव्याप्ति निवारण के साथ ही उपमान आदि की स्वीकृति के लिए अनेक प्रमाण दिये गये है, जिनमे 'मै उपमान द्वारा, शब्द द्वारा ज्ञान प्राप्त करता हू (उपमिनोमि, शब्दत प्रत्येमि) यह प्रतीतिविशेष मुख्य है। संशयोत्तर प्रत्यक्ष मे अतिव्याप्ति निवारण के लिए तर्क दीपिका मे एक हेतु दिया गया है कि 'इनमे परामर्श और पक्षता सम्बद्ध नही है' जबकि अनुमिति ज्ञान के लिए इनका परस्पर सबद्ध होना नितान्त आवश्यक है।

पक्षता: – सामान्य सिद्धान्त के आधार पर विशेष का ज्ञान अनुमिति है। जब हम कहते है कि 'देवदत्त मर्त्य है' तो इसी आधार पर कि मर्त्यत्व और मनुष्यत्व सहचारी धर्म हैं, तथा यह विशेष धर्मी पक्ष है। इसे ही द्रव्य, आधार अथवा स्थान आदि कुछ भी कह सकते है, इस पक्ष विशेष मे विद्यमान धर्म ही पक्षता है। इस धर्म के द्वारा ही 'पक्ष को अन्य पदार्थों से पृथक् किया जाता है, जैसे जब हम पर्वत मे वह्नि के साथ नियत रूप से रहने वाले धूम का साक्षात्कार करते है, तो उस समय वह सामान्य पर्वत से सर्वथा भिन्न हो जाता है।

सामान्य रूप से पक्ष की परिभाषा करते हुए 'साधन करने की इच्छा के अभाव के साथ विद्यमान सिद्धि का अभाव पक्षता है, तथा पक्षता से युक्त पक्ष है' यह कहा गया है।' पक्षता के इस लक्षण मे विशेष्य 'सिद्धि का अभाव' रूप धर्मविशेष है। इस प्रकार यहा प्रकारान्तर से सिद्धि के अभाव

१ (क) न्याय मुक्तावली पृ० ३०६। (ख) तर्क दीपिका पृ० ८६

से युक्त पक्ष है (सिद्ध्यभाववान्पक्ष) यह स्वीकार किया गया है। अब यहा यह विचारणीय है कि 'सिद्ध्यभाववान् पक्ष.' के स्थान पर 'साध्य के अभाव से युक्त पक्ष है,' (साध्याभाववान्पक्ष) ऐसा क्यो नही कहते ? क्योकि पक्ष पर्वत मे अग्नि सिद्ध करते समय 'उसमे साध्य अग्नि का ज्ञान हमें नही है अथवा अग्नि ही सिद्ध नही है' ये दोनो ज्ञान समान प्रतीत होते हैं। वस्तुत दोनो ज्ञान परस्पर अत्यन्त भिन्न है। जिस समय हमे पता है कि पर्वत मे अग्नि है, किन्तु दूसरे को अग्नि का ज्ञान कराने के लिए परार्थानुमान करते हैं, उस स्थिति मे पर्वत मे साध्य (अग्नि) का अभाव नही होता, फिर भी पर्वत पक्ष ही कहा जाता है। अथवा प्रमाणान्तर से ज्ञात वस्तु की अनुमान से सिद्धि करने की इच्छा से अनुमान करने पर पर्वत मे पक्षत्व अव्याप्त होने लगेगा, अत पक्षता की यह विशिष्ट परिभाषा की जाती है कि 'सिद्ध करने की इच्छा के अभाव मे जो सिद्धि का अभाव है, उसे पक्षता कहते है।' इस प्रकार जहा प्रमाणान्तर से सिद्धि तो है, साथ ही सिद्ध करने की इच्छा भी विद्यमान है, वहा सिद्धि साधन करने की इच्छा के अभाव से युक्त अर्थात् सिषाधयिषा विरहविशिष्ट नही है, फलत वहा पक्षता होगी ही। इसके विपरीत सशयोत्तर प्रत्यक्ष मे पक्षता न होगी, क्योकि प्रत्यक्ष द्वारा सशय की निवृत्ति हो जाने पर साधन की इच्छा ही विद्यमान न रहेगी। इस प्रकार प्रत्यक्षोत्तर अनुमान मे यद्यपि सिद्धि विद्यमान है, किन्तु वह साधन करने की इच्छा से युक्त नही है।

पक्षता की उपर्युक्त परिभाषा सर्व प्रथम गगेशोपाध्याय ने 'तत्व चिन्तामणि मे दी थी। किन्तु उन्होने सिद्धि के साथ ही प्रत्यक्ष के अभाव को भी पक्षता कहा था। परवर्ती सभी न्यायग्रन्थो मे प्राय इसे ही स्वीकार किया जाता है। पक्षता की इस सर्वमान्य परिभाषा मे भी एक दोष की सम्भावना है कि एक व्यक्ति घर मे मेघगर्जन को सुनकर आकाश मे बादल का ज्ञान करता है, किन्तु इस ज्ञान मे अनुमिति का लक्षण अव्याप्त है क्योकि गर्जन शब्द सुनने के साथ ही अव्यवहित उत्तरकाल मे उसे मेघ का ज्ञान हो जाता है, इसी कारण उसमे सिद्ध करने की इच्छा नही होती, कारण कि गर्जन शब्द का श्रवण एव मेघज्ञान मे इतना अन्तर नही रहता कि अनुमिति की प्रक्रिया की कल्पना भी की जा सके। प्रस्तुत ज्ञान को प्रत्यक्ष भी नही कहा

---

१. न्यायमुक्तावली पृ० ३०९ २ दिनकरी पृ० ३१६

जा सकता, क्योकि मेघ ज्ञान की उत्पत्ति मे इन्द्रियो और मेघ का सन्निकर्ष नही है। इसीलिए उत्तरवर्त्ती नव्यनैयायिको ने प्राचीन लक्षण को छोड़कर 'जो **अनुमिति का उद्देश्य हो** वह पक्ष है' यह लक्षण स्वीकार किया है।[1] इसके विपरीत विश्वनाथ आदि विद्वानो ने 'अनुमिति का उद्देश्य होना' अथवा 'अनुमिति का प्रयोजन होना, आदि लक्षणो को स्वीकार नही किया है। उनका कहना है कि 'सिद्ध करने की इच्छा रहने पर भी जिस सिद्धि के रहने पर अनुमिति न हो सके उस प्रकार की सिद्धि को विशिष्ट अनुमिति का प्रतिबन्धक मानना चाहिए।'[2] अन्नभट्ट ने भी '**सन्दिग्ध साध्य से युक्तपक्ष** है'[3] यह कहते हुए सन्दिग्ध पद द्वारा सिद्धि का अभाव और **साधन की इच्छा** (सिषाधयिषा) दोनो की ओर सकेत किया है।

पक्षधर्मता :—**परामर्श** मे जिसका ज्ञान किया जाता है, वही **पक्षधर्मता** है। दूसरे शब्दो मे **हेतु** का **पक्ष** मे रहना **पक्षधर्मता** है।[4] यद्यपि पक्ष पर्वत मे वृक्ष आदि अनेक वस्तुए विद्यमान है, किन्तु उन्हे पक्षधर्म न कहकर हेतु धूम को ही पक्षधर्म कहा जायगा। इसीप्रकार अग्नि के सहचारी आलोक आदि अनेक धर्म है, किन्तु उन्हे पक्षधर्म नही कहा जा सकता। साथ ही धूम सामान्य को भी **पक्षधर्म** नही कहा जा सकता, किन्तु जिस पक्ष (पर्वत शिखर आदि) मे हम वह्नि की सिद्धि करना चाहते है, उस पर विद्यमान अविच्छिन्नमूल धूम **पक्षधर्म** कहा जाता है, यद्यपि धूममात्र वह्निव्याप्य है। उसका कारण यह है कि केवल अविच्छिन्नमूलधूम विशेष ही अग्नि ज्ञान के प्रति कारण है। तात्पर्य यह है कि जिसके ज्ञान से पक्ष मे साध्य की सिद्धि हो, वही पक्षधर्म होगा, क्योकि **पक्षधर्मता** के ज्ञान को **परामर्श** एव **परामर्श** से उत्पन्न ज्ञान को **अनुमिति** कहा जाता है। इस प्रकार पक्ष मे रहनेवाले धर्म विशेष को ही **पक्षधर्म** कहते है। इसे ही नैयायिक भाषा मे 'साधन करने की इच्छा के अभाव से युक्त सिद्धि का अभाव जिसमे है, उसके पर्वतत्व आदि धर्म से युक्त पक्षमे धूम इत्यादि का होना **पक्षधर्मता** कहाता है। (सिषाधयिषा विरह विशिष्टसिद्ध्यभावरूपा या पक्षता, तस्या अवच्छेदक यत्पर्वतत्व तेनावच्छिन्नो विषयो यस्य स धूम तस्य भाव पक्षधर्मता)। नीलकण्ठ आदि

---

१. न्यायबोधिनी पृ० ४३   २ न्याय मुक्तावली पृ० ३११
३. तर्क सग्रह पृ० १०५   ४. वही पृ० ६२

के अनुसार इस **पक्षधर्मता** ज्ञान के साथ **व्याप्तिज्ञान** होने पर ही परामर्श होगा, एव अनुमिति हो सकेगी। इसीलिए वे 'व्याप्ति विशिष्ट **पक्षधर्मता के** ज्ञानको ही परामर्श मानते है,'[1] जैसे वह्नि से नियत सहचरित धूम से युक्त यह पर्वत है' इस ज्ञान को परामर्श कहेगे इसके बाद ही 'पर्वत वह्नि से युक्त है' इस अनुमिति ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

व्याप्ति :—व्याप्ति (Invariable Concomitent) की परिभाषा जितनी आवश्यक है, उतनी कठिन भी है। सामान्य शब्दो मे **साहचर्य नियम को व्याप्ति कहते है**, जैसे जहा जहा धूम है, वहा वहा अग्नि है। यहा साहचर्य का तात्पर्य हेतु एव साध्य का नियम पूर्वक एक साथ रहना है। यौगिक अर्थ के अनुसार **व्याप्ति** का अर्थ है **व्याप्य-व्यापक भाव**। इनमे **व्यापक** अधिक देश मे रहने वाले को तथा **व्याप्य** अल्पदेश मे रहने वाले को कहते है। जहा दोनो धर्म समान देश मे रहते है, वहा दोनो ही व्याप्य **और** व्यापक हो सकते है। इस प्रकार की व्याप्ति को समव्याप्ति कहते है, किन्तु समव्याप्ति के उदाहरण बहुत कम प्राप्त होते **है**। इस समव्याप्ति के **अवसर** पर हेतु और साध्य मे व्याप्य और व्यापक के लक्षण घटित नही होते, इसलिए व्याप्ति मे व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध के स्थान पर साहचर्य सम्बन्ध को लक्षण मानना अधिक उचित है। इसीलिए अन्नंभट्ट आदि विद्वानों ने व्याप्ति का लक्षण करते हुए 'साहचर्य नियम को ही व्याप्ति कहा है।'[2] इस साहचर्य नियम की व्याख्या करते हुए तर्कदीपिका मे कहा गया है कि 'जहा जहा हेतु विद्यमान है, वहा वहा विद्यमान अत्यन्ताभाव का जो कभी प्रतियोगी न हो सके, ऐसे साध्य का समानाधिकरण होना ही **व्याप्ति** है,'[3] जैसे 'पर्वत वह्नि युक्त है, क्योकि वह धूम युक्त है, इस अनुमान में हेतु धूम के साथ समानाधिकरण रूप से रहनेवाला अत्यन्ताभाव घट का अत्यन्ताभाव है, उस वह्नि का समानाधिकरणत्व धूम मे है, इस प्रकार धूम और वह्नि को समानाधिकरण कहा जाएगा।

नील कण्ठ के अनुसार **व्याप्ति हेतु** का वह धर्म है, जो साध्य (वह्नि) के साथ रहता है, यह साध्य अर्थात् वह्नि, वह्नि के अवच्छेदक धर्म **वह्नित्व**

---

१. तर्क दीपिका प्रकाश पृ० २५५। २ तर्क सग्रह पृ० ६१

३. तर्क दीपिका पृ० ६२

से अवच्छिन्न (युक्त) होता है, इसीलिए साध्य कहाता है। यह अवच्छेदक धर्म हेतु के साथ एक अधिकरण में विद्यमान अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी मे रहने वाला न होना चाहिए।[1] इस सम्पूर्ण प्रपञ्चात्मक भाषा का निष्कर्ष केवल यह है कि '**व्याप्यव्यापकभावसम्बन्ध ही व्याप्ति**' है। विश्वनाथ ने व्याप्तिके दो लक्षण दिये है साध्य युक्त से भिन्न स्थल मे जो सम्बन्ध न रहे वह **व्याप्ति** है.। यह लक्षण **केवलान्वयिहेतु** मे अव्याप्त है, क्योकि वहा साध्य युक्त से भिन्न पदार्थ का मिलना सम्भव नही है, अत उन्होने दूसरा लक्षण दिया है कि 'हेतु से युक्त अर्थात् पक्ष मे विद्यमान अत्यन्ताभाव का जो प्रतियोगी न हो सके, ऐसे साध्य का हेतु के साथ रहना व्याप्ति है।[2] विश्वनाथ के समकालीन शकरमिश्र ने भी व्याप्ति के इस लक्षण को ही शब्दान्तर से स्वीकार किया है[3], सरलता की दृष्टि से उन्होंने एक अन्य लक्षण भी किया है कि अनौपधिक सम्बन्ध ही व्याप्ति है।[4]

व्याप्ति के सामान्य रूप मे दो भेद हो सकते है **अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति**। अन्वयव्याप्ति समान्यत प्रदर्शित नियत साहचर्य है। इसके पुन दो भेद किये जाते है **पूर्वपक्षीयव्याप्ति और सिद्धान्तव्याप्ति**। इन दोनो के अनेक लक्षण किये गये है, किन्तु दोनो ही दुरूह है। इनमे सिद्धान्तव्याप्ति तुलनात्मक दृष्टि मे कुछ सरल है। इनकी लक्षण परम्परा मे भारतीय न्याय-शास्त्र के इक्कीस सम्प्रदाय हो गये है, रघुनाथ और गदाधर के सम्प्रदाय इन मे मुख्य है। इनमे भी परस्पर साम्य आदि की दृष्टि से पाच सम्प्रदायो के समूह को **पञ्चलक्षणी**, चौदह सम्प्रदायो के एक समूह को **चतुर्दशलक्षणी**, शेष दो मे से एक का **सिंहलक्षण** तथा द्वितीय को **व्याघ्रलक्षण** कहते है। ये सभी न्याय के प्रारम्भिक विद्यार्थी की बुद्धि से परे है, साथ ही अनावश्यक भी। इन सभी व्याप्ति लक्षणो मे **नियतसाहचर्य** विद्यमान है, अत नियत साहचर्य ही **व्याप्ति** है, ऐसा समझना चाहिए।

दूसरी व्याप्ति **व्यतिरेकव्याप्ति** है, इसका क्रम **अन्वयव्याप्ति** से ठीक विपरीत है, किन्तु दोनो का अर्थ एक ही है, जैसे 'जहा जहा धूम है वहा वहा अग्नि है, यह **अन्वयव्याप्ति** है, और जहा जहा अग्नि नही है वहा वहा धूम

१ तर्कदीपिकाप्रकाश पृ० २५८ २ भाषापरिच्छेद पृ० ६८-६९
३, उपस्कार भाष्य पृ० ९२ ४ वही पृ० ९२

भी नहीं है, यह व्यतिरेक व्याप्ति है। यहा दोनो का इतना ही अर्थ है कि धूम और अग्नि नियत सहचारी हैं। आचार्य उदयन के अनुसार 'साध्य जहा जहा नहीं है, वहा वहा व्यापक रूप से रहने वाले अभाव के प्रतियोगियो का नियत साहचर्य होना व्यतिरेकव्याप्ति है।' भाषापरिच्छेदकार विश्वनाथ के अनुसार 'हेत्वभाव स्थल मे साध्याभाव को व्यापक देखकर नियत सहचरित अभाव व्यतिरेक व्याप्ति है। व्यतिरेकव्याप्ति के सम्बन्ध मे यदि यह कहा जाय कि 'यह अन्वय व्याप्ति का ही भाषा की दृष्टि परिवर्तित रूप है, तो अनुचित न होगा।

प्रो० बेन (Bain) के अनुसार भी व्याप्ति के दो भेद हो सकते है अन्वय (Obverted) तथा व्यतिरेक (Conversion या Contraposition) व्याप्ति। जैसे All x is y को by conversion : No 'X' is not 'Y' (इसे सामान्यरूप से यो कह सकते है कि is = No, not) y is x अथवा All man is mortal, को by obversion . No man is immortal, तथा by conversion : No immortals are man कहा जायगा। इस ढाचे मे भारतीय उदाहरण 'जहा जहा धूम है, वहा वहा अग्नि है,' इस प्रकार रखा जा सकता है (by obversion) जहा जहा धूम है, वहा वहा अग्नि का अभाव नही है; तथा जहा जहा वह्नि नही है, वहा वहा धूम का अभाव है।" (by conversion) इस प्रकार हम देखते है कि व्यतिरेक व्याप्ति अन्वय व्याप्ति का ही प्रकारान्तर से पुनर्वचन है। इससे अनुमिति मे कोई अन्तर नही आता। कुछ स्थानो मे जहा अन्वयव्याप्ति पूर्ण स्पष्ट नही होती, अर्थात् अत्यन्त व्यापक पक्ष होने मे जहा उदाहरण नही मिल पाता, वहा व्यतिरेकव्याप्ति ही अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होती है। व्याप्ति के सामान्यत भेदोपभेद निम्नलिखित है -

व्याप्ति

- अन्वय व्याप्ति
  - पूर्वपक्षीय व्याप्ति
    - पञ्चलक्षणी (५ सम्प्रदाय)
    - चतुर्दशलक्षणी (१४ सम्प्रदाय)
  - सिद्धान्त व्याप्ति
    - सिहलक्षण (१ भेद)
    - व्याघ्र लक्षण (१ भेद)
- व्यतिरेक व्याप्ति

(इस प्रकार पूर्व पक्षीय व्याप्ति के सम्बन्ध मे न्याय मे इक्कीस सम्प्रदाय प्रचलित हैं।)

न्यायशास्त्र की प्राचीन परम्परा मे अनुमान के तीन भेद स्वीकार किये गये हैं : पूर्ववत्, शेषवत् एव सामान्यतोदृष्ट।[1] वाचस्पति मिश्र के समय तक साख्य सम्प्रदाय में भी अनुमान के यही तीन भेद स्वीकृत किये जाते थे।[2] यद्यपि उन्होने इन तीनो ही भेदो को **वीत** और **अवीत** दा भेदो के अन्दर समाहित करने का प्रयत्न किया था। बौद्ध दर्शन और नव्यन्याय की परम्परा मे अनुमान के दो भेद स्वीकार किये गये है **स्वार्थानुमान** और **परार्थानुमान**। अनुमान का यह विभाजन पूर्व विभाजन के अनुसार हेतु के अथवा व्याप्ति के किसी वैशिष्टय के आधार पर नही है, अपितु वाक्य योजना अथवा 'व्यूह रचना' को ध्यान मे रखकर किया गया है। स्वार्थानुमान चू कि स्वयं प्रतिपत्ता अपने ज्ञान के लिए करता है, इसलिए सम्पूर्ण प्रक्रिया समान होते हुए भी उस मे *वाक्य योजना को स्थान नहीं होता। जबकि परार्थानुमान* में प्रतिपत्ता को पक्षमे साध्य के सम्बन्ध मे थोडा भी सन्देह नही हुआ करता अपितु वह स्वयं निश्चय पर पहुच कर दूसरे के ज्ञान के लिए अनुमान का आश्रय लेता है।[3] उत्तरकालीन न्यायशास्त्र की परम्परा मे अनुमान के ये दो ही भेद स्वीकार किये जाते है। **स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। स्वार्थानुमान वह है** जहा प्रमाता को महानस आदि मे धूम और अग्नि का नियत साहचर्य देखकर दोनो के नियत सम्बन्ध को निर्धारित करने के अनन्तर पर्वत मे धूम का दर्शन करने पर प्रथम सन्देह होता है, एव पुन अग्नि और धूम के साहचर्य को स्मरण कर उसे व्याप्ति का स्मरण होना है कि जहा जहा धूम है वहा वहा अग्नि है, तदनन्तर 'यह पर्वत अग्नि वाला है' यह अनुमान होता है, इसे स्वार्थानुमान कहते है।

जब स्वय धूम से अग्नि का निश्चय कर किसी दूसरे को विश्वास दिलाने के लिए पांच अवयवो से युक्त वाक्य का प्रयोग किया जाता है, तो उसे **परार्थ अनुमान** कहते हैं। वह वाक्य इस प्रकार हो सकता है . पर्वत अग्नि युक्त है जैसे रसोई घर, उसी प्रकार अग्नि के साथ नियत रूप से रहनेवाला

१. न्यायदर्शन १ १ ५ २ साख्यतत्वकौमुदी पृ० २१
३ तर्क संग्रह पृ० ६५.

धूम इस पर्वत में है, अत. पर्वत पर अग्नि है। इस प्रकार की वाक्य योजना से हेतु के द्वारा अन्य व्यक्ति भी पर्वत मे अग्नि को जान लेता है। इसलिए इसे परार्थानुमान कहते है।

स्वार्थानुमान और परार्थानुमान के रूप मे अनुमान का विभाजन गौतम अथवा कणाद के सूत्रो मे नही मिलता। सर्व प्रथम हम इसे प्रशस्तपाद भाष्य मे प्राप्त करते है। यद्यपि उन्होने भी स्वार्थानुमान का शब्दत कथन नही किया है, किन्तु परार्थानुमान के नाम और लक्षण को देखकर यह कहा जा सकता है कि वे दोनो को ही मानते है।[1] व्युत्पत्ति के अनुसार जिस अनुमान का प्रयोग निज ज्ञान के लिए किया जाए, वह स्वार्थानुमान है (स्वस्य अर्थ प्रयोजन यस्मात् तत् स्वार्थानुमानम्)। इसी प्रकार जिसका प्रयोग दूसरे के लिए किया जाए उसे परार्थानुमान कहते है (परस्यार्थ प्रयोजन यस्मात्त-त्परार्थानुमानम्)। दूसरे शब्दो मे इन्हे प्राथमिक एव द्वितीय अथवा परम्परा-रहित एव परम्परायुक्त कह सकते है। स्वार्थानुमान मे वाक्यो की परम्परा नही रहती, वह केवल ज्ञानात्मक होता है, जबकि परार्थानुमान मे व्यवस्थित भाषा का, सुगठित वाक्य परम्परा का प्रयोग किया जाता है, तथा प्रयुक्त भाषा को प्रत्येक दोष से रहित करने के लिए निश्चित वाक्य परम्परा का ही प्रयोग किया जाता है। गोवर्धन पडित के अनुसार 'जिस अनुमान के लिए न्याय अर्थात् पाच अवयवो से युक्त वाक्य का प्रयोग किया जाए, वह परार्था-नुमान है, और जहा 'न्याय' का प्रयोग नही है, वह स्वार्थानुमान है।[2] न्यायबिन्दु के टीकाकार श्री धर्मोत्तराचार्य के अनुसार परार्थानुमान शब्दात्मक एव स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक होता है।[3] आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार पाच अवयवो से युक्त वाक्य के द्वारा स्वय निश्चित अर्थ का प्रतिपादन परार्थ अनुमान कहाता है।[4]

अनुमिति का लक्षण पूर्णतया स्वार्थानुमान मे ही घटित होता है, परार्था-नुमान मे नही। कारण यह है कि अनुमिति का करण चाहे व्याप्तिज्ञान माने, या लिङ्गज्ञान, अथवा परामर्शज्ञान, ये तीनो ही ज्ञानात्मक है, एव ज्ञानात्मक स्वार्थानुमान को ही उत्पन्न करने मे समर्थ है। परार्थानुमान

---

१. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ११३ २ न्यायबोधिनी पृ० ३८
३ न्याय बिन्दु टीका पृ० २१ ४. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ११३

चूंकि शब्दात्मक है, अतः इसे शब्द प्रमाण के अन्तर्गत होना चाहिए, किन्तु सुविधा की दृष्टि से इसे अनुमान मे ही रखा गया है। इसे अनुमान के अन्तर्गत रखने का कारण यह भी है कि अनुमान की प्रक्रिया तो दोनो ही भेदो मे मानस मे समान रूप से होती है। क्योकि परार्थानुमान मे भी अनुमिति परार्थ नही होती, परार्थ तो होता है केवल शब्द प्रयोग, जिसके फलस्वरूप श्रोता के मस्तिष्क मे ही परामर्श एव अनुमिति उत्पन्न होती है, एव उसके मस्तिष्क मे उत्पन्न वह अनुमिति स्वार्थ ही है, परार्थ नही, फिर भी इसे परार्थानुमान इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसमे प्रयुक्त पचावयव-वाक्य परार्थ ही होता है। इसप्रकार परार्थानुमान शब्द मे परार्थ पद का प्रयोग औपचारिक है, यह स्वीकार किया जा सकता है। अथवा तर्कदीपिका-प्रकाशकार नीलकण्ठ के अनुसार कहा जा सकता है कि इस अनुमिति के कारणभूत पञ्चावयववाक्य को ही औपचारिक रूप से परार्थानुमान कह लिया गया है। इन का विचार है कि इसमे चूकि परामर्श परार्थ होता है, अत इसे परार्थानुमान कहा जाता है। उनका कहना है कि 'साध्य अनुमिति रूप प्रयोजन दूसरे का है जिससे' (परस्य मध्यस्थस्यार्थ प्रयोजन साध्यानुमितिरूप यस्मात्) इस व्युत्पत्ति के अनुसार दूसरे मे उत्पन्न अनुमिति मे करण होने से लिङ्ग परामर्श का परार्थानुमान कहते है, यही कारण है कि तर्क सग्रह मे 'स्वार्थानुमिति और परार्थानुमिति मे लिङ्गपरामर्श ही करण है' यह कहा गया है। फिर भी परार्थ अनुमान के कारणभूत पञ्चावयव वाक्य के लिए परार्थानुमान शब्द का औपचारिक प्रयोग है।"[१]

इस प्रकार हम देखते है कि स्वार्थानुमान और परार्थानुमान क्रमश, ज्ञानात्मक और शब्दात्मक होने के कारण भिन्न प्रतीत होते हुए भी वास्तविक रूप से दोनो ही अभिन्न है। क्योकि किसी भी ज्ञान को शब्दो का चोला पहनाया जा सकता है, तथा शब्दो द्वारा प्रतिपादित होना ज्ञान के लिए अस्वाभाविक भी नही है। इस प्रकार दोनो मे भेद प्रतीति बाह्य है, वास्तविक नहीं।

स्वार्थानुमान की प्रक्रिया और अनुमान के क्रम को अन्नमट्ट ने तर्क सग्रह मे अत्यन्त स्पष्टता से, साथ ही उचित रूप से प्रदर्शित किया हैं। उनके अनुसार अनुमाता को सर्व प्रथम पर्वत पर धूम का दर्शन होता है,

१. तर्कदीपिकाप्रकाश पृ० २६५-६८

तदनन्तर उसे वहा अग्नि होने का सन्देह होता है, उसके अनन्तर उसे व्याप्ति अर्थात् धूम और अग्नि के नियत साहचर्य का स्मरण होता है, तत्पश्चात् पक्षधर्मता ज्ञान एव व्याप्ति ज्ञान के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान होता है, इस सयुक्त ज्ञान को ही परामर्श कहते हैं । इसको ही लिङ्ग परामर्श अथवा तृतीय परामर्श भी कहा जाता है । इस परामर्श को लिङ्ग परामर्श कहने का कारण यह है कि यह ज्ञान व्याप्ति ज्ञान के बल से लीन अर्थ का बोध कराता है।[1] इसे तृतीय परामर्श इसलिए कहा जाता है कि प्रथम रसोई घर मे धूम और अग्नि के साहचर्य का दर्शन होता है, पुन: अन्य (द्वितीय) समय पर्वत मे धूम का दर्शन होता है, तथा अन्त मे अग्नि सहचरित धूम का ज्ञान होता है, इस प्रकार अनुमान के प्रसग मे ज्ञान की प्रक्रिया के क्रम मे तृतीय स्थान होने से इस ज्ञान को तृतीय परामर्श कहा जाता है । इस परामर्श के अनन्तर अनिवार्य रूप मे स्वार्थानुमिति का जन्म होता है । जब यही प्रक्रिया पाच अवयवो वाले वाक्य से सम्बद्ध कर दी जाती है, तब उसे परार्थानुमान किह लिया जाता है ।

पूर्व पृष्ठो मे चर्चा हो चुकी है कि गौतम ने अनुमान के तीन भेद स्वीकार किये थे **पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट** ।[2] इनमे **पूर्ववत्** अनुमान वह है, जहा कारण को देखकर कार्य का अनुमान किया जाए । जैसे वर्षोन्मुख मेघ को देखकर भाविवृष्टि का अनुमान करना । **शेषवत्** अनुमान वह है, जहा कार्य को देखकर कारण का अनुमान किया जाए । जैसे नदी मे बाढ को देखकर पर्वत पर वृष्टि का अनुमान करना । **सामान्यतोदृष्ट** अनुमान वह है, जहा पूर्वोक्त दोनो से भिन्न सादृश्य ज्ञान द्वारा अप्रत्यक्ष का ज्ञान किया जाए । जैसे मनुष्य एक स्थान से अन्य स्थान पर गति होने पर ही पहुच पाता है, एक मनुष्य को एक स्थान पर देखकर कालान्तर मे उसी को देशान्तर मे देखकर उसमे गति का अनुमान करना ।[3]

न्याय भाष्यकार वात्स्यायन ने उपर्युक्त तीनो पदो के भिन्न अर्थ किये हैं । उनके अनुसार पूर्व अनुभव के समान अन्वयव्याप्ति के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति **पूर्ववत्** अनुमान है । जैसे —धूम से वह्नि का अनुमान करना । शेष

---

१ तर्क सग्रह पृ० ९३   २ न्यायदर्शन १. १. ५.

३. न्यायदर्शन विश्वनाथवृत्ति पृ० ७

के समान अर्थात् जो शेष रह जाए उसे ही रख लेना शेषवत् अनुमान है। जैसे शब्द क्या है ? द्रव्य गुण या कर्म ? द्रव्य गुणो के आश्रय होते हैं, किन्तु शब्द निर्गुण है, अत वह द्रव्य नही हो सकता। द्रव्य किसी अन्य द्रव्य पर आश्रित नही होता, जबकि शब्द आकाश नामक द्रव्य पर आश्रित है, अत. वह द्रव्य नही हो सकता। शब्द कर्म भी नही हो सकता, क्योकि कर्म अन्य कर्म का हेतु नही होता, जबकि शब्द अन्य शब्द का उत्पादक है। फलत सत्तावान् शब्द द्रव्य और कर्म से भिन्न होने के कारण गुण है। जहा प्रत्यक्ष लिङ्ग लिङ्गी का सम्बन्ध होने पर किसी अर्थ से लिङ्ग की समानता देखकर अप्रत्यक्ष लिङ्गी का ज्ञान किया जाए, अर्थात् सामान्य ज्ञान से व्याप्ति के बल से सम्बन्ध की स्थापना करते हुए लिङ्ग से लिङ्गी का ज्ञान प्राप्त किया जाए वह **सामान्यतोदृष्ट** अनुमान है, जैसे इच्छा आदि से आत्मा का अनुमान।[1]

वाचस्पति मिश्र ने तत्वकौमुदी मे अनुमान के प्रथम दो विभाग किये हैं **वीत** और **अवीत**। उनके अनुसार अन्वय मुख से प्रवृत्त होने वाला अनुमान **वीत** तथा व्यतिरेक मुख से प्रवर्त्तमान **अवीत** कहाता है। वीत भी पुन दो प्रकार का है पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट। उनके अनुसार 'जिसका विशिष्ट या वैयक्तिक रूप पहले प्रत्यक्ष हो चुका है, ऐसा सामान्य जिस अनुमान का विषय हो वह पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है। जैसे धूम द्वारा वह्नि का पर्वत मे अनुमान करना, यहा वह्नित्व सामान्य का ज्ञान पहले हो चुका है। सामान्यतोदृष्ट वीत अनुमान उस ज्ञान को कहते है, जिसका विषय सामान्य से विशिष्ट वह वस्तु हो जिसका अपना विशिष्ट रूप प्रत्यक्ष होता है। जैसे इन्द्रिय विषय का अनुमान।[2]

इस प्रकार उत्तर कालीन आचार्यो ने अनुमान का विभाजन निम्नलिखित रूप मे किया है -

अनुमान

स्वार्थानुमान   परार्थानुमान

---

१ वात्स्यायनभाष्य पृ० १४-१५   २. साख्यतत्वकौमुदी पृ० २१-२३.

गौतम के मत मे —

- अनुमान
  - पूर्ववत्
  - शेषवत्
  - सामान्यतोदृष्ट

वाचस्पति मिश्र के मत मे —

- अनुमान
  - वीत
    - पूर्ववत्
    - सामान्यतोदृष्ट
  - अवीत (शेषवत्)

अनुमान का उपर्युक्त विभाजन अनुमिति के आधार पर किया गया है। हेतु के आधार पर भी अनुमान का विभाजन किया जाता है, इस विभाजन के अनुसार अनुमान तीन प्रकार का है अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि, एव केवलव्यतिरेकि । जहा अन्वयी और व्यतिरेकी दोनो प्रकार के हेतुओ को आश्रय मानकर अनुमान किया जाये, उसे अन्वयव्यतिरेकि अनुमान कहते है । ऐसे अनुमान मे अन्वय और व्यतिरेक दोनो प्रकार की व्याप्ति होगी तथा दोनो ही प्रकार के उदाहरण उपलब्ध होते है । जैसे . गन्धवत्व के आधार पर पृथिवी को अन्य द्रव्यो से पृथक् करना। चूकि जो भी पदार्थ गन्ध युक्त है, वे सभी पृथिवी हैं तथा जहा गन्ध नही है वहा वहा पृथिवीत्व नहीं है, जैसे · घट घृत आदि पदार्थों मे गन्ध है तो यहां पृथिवीत्व भी है, और जल मे गन्ध नही है तो वहा पृथिवीत्व भी नही है। जहा अन्वयी हेतु का प्रयोग किया गया हो अर्थात् जिसकी केवल अन्वयव्याप्ति ही उपलब्ध हो, और उदाहरण भी केवल अन्वयी ही हो वह केवलान्वयि अनुमान है । इसीप्रकार जहां व्यतिरेकी हेतु का प्रयोग किया गया हो, अर्थात् जिस की केवल व्यतिरेक व्याप्ति ही उपलब्ध हो एव उदाहरण भी व्यतिरेकी ही हो, अन्वय उदाहरण सुलभ न हों, वह व्यतिरेकि अनुमान है ।

अनुमान

अन्वयव्यतिरेकि	केवलान्वयि	केवलव्यतिरेकि

आचार्य प्रशस्तपाद ने अनुमान के सर्वप्रथम **स्वार्थ** और **परार्थ** दो भेद करते हुए स्वार्थानुमान के पुन दो भेद स्वीकार किये है **दृष्ट** और **सामान्यतो दृष्ट**। इनमे से पहले से देखी हुई वस्तुगत किसी विशेषता के आधार पर वस्तु का ज्ञान करना **दृष्ट** अनुमान है। जैसे सास्ना द्वारा गौ का ज्ञान करना। पूर्वदृष्ट से भिन्न का समानता के आधार पर ज्ञान प्राप्त करना **सामान्यतोदृष्ट** अनुमान है। जैसे निर्जीव पदार्थों मे कारणता का ज्ञान करना।[1] चूँकि इस विभाजन के अनुसार स्वीकार किये गये **दृष्ट** के सभी भेद समस्त नैयायिको द्वारा स्वीकृत सविकल्पक प्रत्यक्ष अथवा स्मरण के अन्तर्गत समाहित हो जाते है, अत इस विभाजन को उचित नही माना जा सकता।

न्याय शास्त्र की उस अनुमान प्रक्रिया को जहा विशेष उदाहरणो मे धूम और वह्नि का साहचर्य देखकर सामान्य निर्णय पर पहुचा जाता है, अरस्तू के Deductive Reasoning के समान्तर माना जा सकता है। किन्तु जैसा कि बेकन (Bacon) ने अरस्तू की आलोचना करते हुए लिखा है किसी विशेष उदाहरण के आधार पर सामान्य सिद्धान्त निर्धारित कर लेना अधिक उचित नही माना जा सकता। चूकि कोई भी द्रष्टा समस्त भूमण्डल गत अग्नि और धूम का साक्षात्कार करले यह सभव नही है, केवल कुछ स्थानो पर ही वह साहचर्य का दर्शन कर सकता है। इस प्रकार समस्त धूम और समस्त अग्नि का साहचर्य देखे बिना सामान्य नियम निर्धारित नही किया जा सकता, और यदि समस्त धूम और अग्नि का साक्षात्कार हो चुका हो तो अनुमान की आवश्यकता ही नही रह जाती। यदि कार्यकारणभाव के आधार पर साहचर्य सिद्ध करना चाहे तो वहा भी यही बात लागू होती है कि समस्त कारण और कार्यों का सहभाव भी सर्वथा अदृष्ट है। इस प्रकार विशेष नियम से विशेष का ही निश्चय हो सकता है, सामान्य नियम का निर्धारण नही। सम्भवत. इसीलिए अरस्तू ने, जैसा कि उनकी कृतियो का सूक्ष्मनिरीक्षण करने पर पता चलता है, सामान्य ज्ञान से विशेष ज्ञान तक पहुचने की परम्परा (Inductive

१ प्रशस्त पाद भाष्य पृ० १०४-१०५

Reasoning)को अस्वीकार नहीं किया है अथवा उसकी उपेक्षा नहीं की है, इतना अवश्य है कि इस प्रणाली की अपेक्षा विशेष से सामान्य तक पहुंचने के क्रम को Deductive Reasoning को अधिक महत्व प्रदान किया है।

नैयायिको ने भी इसी भांति सामान्य से विशेष की प्रक्रिया को (Inductive Reasoning) को अस्वीकार नही किया है, यह बात दूसरी है कि उन्होंने इसे मुख्यत अनुमान न मान कर अनुमान का सहायक माना है। व्याप्ति ग्रहण के उपरान्त पक्ष मे साध्य की सिद्धि यद्यपि सामान्य से विशेष को ही प्राप्त करना है, किन्तु उदाहरण से, जो कि विशेष है, सामान्य व्याप्ति का ज्ञान प्राप्त करना विशेष से सामान्य पर पहुचना ही है। इन दोनो ही प्रणालियो की न्यायमत मे पूर्ण उपयोगिता की परीक्षा करने के लिए हमे सर्व प्रथम यह देखना चाहिए कि न्यायमत मे व्याप्ति ग्रहण की क्या प्रक्रिया है ?

व्याप्ति - व्याप्ति का परिचय पहले दिया जा चुका है वहा व्याप्ति को **नियतसाहचर्य का ज्ञान** माना गया है।[1] किन्तु यह नियत साहचर्य क्या है ? इसे प्राप्त करने के साधन क्या है ? स्वार्थानुमान पर विचार करते हुए अन्न-भट्ट ने कहा है कि बार-बार धूम और अग्नि को एक साथ देखने पर हम इनके नियतसाहचर्य का ज्ञान करते है।[3] किन्तु केवल धूम और अग्नि का बारम्बार साहचर्य दर्शन ही व्याप्ति ग्रहण मे कारण नही हो सकता, क्योकि जैसा हम ऊपर की पक्तियो मे लिख चुके है धूम और अग्नि के प्रत्येक स्थल को देख सकना सम्भव नही है, एव कुछ को देखकर तथा कुछ स्थलो मे साहचर्य देख-कर यह साहचर्य शत प्रतिशत नियत है, नही कहा जा सकता। एतदर्थ हम परीक्षा करना चाहेगे, किन्तु वह परीक्षण विशेषस्थलो मे ही सभव होगा, सामान्य स्थलो मे नही, किन्तु व्याप्ति का फल सामान्य होगा। इसीलिए तर्क-दीपिकाकार ने लिखा है कि केवल हेतु और साध्य का सहभाव दर्शन ही व्याप्ति-ग्रह के लिए पर्याप्त कारण नही है, किन्तु व्यभिचार का अभाव भी होना चाहिए।[3] हम किसी भी स्थल पर अग्नि के बिना धूम को नही पाते, इसी आधार पर हम अग्नि के हेतु धूम का नियत साहचर्य स्वीकार करते हैं। किन्तु इस क्रम और Inductive Reasoning मे अन्तर है। यहा दोनो को अर्थात् **साहचर्य एव व्यभिचार के अभाव** को समान रूप से दो कारणो के रूप में

१. इसी पुस्तक के पृष्ठ १८३-८४ देखिये।

२. तर्क सग्रह पृ० ६३ ३. तर्क दीपिका पृ० ६३

स्वीकार नही किया जाता। किन्तु दोनो के सम्मिलित रूप को अर्थात् दोनों के विशेषणविशेष्यभाव से सम्बद्ध होने पर ही उन्हे व्याप्ति के प्रति कारण माना जाता है।

व्यभिचार— प्रस्तुत प्रसग में व्यभिचार का तात्पर्य विरुद्ध तथ्यो की सत्यता का निश्चय अथवा सन्देह है। यह **निश्चयात्मक** एव **सन्देहात्मक** भेद से दो प्रकार का है। दोनो प्रकार का व्यभिचार ज्ञान व्याप्तिग्रह में बाधक है। निश्चात्मक व्यभिचार दो प्रकार का हो सकता है **यथार्थ ज्ञान पर आधारित** एव **अयथार्थ ज्ञान पर आधारित**। यदि व्यभिचार ज्ञान यथार्थ ज्ञान पर आधारित है, तो व्याप्ति प्रमाण योग्य नही हो सकती। यदि यह व्यभिचारज्ञान अयथार्थज्ञान पर आधारित है, अथवा सशय रूप है तो इसे उचित समाधान द्वारा दूर किया जा सकता है। यदि व्यभिचार के निराकरण के लिए जो समाधान अपनाए गये है, वे ज्यामिति के सूत्र की भाति पूर्ण सत्य और स्वत प्रमाण नही है, तो तर्क का आश्रय लेना आवश्यक होगा। उदाहरण के रूप मे हम जहा जहा धूम है वहा वहा अग्नि है, इस व्याप्ति को ले : यदि इसमे व्यभिचार का दर्शन हो तो उसका अर्थ यह हुआ कि धूम की प्राप्ति अग्नि के अभाव मे भी होती है। ऐसी स्थिति मे हमे खोजना होगा कि इस धूम का कारण क्या है ? यदि यह धूम अग्नि मे उत्पन्न नही है, तो 'अग्नि धूम का नियत पूर्ववर्त्ती है' यह मान्यता अमान्य सिद्ध होगी, ऐसी स्थिति मे प्रत्यक्षज्ञान से विरोध उपस्थित होगा। फलत व्यभिचार की कल्पना प्रत्यक्षज्ञान से विरुद्ध सिद्ध होती है, एव व्याप्ति की सत्यता सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार व्यभिचार की शका होने पर हम तर्क द्वारा कार्यकारणभाव के आधार पर 'धूम और अग्नि का साहचर्य नियत है' इस निश्चय पर पहुच जाते है।

व्याप्तिग्रह के प्रसग मे यहा अप्रत्यक्ष रूप से अनुमान का आश्रय लेना पडता है, एव अनुमान के माध्यम से कार्य और कारण के सामान्य सहचार के द्वारा धूम और अग्नि के विशेष सहचार का ज्ञान प्राप्त करते है। इस सहभाव ज्ञान की प्रक्रिया को यदि अनुमान की परम्परागत भाषा मे रखना चाहे तो इस प्रकार रख सकते है **प्रत्येक कार्य कारण का नियत सहचारी होता है, धूम अग्नि का कार्य है, अत धूम अग्नि का नियत सहचारी है।** अथवा धूम अग्नि का नियत सहचारी है (प्रतिज्ञा) **क्योकि धूम अग्नि का कार्य है** (हेतु) **जो** जिसका कार्य है वह उसका नियत सहचारी होता है, जैसे रूप आदि कार्य पट

आदि कारण द्रव्यों के नियत सहचारी होते है (उदाहरण), उसी प्रकार यह भी है (उपनय), अत. धूम भी अग्नि का नियत सहचारी है (निगमन)।

यह अनुमान तर्क से सर्वथा भिन्न है। इस अनुमान के अनुसार धूम और अग्नि का सहभाव तभी माना जा सकता है, जब दोनो के बीच कार्यकारण भाव निश्चित हो, तथा कार्यकारणभाव तभी माना जा सकता है, जब धूम का अग्नि से नियतपूर्वभाव अर्थात् दोनो का सहभाव निश्चित हो सके। इस प्रकार यह अनुमान प्रक्रिया अन्योन्याश्रित होने से सिद्ध नही हो सकती। नैयायिक इस अन्यो`याश्रय दोष से बचने के लिए धूम और अग्नि के कार्य कारण भाव को अनुमान पर आधारित न मानकर पूर्वज्ञान अथवा सस्कार पर आधारित मानते है।

इस प्रकार व्याप्ति का ग्रहण **व्यभिचार ज्ञान के अभाव से युक्त हेतु और साध्य के नियत साहचर्य ज्ञान के द्वारा ही होता है।**

व्याप्तिग्रहण के प्रसङ्ग मे यह आशका पहले उपस्थिति की जा चुकी है कि जब सभी धूम और वह्नि का इन्द्रिय से सन्निकर्ष नही होता, फिर दोनो की व्याप्ति (नियत साहचर्य) का ज्ञान कैसे सभव है ? दूसरे शब्दो मे चूकि धूम का सर्वतोभावेन प्रत्यक्ष सभव नही है, अर्थात् जहा जहा धूम या वह्नि है सर्वत्र हम उसे नही देख सकते। जिन अशो मे हम उन्हे देखते हैं, उसके आधार पर सामान्य नियम की स्थापना कैसे की जा सकती है। प्रसिद्ध दार्शनिक जे एस. मिल (J S Mill) का कथन है कि 'जिसे हम कुछ स्थानो पर देखते है, वह सर्वत्र सत्य होगा' यह विश्वास मन की एक विशेष क्रिया है, अनुमान नही। नैयायिक इसे मानसिक क्रिया भी न मानकर **अलौकिक प्रत्यक्ष** मानते है। यह अलौकिक प्रत्यक्ष ही व्यभिचार रहित हेतु और साध्य के साहचर्य की प्रतीति कराता है। इस अलौकिक प्रत्यक्ष को ही **सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति** कहते है, जिसका विस्तृत परिचय प्रत्यक्ष प्रकरण मे दिया जा चुका है।[1] जब हम एक घट देखते हैं तो उस घट एव उसमें विद्यमान घटत्व जाति से इन्द्रिय सन्निकर्ष होता है, अतः ज्ञान भी उपस्थित घट और उसके घटत्व का ही होना चाहिए; किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य घटो में विद्यमान रहनेवाली सम्पूर्ण घटत्वजाति एव उसके आश्रय अन्य घट का भी ज्ञान होता है। अर्थात्

१. इसी ग्रन्थ के पृ० १५७ देखिए।

साथ रहनेवाली दो वस्तुओं में से एक का प्रत्यक्ष होते ही अन्य का भी ज्ञान हो जाता है। यहा प्रश्न यह है कि इस सम्पूर्ण घटत्व जाति एवं उसके आश्रय अन्य घट के ज्ञान को क्या कहा जाए ? चूकि उसके साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष नही है, अत प्रत्यक्ष कहना उचित न होगा। अनुमान कहना भी उचित न होगा, क्योकि यहा न तो परामर्श है, न व्याप्ति ज्ञान और न हेतु ज्ञान ही। यही स्थिति धूम दर्शन करने पर सम्पूर्ण धूम के ज्ञान एव उसके साथ रहनेवाली अग्नि के ज्ञान की है। इस समस्त धूम के ज्ञान मे न तो प्रत्यक्ष लक्षण सगत होता है और न अनुमान लक्षण ही, फिर इसे क्या कहा जाए ? इस अर्ध प्रत्यक्ष और अर्ध अनुमान को नैयायिको ने **प्रत्यासत्ति** सज्ञा दी है। चूकि अनुमान मे हेतु के प्रत्यक्ष तथा अनुमिति के बीच परामर्श आदि के लिए कुछ काल लगता है, जिसके फल स्वरूप अनुमिति ज्ञान मध्यवर्त्ती काल से व्यवहित होता है, किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान मे किसी प्रकार काल का व्यवधान नही होता, क्योकि इसमे इन्द्रिय सन्निकर्ष के अनन्तर परामर्श के समान्तर अन्य किसी कारण या करण की आवश्यकता नही होती, अत यह प्रत्यक्ष के अधिक निकट है, यह कहा जा सकता है। इस प्रकार भले ही समस्त धूम और वह्नि का प्रत्यक्ष न हो किन्तु महानस मे धूम का प्रत्यक्ष करने पर प्रत्यासत्ति द्वारा सकल धूम का साक्षात्कार होता है, एव व्यभिचार सन्देह की निवृत्ति केवल तर्क की सहायता से हो जाती है, एव साहचर्य का निश्चय का रूप प्राप्त हो जाता है, इसे ही दूसरे शब्दो मे हम इस प्रकार कह सकते है कि 'उपाधि के अभाव से युक्त सस्कार की सहायता के साथ बारबार धूम और अग्नि के दर्शन के सस्कार से युक्त ग्राहक प्रत्यक्ष द्वारा ही धूम और अग्नि की व्याप्ति का निश्चय होता है।'[1] प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति का ग्रहण मानने पर पूर्व प्रदर्शित **अन्योन्याश्रय दोष** भी नही होता।

अनुमान के विभाजन के प्रसङ्ग मे यद्यपि पूर्व पृष्ठो मे अनेक मतो की चर्चा की गई है, किन्तु प्रत्येक विभाजन अनुमान के समस्त उदाहरणो को समाहित करने मे समर्थ है। जैसे पूर्व कालीन न्यायाचार्यों द्वारा स्वीकृत शेषवत् अनुमान के उदाहरण उत्तरकालीन आचार्यों द्वारा हेतु के आधार पर किये गये विभागो मे से व्यतिरेकि अनुमान के विषय हो सकते हैं। पूर्ववत् और सामान्यतो-

१. तर्कभाषा पृ० ७६

दृष्ट के कुछ उदाहरण केवलान्वयि अनुमान के और कुछ अन्वयव्यतिरेकि अनुमान के विषय होगे । इसी प्रकार पाश्चात्य विद्वानों द्वारा स्वीकृत Deduction Proper के अधिकाश उदाहरण प्राचीन आचार्यों के पूर्ववत् अनुमान एव परवर्ती विद्वानो के केवलान्वयि अथवा अन्वयव्यतिरेकि अनुमान के उदाहरण हो सकते है, एव Induction Proper के उदाहरण प्राचीन आचार्यों के सामान्यतोदृष्ट के एव परवर्ती विद्वानो के व्यतिरेकि अथवा अन्वयव्यतिरेकि के उदाहरण बन सकते है । प्लैटो (Plato) का Logical Division प्राचीन आचार्यों के शेषवत् अनुमान के ही समानान्तर है, अत उमे व्यतिरेकि मे ही समाहित मान सकते है । उत्तर कालीन आचार्यों के स्वार्थानुमान और परार्थानुमान भेद तो केवल अनुमान के प्रयोजन के आधार पर किये गये है, अत इनमे से प्रत्येक मे अनुमान के सभी भेद समाहित हो सकते है ।

अवयव —स्वार्थानुमान का उद्देश्य चूकि स्वय ज्ञान प्राप्त करना होता है, अत उसमे लिङ्ग दर्शन से साध्य ज्ञान तक सम्पूर्ण प्रक्रिया मानसिक होती है, किन्तु **परार्थानुमान** का उद्देश्य दूसरे को ज्ञान कराना होता है । एव कोई भी विचारशील व्यक्ति युक्ति को जाने बिना किसी के वचन मात्र से विश्वास नही करता,[1] अत परार्थानुमान मे अनुमान की प्रक्रिया को एक विशेष क्रम से युक्ति पूर्वक रखना पडता है । यह क्रमबद्ध प्रक्रिया ही परार्थानुमान को स्वार्थानुमान से पृथक् करती है ।

परार्थानुमान को क्रमबद्ध प्रक्रिया को **न्याय, न्यायवाक्य** अथवा **वाक्य** कहते है । इस **न्यायवाक्य** द्वारा ही शाब्दबोध के अनन्तर अनुमिति के अन्तिम या अन्यतम कारण (**करण**) लिङ्गपरामर्श की उत्पत्ति होती है ।[2] इस प्रकार न्याय वाक्य से शाब्द बोध, शाब्द बोध से लिङ्गपरामर्श एव लिङ्ग परामर्श से अनुमितिज्ञान की उत्पत्ति होती है (**न्यायवाक्य→शाब्दबोध→लिङ्ग परामर्श अनुमिति**)। अरस्तू ने इस न्याय वाक्य को ही Speach कहा है, जिस से Premise उत्पन्न होकर Supposed Knowledge के करण Necesity को उत्पन्न करती है । इस प्रकार उनके अनुसार भी अनुमिति की उत्पत्ति का क्रम समान ही है (Speech→Premise→Necesity→Supposed Knowledge) । अरस्तू के अनुसार न्यायवाक्य (Speach) में तीन

१ व्यक्ति विवेक पृ० २२ २. तत्त्वचिन्तामणि १४६६

अवयव माने जाते है · Magor premise, Minor premise तथा Meddle term. जबकि न्याय वाक्य मे पाच अवयव स्वीकार किये गये हैं : **प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन।**

प्रतिज्ञा —प्रतिज्ञा मे श्रोता को अनुमिति का अभीष्ट अर्थात् **पक्ष में साध्य** की सत्ता बताना होता है।[1] इसे ही योरप के पुराने दार्शनिक Problem या Question कहते है। न्याय वाक्य में प्रतिज्ञा का कथन सर्वप्रथम किया जाता है। जैसे—"पर्वत वह्नि वाला है, धूम युक्त होने से, जो जो धूम युक्त है, वह वह अग्नि युक्त है जैसे रसोई घर, उसी प्रकार यह पर्वत अग्नि युक्त है।"[2] इस न्याय 'वाक्य मे पर्वत वह्नि युक्त है' यह अंश **प्रतिज्ञा** कहाता है।

हेतु न्यायवाक्य मे प्रतिज्ञा के अनन्तर हेतु का कथन होता है, न्याय-शास्त्रीय परम्परा में संस्कृत मे हेतु को पञ्चम्यन्त रखा जाता है। किन्तु प्रत्येक पञ्चम्यन्त वाक्यांश हेतु हो यह आवश्यक नहीं है, उदाहरणार्थ 'अय न न 'दण्डात्' अथवा 'दण्डात् न' इत्यादि वाक्यों मे पञ्चम्यन्त 'दण्डात्' आदि पदों मे पञ्चमी का प्रयोग हेतु होने के कारण न होकर अपादान कारण होने से है। प्रकृत का साधक होने पर ही पञ्चम्यन्त पद **हेतु** कहा जाएगा।[3] न्यायशास्त्र की परम्परा मे हेतु के लिए बहुधा **लिङ्ग** शब्द का प्रयोग किया जाता है। किन्तु लिङ्ग और हेतु वास्तविक रूप से भिन्न है। **लिङ्ग साध्य** के चिह्न को कहते है, तथा लिङ्ग प्रतिपादक वाक्य को हेतु कह सकते है। हेतु वाक्य मे प्रतिपादित लिङ्ग **सादृश्य** अथवा **विसादृश्य** अर्थात् साधर्म्य अथवा वैधर्म्य द्वारा साध्य का साधक होता है। इसी आधार पर हेतु के दो भेद हो सकते है **अन्वयी हेतु और व्यतिरेकी हेतु**। कुछ हेतु **अन्वयी और व्यतिरेकी** दोनो ही प्रकार के हो सकते है इस प्रकार हेतु के भी व्याप्ति के अनुसार तीन भेद कहे जा सकते है. **अन्वयी, व्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी।**

उदाहरण . जब साध्य को सिद्ध करने के लिए हेतु दिया जाता है, तो प्रश्न उपस्थित होता है कि साध्य की हेतु द्वारा सिद्धि किस आधार

---

१. (क) तर्क संग्रह पृ० ६६ (ख) वैशेषिक उपस्कार पृ० २१९
२. वैशेषिक उपस्कार पृ० २२९
३. वही पृ० २२०

पर होती है ? हेतु और साध्य के बीच क्या सम्बन्ध है, तथा उस सम्बन्ध की प्रतीति कैसे होती है ? **उदाहरण** द्वारा इन सभी प्रश्नो का समाधान हो जाता है। इसके द्वारा हेतु और साध्य का नियत सम्बन्ध प्रतिपादित होता है[१] और इस नियत सम्बन्ध (व्याप्ति) के आधार पर ही हेतु साध्यका साधक बन पाता है। हेतु के समान ही उदाहरण भी **अन्वयि व्यतिरेकि और अन्वयव्यतिरेकि** तीन प्रकार के हो सकते है, किन्तु इस प्रकार से उदाहरणो का वर्गीकरण परम्परा मे प्रचलित नही है।

उपनय --जैसा कि इस शब्द की व्युत्पत्ति से पता चलता है, इसका कार्य अनुमाता को अनुमति के निकट पहुचा देना है। उपनय द्वारा ही श्रोता को पता चलता है कि व्याप्ति सहचरित हेतु पक्ष मे विद्यमान है[२], इस समन्वयात्मक ज्ञान को ही **परामर्श** कहते है, इसके तत्काल बाद ही अनुमति का जन्म होता है। चतुर्थ वाक्य मे इसी परामर्श का कथन होता है। गौतम के अनुसार इस अनुमान वाक्य का उपसहार अंश कहा जा सकता है।[३] उपनय के भी हेतु और उदाहरण के समान ही अन्वयी (साधर्म्यमूलक) व्यतिरेकी (वैधर्म्यमूलक) एव अन्वयव्यतिरेकी भेद हो सकते है, किन्तु नैयायिको ने इस प्रकार के किन्ही भेदो की चर्चा नही की है।

निगमन .—निगमन मे न्याय वाक्य के उपसहार के अनन्तर पक्ष मे अनुमान के फल के रूप मे प्रकृत साध्य की चर्चा की जाती है,[४] जिसके फलस्वरूप श्रोता को अनुमिति का ज्ञान होता है। गौतम ने प्रतिज्ञा के पुन कथन को ही **निगमन** कहा है।[५] वात्स्यायन ने निगमन शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि 'जिसवाक्य मे प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय का एक साथ ही सम्बन्ध प्रतिपादित हो तथा उनका समर्थन हो वही **निगमन** है।[६] निगमन **स्वीकारात्मक और निषेधात्मक** दोनो ही प्रकार का हो सकता है। सामान्यत अन्वयी हेतु होने पर निगमन स्वीकारात्मक तथा व्यतिरेकी हेतु के रहने पर वह निषेधात्मक होता है।

पूर्व पृष्ठ मे पर्वत मे चर्चा हो चुकी है कि वह्नि साधक अनुमान वाक्य मे 'पर्वत वह्नि वाला है' यह अश प्रतिज्ञा है, इसमे पर्वत पक्ष मे साध्य वह्नि का

---

१ वही पृ० २२०
२. वही पृ०२२०
३. न्याय दर्शन १ १. ३८
४. वशेषिक उपस्कार पृ० २००
५. न्याय दर्शन १. १. ३९
६. वात्स्यायन भाष्य पृ०३२

कथन किया गया है। प्रतिज्ञा के अनन्तर 'धूम युक्त होने से' यह अंश हेतु है। सस्कृत मे हेतु का प्रयोग तृतीया अथवा पञ्चमी विभक्ति मे किया जाता है। हेतु के अनन्तर और उदाहरण के पूर्व व्याप्ति का कथन किया जाता है। व्याप्ति का कथन दो प्रकार से होता है। प्रथम प्रकार में पक्ष मे हेतु तथा साध्य के प्रतिपादक दो वाक्यो को संबद्ध करते हुए सामान्य रूप से दोनो का सहभाव प्रतिपादित किया जाता है। जैसे 'जो जो धूम युक्त है वह वह अग्नि युक्त है।' व्याप्ति के प्रदर्शन का दूसरा प्रकार है साध्य और साधन का एक अधिकरण मे प्रतिपादन, जैसे जहा जहा धूम है वहा वहा अग्नि है। इन मे प्रथम मे अन्य वाक्यो का समर्थन स्पष्टतया होता है, जबकि द्वितीय मे अत्यन्त स्वाभाविक रूप से तथा स्पष्ट रूप से व्याप्ति का वर्णन होता है। **उदाहरण** वह वाक्याश है, जहा व्याप्ति के लिए हेतु और साध्य का सहभाव देखाजाता है। जैसे इस न्याय वाक्य मे 'महानस'। **उपनय** सस्कृत न्याय वाक्य मे 'तथा चायम्' अर्थात् 'यह भी उसी भाति है' शब्द द्वारा **उपनय** का कथन होता है। प्रकरण के अनुसार इस वाक्याश का तात्पर्य यह है कि व्याप्ति सहित हेतु मे विद्यमान है। इससे ही अनुमिति के करणभूत **परामर्श** अथवा **लिङ्ग परामर्श** का ज्ञान होता है। **निगमन** : 'इसलिए यह पर्वत वह्नि युक्त है' यह वाक्याश निगमन कहाता है। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, निगमन प्रतिज्ञा से भिन्न नही है, किन्तु प्रतिज्ञा मे स्पष्ट शब्दो मे पक्ष को साध्य युक्त कहा जाता है जबकि निगमन मे 'तस्मात्' शब्द से पूर्व वाक्याशो का उपसहार एव 'तथा' शब्द द्वारा प्रतिज्ञा का पुन कथन होता है।

न्यायशास्त्र और अरस्तूका न्यायवाक्य (Syllogism) – न्यायशास्त्र मे परम्परागत अनुमान वाक्य (न्यायवाक्य) मे पाच अवयव होते है, जबकि अरस्तू ने Syllogism (न्यायवाक्य) मे केवल तीन अवयव ही माने है। इस प्रसग मे यह विचारणीय है कि दोनो न्यायवाक्यो मे अन्तर क्यो है ? क्या न्यायशास्त्रीय न्यायवाक्य मे दो अवयव अधिक प्रयुक्त हुए हैं ? अथवा अरस्तू स्वीकृत न्यायवाक्य मे दो अवयवो की न्यूनता है ? विचार करने पर दोनो ही परम्पराए निर्दोष कही जा सकती है। दोनो के चिन्तन का क्रम भी परस्पर भिन्न नही है। दोनो एक मार्ग से ही एक निश्चय पर पहुचते है, किन्तु उन विचारो को अभिव्यक्त करने अथवा उन्हें दूसरे तक पहुचाने के मार्ग भिन्न-भिन्न है। अरस्तू के न्यायवाक्य

(Syllogism) मे अत्यन्त आवश्यक वाक्यांश सूक्ष्म सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं, जब कि न्यायशास्त्रीय पञ्चावयव वाक्य मे क्रमिक रूप से वे कारण उपस्थित किये गये हैं, जिससे दूसरे के मस्तिष्क मे ज्ञान उत्पन्न हो सके। अरस्तू के न्यायवाक्य मे सामान्य से विशेष निर्णय पर पहुचने के लिए कुछ सोपान दे दिये गये है, जबकि न्यायशास्त्र मे उन्हे वाद (वाद विवाद) मे अपेक्षित क्रम से रखा गया है। अरस्तू के न्यायवाक्य मे श्रोता को कुछ अशो की पूर्ति स्वय करनी पडती है, जबकि न्यायशास्त्रीय परम्परा मे वक्ता के क्रमिक प्रतिपादन को ही श्रोता समझता चलता है, फलत यह पञ्चावयव वाक्य सामान्य मस्तिष्क मे ज्ञान उत्पन्न करने की क्षमता रखता है, वही अरस्तू के न्यायवाक्य मे केवल आलकारिक ढग से वाक्य योजना है। नैयायिको का न्यायवाक्य निर्णय तक पहुचाने मे सरलतया और स्वाभाविक ढग से सहायक है, जबकि अरस्तू का न्यायवाक्य परीक्षण की दृष्टि से अधिक प्रशस्त। इस प्रकार दोनो ही न्याय-वाक्य अपनी अपनी दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। नैयायिको का पञ्चावयव न्यायवाक्य वाद (वाद-विवाद) की दृष्टि से अधिक क्रमबद्ध और व्यवस्थित है।

नैयायिको का यह पञ्चावयव वाक्य प्रतिवादी के सन्देह को निर्मूल करने का व्यवस्थित मार्ग है, जिसके द्वारा उसे सुव्यवस्थित उत्तर दिया जा सकता है। इन अवयवो से युक्त वाक्य द्वारा सन्देह की निवृत्ति अनायास हो जाती है। किन्तु इस प्रसग मे यह विचारणीय है कि 'यह सन्देह कहा से और कैसे उत्पन्न हुआ, जिस की निवृत्ति इस न्यायवाक्य द्वारा की जाती है। वस्तुत. नैयायिक सन्देह के बिना, जिसे दूसरे शब्दो मे आकांक्षा कह सकते है, कुछ भी कहना नही चाहते। अतएव प्रतिज्ञा वाक्य द्वारा आकाक्षा (लघु सन्देह) को उत्पन्न किया जाता है। [किन्तु अरस्तू के वाक्य इस आकाक्षा को उत्पन्न किये बिना ही व्याप्ति से प्रारम्भ होते है] इसे प्रसिद्ध दार्शनिक गगेशोपाध्याय ने स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया है, उनका कहना है कि 'कथा अर्थात् वाद के प्रसग मे आकाक्षा के क्रम मे कथन करना ही उचित होता है। 'यह क्यो है' इस सन्देह (आकाक्षा) के अभाव मे कुछ भी कहना उचित न होगा, अतएव आकांक्षा के जागरण के लिए प्रथम प्रतिज्ञा का प्रयोग किया जाता है।'[1] अरस्तू

---

१. तत्वचिन्तामणि पृ० १४७०

के Major Premise अर्थात् व्याप्ति के कथन में कथमपि आकांक्षा का उदय नहीं होता, यही कारण है कि उनके न्यायवाक्य में दिये गये तर्क उस स्वाभाविकता से मस्तिष्क में प्रविष्ट नहीं हो पाते, जिस स्वाभाविकता से न्याय शास्त्रीय तर्क।

इस अन्तर के कारण के रूप में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि अरस्तू ने स्वार्थानुमान और परार्थानुमान की दृष्टि से अनुमान का कोई विभाजन नहीं किया है, उनके न्यायवाक्य का लक्ष्य कोई अन्य न होकर प्रमाता स्वयं है, भले ही वह तर्क आवश्यक होने पर दूसरे के समक्ष भी उपस्थित कर दिया जाता हो, किन्तु वह प्रधानतया उद्दिष्ट नहीं है, एवं प्रमाता के मस्तिष्क में तो सन्देह उत्पन्न हो ही चुका है, अन्यथा वह अनुमान के लिए प्रवृत्त ही क्यों होता ? अतः उसमें आकांक्षाजनक वाक्यांश के प्रयोग की आवश्यकता नहीं समझी जाती, किन्तु नैयायिकों का न्यायवाक्य परार्थानुमान का अंग है, फलतः परार्थ ज्ञान के लिए आवश्यक आकांक्षा के उद्बोधन के साथ ही यहां साध्य की सिद्धि की गयी है।

यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि न्यायशास्त्रीय यह न्यायवाक्य वादविवाद में अपेक्षित क्रम के अनुसार पूर्णतः सुव्यवस्थित है, किन्तु परीक्षण एवं साध्यसिद्धि की दृष्टि से यह पूर्णतः उचित है, यह कह सकना कठिन है। इसमें भी दोष की सम्भावनाएं प्रायः रहती है, इसीलिए परवर्ती विचारकों द्वारा इसकी खंडनात्मक और मंडनात्मक दोनों रूपों से आलोचना की गयी है। इस परम्परा में सामान्य और विशेष में कोई अन्तर नहीं रखा गया है। अन्वयी और व्यतिरेकी हेतु के भेदों के साथ स्वीकारात्मक और निषेधात्मक भेद भले हो स्वीकृत किये गये है। अरस्तू के न्याय वाक्य में नियमतः सामान्य से विशेष का निश्चय किया जाता है, जिसके फलस्वरूप उनके मत में प्रथम सुस्थिर सामान्य नियम प्राप्त कर Major Premise की स्थापना करते है। इसके विपरीत न्यायशास्त्रीय परम्परा में सर्वप्रथम प्रतिज्ञा का कथन करके अर्थात् विशेष से प्रारम्भ कर व्याप्ति अर्थात् सामान्य की ओर बढ़ते है। इस प्रकार नैयायिकों और अरस्तू के अनुयायियों की अनुमान प्रक्रिया परस्पर सर्वथा विपरीत सिद्ध होती है। किन्तु साथ ही यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि नैयायिकों की प्रक्रिया वादविवाद में एक शस्त्र के रूप

में अत्यधिक उपयुक्त है, क्योंकि वादविवाद मे एक विशेष क्रम से चलना होता है, जो कि इसमे विद्यमान है।

भारतीय न्याय वाक्य के समान ही अरस्तू के न्यायवाक्य के अवयवो के सम्बन्ध मे भी काफी विवाद रहा है। जे०एस० मिल ने लिखा है कि 'न्यायवाक्य Syllogism मे तीन से अधिक अवयव नहीं हो सकते, और वे अवयव Minor Premise अर्थात् पक्ष, Major Premise अर्थात् साध्य तथा हेतु कथन, एव तीनो का सम्बन्ध बताने वाला Meddle Term अर्थात् पक्षधर्म कथन है।'[1] 'न्यायवाक्य मे अवयव तीन ही हो सकते है' मिल के इस कथन का कारण यह हो सकता है कि प्रतिज्ञा और निगमन परस्पर अभिन्न है, क्योंकि निगमन मे प्रतिज्ञा का ही पुनर्वचन किया जाता है।[2] इसी प्रकार उपनय मे किया जाने वाला परामर्श मानसिक रूप से हेतु कथन ही होता है, अत इसे हेतु से अभिन्न कहना अनुचित न होगा। इस प्रकार प्रतिज्ञा और निगमन तथा हेतु और उपनय के परस्पर अभिन्न होने से तीन अवयव ही शेष रह जाते है। उदाहरणार्थ पर्वत अग्नि वाला है (पर्वतो वह्निमान्), क्योंकि वह धूमवान् है (धूमवत्वात्), जो जो धूम युक्त है, वह वह अग्नि युक्त है, जैसे रसोईघर (यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसम्), अत पर्वत अग्नि युक्त है (तस्मात् तथेति)। इस पञ्चावयव न्यायवाक्य से प्रतिज्ञा और (निगमन मे से एक तथा हेतु और उपनय मे से एक को निकाल देने पर यह न्यायवाक्य इस प्रकार शेष रहेगा **जो जो धूम युक्त है, वह वह अग्नि युक्त है** (यो यो धूमवान् स स वह्निवान्), **क्योकि पर्वत धूमयुक्त है** (धूमवत्वात् [पर्वतस्य]) इसमे भी पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग न करने पर '**पर्वत धूमयुक्त है** (पर्वतः धूमवान्) इसलिए **पर्वत वह्नियुक्त है** (तस्मात्पर्वतो वह्निमान्) स्वरूप होगा। इस मे तीन ही अवयव शेष रह जाते है, तथा हेतु बोधक पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग न होने पर भी रेखागणित मे प्रमेय सिद्धि के समान ही प्रमेयसिद्ध होती ही है। उसमे भी तो एक समकोण त्रिभुज को समकोण सिद्ध करने के लिए इसी प्रक्रिया का आश्रय लेते हुए कहा जाता है कि :

१. J. S. Mill : System of Logic P. 108
२. न्याय दर्शन १ १ ३९

∵ अ कोण=स कोण, और ब कोण=स कोण, इसलिए अ कोण=स कोण

यही स्थिति अरस्तू के न्यायवाक्य की है, उनका वाक्य है चूंकि प्रत्येक मनुष्य मरणधर्मा है (All men are mortal) सुकरात एक मनुष्य है (Socrates is a man) इसलिए सुकरात मरणधर्मा है (Socrates is a mortal)

इस वाक्य को ही दूसरे शब्दो मे इस प्रकार कहा जा सकता है जो जो मनुष्य है, वह मरणधर्मा है, अथवा जहा जहा मनुष्यत्व है, वहा वहा मरण धर्मात्व है। सुकरात मनुष्यत्व युक्त है, अत उस मे मरणधर्मात्व है।

इस तीन अवयवो वाले वाक्य मे यदि प्रतिज्ञा और उपनय को स्वतन्त्र और स्पष्ट कर दिया जाए तो वाक्य इस प्रकार हो सकता है सुकरात मरण-धर्मात्व से युक्त है, मनुष्य होने से जो ही मनुष्य है वह वह मरणधर्मा है, जैसे सिकन्दर; सुकरात भी उसी प्रकार है, अत वह मरणधर्मा है।

इस प्रकार हम देखते है कि नैयायिको के न्यायवाक्य और अरस्तू के वाक्य (Syllogism) मे कोई अन्तर नही है। जहा तक सख्या प्रश्न का है इस सम्बन्ध मे भारतीय दार्शनिक भी एक मत नही है, इस मतवैविध्य को शास्त्र दीपिकाकार ने स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया है कि 'कुछ विद्वान् न्यायाग पाच मानते है, तो कुछ केवल दो। हम लोग अर्थात् मीमासक तीन मानते है प्रतिज्ञा हेतु और उदाहरण अथवा उदाहरण उपनय और निगमन।'[1] साहित्यिक भी केवल तीन अगो को ही पर्याप्त मानते हैं। इसके अतिरिक्त उनका तो यह भी विचार है कि 'उदाहरण का कथन केवल उसी स्थिति मे होना चाहिए, जब वक्ता श्रोता साहचर्य से परिचित न हो। साहचर्य के सर्व विदित होने पर तो केवल हेतु का कथन ही पर्याप्त होता है।[2] वेदान्तियो ने भी पाच अवयवो का स्पष्ट निषेध करते हुए प्रथम तीन अथवा अन्तिम तीन को ही अवयव के रूप मे स्वीकार करना आवश्यक समझा।[3] वेदान्तदर्शन के कुछ प्राचीन ग्रन्थो मे केवल दो अवयवो को ही मानकर शेष का निषेध किया गया है। उदाहरणार्थ

---

१. शास्त्रदीपिका पृ० ६४ २ व्यक्तिविवेक पृ० ६५।
३. वेदान्तपरिभाषा

चित्सुखाचार्य ने केवल उदाहरण और उपनय नामक दो अवयवो को ही मान्यता दी है।[1] बौद्ध भी केवल दो अवयव उदाहरण और उपनय को ही स्वीकार करते है। न्यायबिन्दुकार ने, जो बौद्धो से पर्याप्त साम्य रखते है, प्रतिज्ञा और हेतु दो अवयवो को ही माना है। इनके विचार से दृष्टान्त भी व्याप्ति के समान हेतु का अग है। जब कि दिङ्नाग तीन अवयव स्वीकार करते हैं।[2] इस प्रकार हम देखते है कि अवयवो की सख्या के प्रसग मे न्याय वैशेषिक के अतिरिक्त लगभग सभी दार्शनिक सम्प्रदाय अरस्तू की मान्यता के अधिक निकट हैं। वैशेषिको ने न्यायदर्शन स्वीकृत इन न्यायागो का नामान्तर से स्वीकार किया है। उनके अनुसार प्रतिज्ञा आदि के क्रमश· निम्नलिखित नाम हैं: प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसन्धान और प्रत्याम्नाय।

न्याय वाक्य के अवयवो के विवेचन के अवसर पर एक प्रश्न और विचारणीय रह जाता है कि न्याय शास्त्र मे स्वीकृत पाच न्याय अवयवो मे तृतीय अवयव 'जहा जहा धुआ है वहा वहा अग्नि है जैसे रसोई घर' को उदाहरण क्यो कहा जाता है। इस सम्पूर्ण वाक्याश मे यद्यपि 'जैसे रसोई घर' यह अ श भी है, जिसे उदाहरण कहना उचित है। किन्तु इस अ श का इसमे इतना महत्व नही है, जितना कि 'जहा जहा धूम है वहा वहा वह्नि है' इस अ श का। न्यायवाक्य के उदाहरण भाग मे व्याप्ति अ श का महत्व उदाहरण अ श की अपेक्षा अधिक है, अत इसे व्याप्ति नाम न देकर उदाहरण नाम देना तो व्याप्ति की उपेक्षा करना है। इसके अतिरिक्त 'जैसे रसोईघर' यह अ श कम महत्व के कारण अनेक बार उपेक्षित कर दिया जाता है, उस स्थिति मे केवल व्याप्ति भाग का प्रयोग होने पर उसे उदाहरण कहना अनुचित भी प्रतीत होता है।

बैलेण्टाइन के अनुसार इस अवयव को उदाहरण कहने का कारण यह है कि श्रोता या प्रतिपत्ता इस अवयव को सुनकर ही इसी प्रकार के अन्य उदाहरणो का मानस मे स्मरण करता है, जिसके फलस्वरूप उसे व्याप्ति की यथार्थता का ज्ञान होता है एव परिणाम स्वरूप उससे अनुमिति ज्ञान

---

१. तत्वप्रदीपिका पृ० ४०१। २. न्यायप्रवेश पृ० २

उत्पन्न होता है।"[1] किन्तु यह समाधान ठीक नहीं है, क्योंकि यद्यपि उदाहरण द्वारा उपर्युक्त कार्य मे साहाय्य मिलता है, किन्तु उसकी अपेक्षा व्याप्ति अंश से अनुमान वाक्य को अधिक बल प्राप्त होता है। इसके विपरीत यदि उदाहरण मे कुछ दोष हुआ तो सम्पूर्ण अनुमान प्रक्रिया अव्यवस्थित हो जाती है। किन्तु उदाहरण के बिना अनुमान न होता हो ऐसी बात नही है। यही कारण है कि अनेक आचार्यों एव दार्शनिक सम्प्रदायो ने इसे अनावश्यक समझा है।

मैक्समूलर (Max Muller) के अनुसार इस न्यायाग को उदाहरण कहने का कारण यह होना चाहिए कि गौतम की अनुमान प्रक्रिया मे प्रधानतम व्याप्ति कर आधार उदाहरण ही है, व्याप्ति का अन्वयि अथवा व्यतिरेकि होना भी उदाहरण के स्वरूप पर ही निर्भर है, क्योकि अन्वयव्याप्ति तभी होती है, जब दृष्टान्त सपक्ष होता है। विपक्ष दृष्टान्त के होने पर अन्वय-व्याप्ति न होकर व्यतिरेक व्याप्ति होती है।[2] वस्तुत यह उचित नही कहा जा सकता। यद्यपि व्याप्ति और उदाहरण परस्पर नित्य सम्बद्ध हैं, किन्तु व्याप्ति का स्वरूप उदाहरण योजना पर निर्भर है, यह नही कहा जा सकता। क्योकि व्याप्ति का अन्वयि अथवा व्यतिरेकि होना उदहारण पर आश्रित नही है, अपितु इसके विपरीत वास्तविकता तो यह है कि उदाहरण का सपक्ष या विपक्ष होना व्याप्ति के स्वरूप पर निभर है। 'जहा जहा धूम है, वहा वहा अग्नि है, जैसे रसोई घर' इस न्यायवाक्य मे चूकि अन्वयव्याप्ति है, इसीलिए सपक्ष उदाहरण देना अनिवार्य हो गया है। अग्नि और धूम के इसी साहचर्य को कहने के लिए यदि हम व्यतिरेक व्याप्ति का अर्थात् 'जहा अग्नि नही है, वहा धूम भी नही है, का प्रयोग करे तो सपक्ष उदाहरण 'रसोईघर' के स्थान पर विपक्ष उदाहरण 'जलाशय' का ही प्रयोग करना अनिवार्य होता है।

समान व्याप्ति रहने पर भी यदि साध्य भिन्न हो तो उदाहरण भिन्न हो जाता है। धूम और अग्नि के साहचर्य के कारण धूम को देखकर अग्नि का साधन किया जा सकता है, उसी प्रकार अग्नि के न होने पर

---

1 Lectures on Nyaya Phylosophy P. 36

2 Thomson's lows of Thought, Appendix P. 296

धूम का अभाव भी सिद्ध किया जा सकता है। किन्तु जब अग्नि का अभाव देखकर धूम का अभाव सिद्ध करना चाहेंगे, तो उदाहरण 'रसोईघर' न रह कर 'जलाशय' होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्याप्ति उदाहरण पर आश्रित नहीं है किन्तु व्याप्ति के स्वरूप अथवा साध्य पर उदाहरण का सपक्ष या विपक्ष होना आश्रित है। इतना अवश्य है कि व्याप्ति ज्ञान के लिए उदाहरण का होना अनिवार्य है। किन्तु इस तृतीय वाक्य को, जिसमे व्याप्ति का सर्वाधिक महत्व है, उदाहरण नाम क्यो दिया गया है यह प्रश्न ज्यो का त्यो है।

इस प्रश्न का समाधान यह होना चाहिए कि न्यायशास्त्र के आदि काल मे पञ्चावयवय न्यायवाक्य के तृतीय अवयव मे व्याप्ति को स्थान प्राप्त न था, उस समय केवल दृष्टान्त का ही कथन तृतीय अवयव के रूप मे किया जाता था। उत्तर काल मे व्याप्ति भाग को आवश्यक समझ कर उसे इसमे जोड दिया गया है। गौतम के समय मे न्याय वाक्य का स्वरूप निम्नलिखित था 'पर्वत अग्नि युक्त है, धूम युक्त होने से, रसोईघर के समान, यह भी उसके समान है, अत यह भी वैसा ही अर्थात् अग्नियुक्त है' (पर्वतो वह्निमान् धूमात् यथा महानसम् तथा चायम्, तस्मात्तथेति)। प्रस्तुत न्यायवाक्य को ध्यान मे रखकर ही गौतम ने उदाहरण की निम्नलिखित परिभाषा की है कि 'साध्य का धर्म (धूम) जहा साध्य (अग्नि) के साथ विद्यमान हो उसे उदाहरण कहते है।'[1] गौतम अभिप्रेत इस उदाहरण के द्वारा ही उपनय वाक्य की पूर्णता होती है, जिसके अनन्तर अनुमिति ज्ञान उत्पन्न होता है। इसीलिए गौतम ने उपनय की परिभाषा भी उदाहरण सापेक्ष ही की है।[2] यही कारण है कि उत्तरकालीन न्यायशास्त्र मे स्वीकृत उदाहरण और उपनय मे गौतमकृत लक्षण सगत नही होते।

'व्याप्ति का प्रतिपादक वाक्य उदाहरण है'[3] अन्नभट्ट कृत परिभाषा उदाहरण की नवीनतम व्याख्या कही जा सकती है किन्तु यह परिभाषा गौतम कालीन उदाहरण मे घटित नही होती।

---

१ न्यायदर्शन १. १. ३६ २ वही १, १. ३८ ३. तर्कदीपिका पृ० ६७

व्याप्ति को उदाहरण वाक्य मे सर्व प्रथम सयुक्त करने का श्रेय सभवतः धर्म कीर्ति को है । उनके ग्रन्थ न्याय बिन्दु मे उदाहरण वाक्य व्याप्ति सहित और व्याप्ति रहित दोनो प्रकार से प्राप्त होता है । एक स्थल पर वे 'शब्द अनित्य है, कार्य होने से आकाश के समान' (अनित्य शब्द कृतकत्वात् आकाशवत्) कहते हुए व्याप्ति रहित उदाहरण अवयव का प्रयोग करते हैं एव एक अन्य स्थल पर वे 'जहा अग्नि है वहा धूम है, जैसे रसोईघर (यत्राग्नि. तत्र धूम यथा महानसम्) कहते हुए वे उदाहरण मे प्रथम व्याप्ति वाक्य का प्रयोग करते हैं ।

उदाहरण अश मे व्याप्ति वाक्य का यह प्रयोग सभवत केवल दृष्टान्त रहने पर उठने वाली नाना प्रकार की कठिनाइयो को दृष्टि मे रखकर किया गया होगा । साथ ही पूर्वोक्त प्रसङ्ग से यह भी पता चलता है कि यह व्याप्ति वाक्य प्रारम्भ मे हेतु का विशेषण था एव कालान्तर मे वह उदाहरणाश का अंग बन गया । व्याप्ति के उदाहरणाश मे सयुक्त होने से उदाहरण की महत्ता कम होगयी, अथवा एक प्रकार से अवयव के रूप मे उदाहरण की आवश्यकता ही समाप्त हो गयी है । पञ्चावयव न्यायवाक्य मे व्याप्ति का समावेश होने से पूर्व हेतु का अन्वयी अथवा व्यतिरेकी होना उदाहरण पर आश्रित था । उदाहरण मे साध्य और धर्म रूप हेतु को यदि एक साथ विद्यमान देखना सभव हुआ तो हेतु को अन्वयी कह दिया गया, और यदि साध्य और हेतु का सहदर्शन उदाहरण मे सम्भव न हुआ तो हेतु को व्यतिरेकी कह दिया गया । किन्तु अवयवो मे व्याप्ति वाक्य का प्रवेश होते ही उदाहरण का यह कार्य समाप्त हो गया ।

इस तृतीय अवयव के 'उदाहरण' नाम के प्रसग मे मैक्समूलर का विचार उदाहरण के प्राचीन स्वरूप के अनुसार अवश्य ही उचित प्रतीत होता है, किन्तु उदाहरण वाक्य के वर्त्तमान स्वरूप को देखते हुए उदाहरण नाम उचित प्रतीत नही होता । इतना ही नही, किन्तु व्याप्ति वाक्य के समक्ष इसका प्रयोग न्याय शास्त्रीय परम्परा मे अनिवार्य न रहकर सामयिक रह गया है । इसीलिए प्राचीन नैयायिको की दृष्टि मे अनिवार्य रूप मे आवश्यक उदाहरण को कुछ नवीन नैयायिक पञ्चावयव वाक्य मे स्थान देना भी उचित नही समझते ।[1]

१ सिद्धान्त चन्द्रिका पृ० ४०१

यद्यपि पूर्व पृष्ठों मे स्पष्ट किया जा चुका है कि पाश्चात्य दार्शनिक न्याय वाक्य (Syllogism) मे उदाहरण को स्थान नही देते, किन्तु अरस्तू के न्यायवाक्य मे भी नैयायिकों के समान उदाहरण का एक दृष्टान्त हमे उपलब्ध होता है, जो कि ग्रीक दार्शनिको मे अत्यन्त सामान्य है · The war of Athens against Thebes was mischievous (पक्ष+साध्य= प्रतिज्ञा) Because it was a war of against the neighbours (हेतु) Just as the war of Thebes against Phokis was (दृष्टान्त)[1] अर्थात् थेब्स के विरुद्ध एथेन्स का युद्ध अनुचित था (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह एक पडोसी के विरुद्ध युद्ध था (हेतु), ठीक वैसे ही जैसे थेब्स का फोकियो के विरुद्ध युद्ध अनुचित था।

इस प्रकार हम देखते है कि भारतीय नैयायिक और यूनान के प्राचीन दार्शनिक दोनो ही न्यायवाक्य मे उदाहरण को स्वीकार करते हैं।

अनुमिति ज्ञान का करण इसी प्रकरण मे पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि 'व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्म अर्थात् हेतु पक्ष मे विद्यमान है, यह ज्ञान **परामर्श** कहाता है, इसके ही अन्य नाम **लिंगपरामर्श** एव तृतीय परामर्श भी है। यह परामर्श ही अनुमिति ज्ञान का **करण** है। न्यायशास्त्र मे अनुमिति के करण के सम्बन्ध में तीन सिद्धान्त प्रचलित है **लिङ्गज्ञान करण** है, **व्याप्तिज्ञान करण** है अथवा **परामर्श करण** है। प्रथम मत वैशेषिको का है, इसीलिए वे अनुमिति ज्ञान को **लैङ्गिक** कहते है। इस मत के समर्थन मे शकरमिश्र का कथन है कि चूकि व्यापारयुक्त असाधारण कारण को करण कहते है, तथा परामर्श स्वय व्यापार रूप है, एव व्यापार मे अन्य व्यापार का होना सम्भव नही है, अत व्यापार (परामर्श) से अव्यवहित पूर्ववर्त्ती लिङ्ग ज्ञान को ही करण मानना अधिक उचित है। लिङ्गज्ञान को करण मानने पर परामर्श रूप व्यापार से युक्त होने के कारण लक्षण की सगति मे बाधा नही आती।[2]

उत्तर कालीन नैयायिक इसे (लिङ्गज्ञान को) करण नही मानते। उनका कथन है कि यदि **लिङ्ग ज्ञान** ही **करण** है, तो भूत और भविष्यत्कालीन लिङ्ग

---

1. Grate Aristotal vol I P. 274,
२. वैशेषिक उपस्कार पृ० २१६

ज्ञान से भी अनुमिति होनी चाहिए, किन्तु ऐसा नही होता। लिङ्ग ज्ञान केवल उसी स्थिति मे अनुमिति का जनक होता है, जब वह पक्ष के धर्म के रूप ज्ञात हो रहा हो। पक्ष धर्म के रूप मे लिङ्ग का ज्ञान परामर्श से भिन्न नही है। फलत लिङ्गज्ञान के स्थान पर परामर्श को ही करण मानना अधिक उचित होगा।

यहा एक प्रश्न हो सकता है कि परामर्शज्ञान को अनुमिति सामान्य के प्रति करण न मानकर व्याप्ति के स्मरण तथा पक्षधर्मता के ज्ञान को स्वतन्त्र रूप से करण क्यो न माना जाए ? इस स्थिति मे पर्वतीय वह्नि के अनुमान के लिए धूम वह्नि व्याप्य है, तथा यह पर्वत धूमवान् है, ये दो ज्ञान अनुमिति के प्रति करण हो सकेगे।[1] इस प्रश्न के सम्बन्ध मे यह विचारणीय है कि ये दोनो कारण पृथक् पृथक् करण है, अथवा समष्टि रूप से ? यदि स्वतन्त्र रूप से करण है, तो क्या केवल व्याप्ति स्मरण अथवा केवल पक्षधर्मता ज्ञान से अनुमिति हो सकती है ? यदि नही तो दोनो को स्वतन्त्र रूप से करण कैसे माना जाए ? समष्टि रूप से कारण मानने पर दो करणो की स्वीकृति की अपेक्षा व्याप्ति ज्ञान से युक्त पक्षधर्मता के ज्ञान अर्थात् परामर्श को करण मानने मे लाघव है। साथ ही परार्थानुमान मे पञ्चावयव न्यायवाक्य मे उपनय द्वारा परामर्श होने के अव्यवहित उत्तर काल मे अनुमिति ज्ञान उत्पन्न होता है, अत परार्थानुमान मे परामर्श अनिवार्यत अनुमिति का करण सिद्ध होता है। शेष स्वार्थानुमान के लिए परामर्श से भिन्न को करण स्वीकार करने मे गौरव होगा, अत स्वार्थानुमान और परार्थानुमान दोनो में ही लिङ्ग परामर्श को करण माना गया है। इस निर्दोष युक्ति से निस्सन्देह परामर्श ही करण सिद्ध होता है, किन्तु विश्वनाथ आदि कुछ प्राचीन नैयायिक 'व्यापारयुक्त असाधारण कारण को ही करण मानते हैं, अत उनके मत मे परामर्श करण नही हो सकता, क्योकि उसमे व्यापार नही है। ऐसी स्थिति मे वे परामर्श को अनुमिति का करण न मानकर व्याप्तिज्ञान को करण मानते हैं।

नव्य नैयायिको की ओर से इस प्रश्न के दो समाधान सभव है प्रथम यह कि परामर्श अनुमिति का असाधारण कारण तो है ही, संस्कार उसका व्यापार है, अत उसको करण स्वीकार करने मे कोई आपत्ति न होनी

---

१ तत्वचिन्तामणि पृ० ६८६-९०

चाहिए । चूंकि परामर्श के तत्काल अनन्तर सस्कार और अनुमिति दोनो की ही उत्पत्ति होती है, अत समकालीन सस्कार और अनुमिति में एक को दूसरे की उत्पत्ति मे कारण का व्यापार मानना उचित नही है ।[1] अतएव वे दूसरा समाधान यह देते हैं कि करण होने के लिए उसका व्यापार युक्त होना आवश्यक नही है 'कार्य के अव्यवहित पूर्व विद्यमान कारण ही करण हैं ।[2]

विश्वनाथ व्याप्तिज्ञान को करण तथा परामर्श को व्यापार मानते हैं। इस प्रकार उनके मत मे करण लक्षण मे कोई सशोधन नही करना पडता । व्याप्तिज्ञान को करण मानते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वनाथ 'फल से अव्यवहित पूर्ववर्त्ती को करण' मानने को प्रस्तुत नही है । क्योकि उस स्थिति मे प्रत्यक्ष के प्रसङ्ग मे इन्द्रियो को ज्ञान का करण न माना जा सकेगा, जबकि सूत्रकार गौतम ने इन्द्रिय को प्रत्यक्षज्ञान का करण स्वीकार किया है ।[3] इसके अतिरिक्त असाधारणकारण को करण मानने मे लाघव भी है ।[4]

लिङ्ग--लीन अर्थ को प्रगट करने वाले पक्षधर्म को लिङ्ग कहते है । परार्थानुमान के अवसर पर प्रयुक्त पञ्चावयव न्यायवाक्य के द्वितीय अवयव मे लिङ्ग का शब्दत कथन किया जाता है, उस स्थिति मे लिङ्ग के बोधक उस अवयव को ही हेतु कह लिया जाता है । किन्तु लिङ्ग न्याय (पञ्चावयव) वाक्य का अग नही है, यह प्रत्यक्ष का विषय तथा पक्ष मे विद्यमान धर्म विशेष है । किन्तु न्यायशास्त्र मे लिङ्ग और हेतु शब्द समानान्तर व्यवहृत होते है ।[5] लिङ्ग अथवा लिङ्ग का शब्दत कथन (हेतु) अनुमान प्रक्रिया का आधार स्तम्भ है । इसके आधार पर ही अनुमिति को प्रामणिक अथवा अप्रामाणिक माना जा सकता है । यह हेतु सद्धेतु भी हो सकता है और असद् हेतु भी असद् हेतु को ही हेत्वाभास (Fallacy) कहते है । यह लिङ्ग तीन प्रकार का हो सकता है केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी ।[6]

केवलान्वयी हेतु वह है, जो साध्य के साथ सदा देखा जाता हो, किन्तु साध्याभाव के साथ जिसका अभाव देखा न जा सके, अर्थात् जिसका

---

१. तत्वचिन्तामणि पृ० ७८३ २ भाषारत्न पृ० ७२
३. न्यायसूत्र १. १. ४ ४. न्यायचन्द्रिका पृ० ८४
५ वैशेषिक सूत्र ६ २-४ ६ प्रमाणवार्त्तिक पृ० ८

अभावात्मक उदाहरण न मिल सके । जैसे· 'घडा अभिधेय (वाणी का विषय) है, प्रमेय (ज्ञान का विषय) होने से' इस अनुमान मे साध्य अभिधेय होना तथा लिङ्ग या हेतु **प्रमेय होना** है । हेतु और साध्य के साहचर्य के लिए अन्वय उदाहरण तो विश्व का प्रत्येक पदार्थ हो सकता है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ ज्ञान और वाणी का विषय है, किन्तु यदि हम ऐसा उदाहरण देखना चाहे, जो न ज्ञान का विषय हो और न वाणी का विषय हो, तो ऐसा उदाहरण मिलना सम्भव न हो सकेगा । ऐसे हेतु को ही केवलान्वयी हेतु कहा जाता है । इस हेतु मे केवल सपक्ष उदाहरण ही प्राप्त होगा विपक्ष उदाहरण नही ।'*

केवलव्यतिरेकी हेतु का सपक्ष उदाहरण नही होता, अर्थात् किसी भी भाव स्थल मे हेतु और साध्य की सत्ता एक साथ दृष्टिगत नही हो सकती । किन्तु जहा जहा साध्य का अभाव होता है, वहा वहा हेतु का अभाव नियत रूप से रहता है। इस प्रकार अभाव स्थल मे ही जिसका नियत साहचर्य प्राप्त हो सके वह व्यतिरेकी हेतु है । जैसे . 'पृथिवी जल आदि से भिन्न है, गन्धयुक्त होने से, जो गन्धयुक्त नही है वह जल आदि से भिन्न नही है, जैसे जल ।' इस अनुमान मे हेतु व्यतिरेकी है, क्योंकि जल आदि मे गन्ध (हेतु) का अभाव है, तो पृथिवी भिन्न से भेद (साध्य) का भी अभाव है, इस प्रकार यहा विपक्ष उदाहरण तो अनेक हो सकते है, किन्तु सपक्ष उदाहरण एक भी नही हो सकता, अत इसे व्यतिरेकी अथवा केवलव्यतिरेकी हेतु कहा जाएगा ।[२]

अन्वयव्यतिरेकी हेतु वह है 'जो साध्य के साथ अन्वय साहचर्य और व्यतिरेक साहचर्य दोनो से युक्त हो । अन्वय साहचर्य का तात्पर्य है कि जहा जहा हेतु का दर्शन हो वहा वहा साध्य का दर्शन भी अनिवार्यत होता हो, तथा व्यतिरेक साहचर्य का तात्पर्य है जहा जहा साध्य न हो वहा वहा हेतु के भी दर्शन न हो । इस प्रकार जिसके दोनो प्रकार के उदाहरण प्राप्त हो वह अन्वयव्यतिरेकि हेतु है । जैसे अग्नि साधक अनुमान का हेतु धूम

*अन्वयी हेतु के उदाहरण को सपक्ष कहते है, इसमे हेतु और साध्य दोनो ही विद्यमान रहते है । व्यतिरेकि हेतु के उदाहरण को विपक्ष कहते हैं, इसमे हेतु और साध्य की भावात्मक सत्ता का अभाव निश्चित रहता है ।

१. तर्कभाषा प्रकाशिका पृ० १४४ २ वही पृ० १४५

जहा जहा है, वहा वहा अग्नि भी अवश्य है, रसोई घर आदि मे इसे देखा जा सकता है, यहा धूम के रहने पर अग्नि का रहना निश्चित है, अतः अन्वयव्याप्ति हुई, तथा जहा जहा साध्य अग्नि नही है, वहा वहा हेतु धूम भी नही है, जैसे : जलाशय मे साध्य अग्नि का अभाव है, तो हेतु धूम का अभाव भी सर्वथा निश्चित है। इस प्रकार जिस हेतु के सपक्ष और विपक्ष दोनो प्रकार के उदाहरण सभव हो, उस हेतु को अन्वयव्यतिरेकी हेतु कहा जाता है।[1]

अन्वयव्यतिरेकी हेतु पर विचार करते समय यह बात ध्यान देने योग्य है कि अन्वयव्याप्ति मे जो व्याप्य होता है, व्यतिरेकव्याप्ति मे उसका अभाव व्याप्य न होकार व्यापक होगा। इसी प्रकार अन्वयव्याप्ति मे जो व्यापक होता है व्यतिरेकव्याप्ति मे उसका अभाव व्यापक न होकर व्याप्य होगा। जैसे 'जहा जहा धूम है' वहा वहा अग्नि है' इस अन्वयव्याप्ति मे धूम व्याप्य है और अग्नि व्यापक, व्यतिरेकव्याप्ति मे 'जहा जहा अग्नि नही है, वहा वहा धूम भी नही है' मे धूम का अभाव जो अन्वय व्याप्ति मे व्याप्य था, व्यापक है, तथा अग्नि का अभाव, जो अन्वयव्याप्ति मे व्यापक था, व्याप्य है।

केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी हेतु के आधार पर अनुमान भी केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि और अन्वयव्यतिरेकि भेद से तीन प्रकार का हो जाता है। इसी प्रकार व्याप्ति और उदाहरण भी उक्त भेद से तीन प्रकार के कहे जा सकते है।

केवलान्वयि हेतु के सम्बन्ध मे 'सब कुछ अभिधेय अर्थात् वाणी का विषय है, प्रमेय अर्थात् ज्ञान का विषय होने से' यह उदाहरण दिया गया था। यहा एक प्रश्न हो सकता है कि इस अनुमान मे पक्ष 'सब कुछ' है जिसमे अभिधेयत्व की सिद्ध की जा रही है। किन्तु अनन्त विश्व की अनेक ऐसी वस्तुए हो सकती है, जो अब तक मानव के मस्तिष्क से परे है, और इसीलिए अभिधेय अर्थात् वाणी का भी विषय भी नही है, अर्थात् उनके नाम आदि नही है। इस प्रकार की अनन्त वस्तुओ की सभावना होने पर साध्य तथा हेतु का व्यतिरेकी उदाहरण मिलना असभव नही है, अत इसे अन्वयी हेतु कैसे कहा जाए। इस आशका का समाधान अन्नभट्ट ने सर्वद्रष्टा परमेश्वर

---

१ वही पृ० पृ० १४७

के ज्ञान और उसकी वाणी का विषय मानते हुए उन अज्ञात पदार्थों को भी ज्ञात और वाणी का विषय मानकर किया है।[1] इस आशका का दूसरा समाधान काल अथवा प्रमाता को आधार मानकर भी किया जा सकता है, अर्थात् जिस काल मे जो वस्तु जिस प्रमाता के ज्ञान का विषय होगी, उस काल मे वह उस प्रमाता की वाणी का भी विषय अवश्य ही होगी।[2]

व्यतिरेकि अनुमान के सम्बन्ध मे भी एक आक्षेप सभव है कि पृथिवी जल आदि से भिन्न है' इस अनुमान मे प्रश्न उपस्थित होता है कि अनुमीयमान जल आदि से भेद प्रसिद्ध है, अथवा अप्रसिद्ध ? यदि प्रसिद्ध है, तो अन्वय उदाहरण मिलने से इसे **केवल व्यतिरेकि** नही कह सकते। क्योकि जल आदि से भिन्न और गन्ध युक्त उस प्रसिद्ध पदार्थ के रूप मे सपक्ष दृष्टान्त मिलने से यह व्यतिरेकि अनुमान नही रहेगा। यदि हेतु गन्ध उस भिन्न वस्तु मे नही है, तो **गन्धवत्व हेतु** केवल पक्षवृत्ति होने से **असाधारण** हेत्वाभास कोटि मे आजाएगा। यदि यह मान ले कि 'साध्य अप्रसिद्ध है' तो **अनुमिति** नहीं हो सकती, क्योकि यदि पृथिवी भिन्न जल आदि से भेद अप्रसिद्ध है, तो ऐसी स्थिति मे उसके अभाव का ज्ञान नही हो सकता, एव अभावरूप विशेषण को जाने बिना विशेष्य का ज्ञान असम्भव है, फलत न तो व्याप्ति ग्रहण हो सकेगा और न साध्य के अज्ञात होने के कारण अनुमिति ही हो सकेगी। इस प्रकार इतरभेदाभाव का ज्ञान न होने के कारण **व्यतिरेकव्याप्ति** भी न हो सकेगी।

व्यतिरेकी हेतु मानने वालो के लिए उपर्युक्त आपत्ति एक प्रकार का सिर दर्द है। तर्कदीपिकाकार अन्नभट्ट ने यद्यपि उपर्युक्त आपत्ति का समाधान देने का प्रयत्न किया है, किन्तु वह वास्तविक की अपेक्षा शाब्दिक अधिक है। अन्नभट्ट का कथन है कि पृथिवी आदि नौ द्रव्य तथा गुण कर्म आदि पदार्थ परस्पर एक दूसरे से भिन्न है, फलत जल तेज आदि सभी शेष तेरह से भिन्न है, पृथिवी मे उन्ही भेदो की सिद्धि सामूहिक रूप से की जाती है। इस प्रकार सामूहिक भेद दृष्टिगत न होने से सपक्ष दृष्टान्त न बन सकेगा, एव इसीलिए **अन्वयव्याप्ति** भी न बन सकेगी। परन्तु पृथिवी आदि का पृथक् पृथक् भेद

१ तर्कदीपिका पृ० १०२

२ रामरुद्री (तर्कदीपिका टोका) पृ० २८१।

प्रसिद्ध होने के कारण असाधारण हेत्वाभास भी न कहा जा सकेगा। इनका परस्पर भेद चू कि प्रत्येक अधिकरण मे प्रसिद्ध है, अतः व्यतिरेक व्याप्ति और उसके द्वारा साध्यविशिष्ट अनुमिति मे कोई बाधा न आ सकेगी।[1]

ऊपर की पक्तियो मे हमने देखा है कि **केवलव्यतिरेकि** अनुमान मे साध्य केवल पक्ष मे ही रहता है, वह केवल पक्ष का ही धर्म है, साथ ही अज्ञात है। इस अज्ञात धर्म की जानकारी अनुमान के माध्यम से होनी असम्भव है। क्योकि अनुमान मे सामान्य नियम से एक विशेष साध्य को ही स्वीकार किया जाता है, यहा यह असाधारण धर्म, जो कि पूर्वत पूर्णतया अज्ञात है, इस प्रक्रिया मे नही जाना जा सकता। दूसरा मार्ग प्रत्यक्ष का है उसस्थिति मे अनुमान की आवश्यकता ही न रह जाएगी। इस प्रकार उपर्युक्त आक्षेप का अन्नभट्ट कृत समाधान उपयुक्त नही कहा जा सकता।

हेतु और अनुमान का तीन प्रकार का यह विभाजन नव्यन्याय के ग्रन्थो मे ही मिलता है, नव्य नैयायिको को इस प्रकार के विभाजन की प्रेरणा अवश्य ही गौतमकृत साधर्म्य और वैधर्म्य द्वारा किये गये हेतु के विभाजन से मिली है।[2] हेतु के दो भेद होने से ही उसपर आश्रित **उदाहरण उपनय और निगमन** के भी दो दो भेद हो जाते है। हेतु मे भी यह **साधर्म्य और वैधर्म्य** दृष्टान्त पर आधारित रहता है। हेतु द्वारा पक्ष मे साध्य की सिद्धि व्याप्ति ज्ञान के बिना सम्भव नही है, तथा व्याप्ति एक प्रकार से हेतु धर्म है, अत हेतु के आधार पर व्याप्ति के भी उपर्युक्त भेद हो जाते है। एव हेतु और व्याप्ति पर आश्रित अनुमान भी पूर्वोक्त प्रकार से विभाजित हो जाता है। सूत्रकार गौतम ने यद्यपि हेतु का साधर्म्य और वैधर्म्य रूप से दो प्रकार का विभाजन ही किया था, अत अनुमान और उसके अगो के भी केवल दो-दो भेद ही होने चाहिए थे, किन्तु उत्तरवर्त्ती आचार्यों ने साधर्म्य और वैधर्म्य के आधार पर हेतु आदि की पृथक् सत्ता स्वीकार करते हुए उनके सयुक्त स्वरूप को भी स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किया है, जिसका नाम अन्वयव्यतिरेकी हेतु है।

मीमासक और वेदान्ती केवलव्यतिरेकि अनुमान को स्वीकार नही करते। इसके बदले वे प्रमाणो मे **अर्थापत्ति** नामक स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार करते

१. तर्क दीपिका पृ० १०३—१०४ २. न्याय सूत्र १. १ ३४-३५

हैं, एव व्यतिरेकि अनुमान के सम्पूर्ण उदाहरण उनके अनुसार **अर्थापत्ति** प्रमाण के उदाहरण बन जाते है। उनका विचार है कि 'अनुमान **अन्वयिरूप** केवल एक प्रकार का ही है, **केवलव्यतिरेकि, केवलान्वयि** और **अन्वयव्यतिरेकि** भेद से तीन प्रकार का नहीं है। चूकि वेदान्त मत मे सभी वस्तुए ब्रह्ममय है, अत ब्रह्मनिष्ठ अत्यन्ताभाव सम्भव ही नही है, और इसीलिए **व्यतिरेकि अनुमान** भी सम्भव नही है। व्यतिरेकी हेतु और व्यतिरेकव्याप्ति के अभाव मे **केवलव्यतिरेकि अनुमान** तथा व्यतिरेकि सयुक्त अन्वयि अर्थात् **अन्वयव्यतिरेकि अनुमान** का होना भी सभव नही है। इस प्रकार केवलव्यतिरेकी एव अन्वयव्यतिरेकी हेतु या अनुमान नही हो सकने, और इसीलिए अन्वयि अनुमान मे केवल विशेषण लगाने की आवश्यकता भी नही रह जाती। जहा तक प्रश्न व्यतिरेकि अनुमान के उदाहरणो का है जहा धूम आदि अन्वय व्याप्ति ज्ञान के बिना भी व्यतिरेक व्याप्ति के ज्ञान से ही साध्य का ज्ञान होना है, वहा वह ज्ञान अनुमान द्वारा न होकर अर्थापत्ति द्वारा होता है।'[1]

अनुमान भेद और उनकी मीमांसा

एक ज्ञान से अन्य ज्ञान प्राप्त करने की प्रकिया मे जहा सामान्य नियम से विशेष निर्णय प्राप्त किया जाता है अर्थात् व्यापक नियम के आधार पर असाधारण नियम की स्थापना की जाती है, उसे ही प्रमाणिक और उचित कहा जा सकता है। किन्तु यह प्रक्रिया केवलान्वयि अनुमान मे सगत नही होती, वहा तो साध्य स्वय ही व्यापकतम अथवा सामान्य होता है, अत केवलान्वयि अनुमान को निर्दोष नही कहा जा सकता।

व्यतिरेकि अनुमान को भी निर्दोष नही कहा जा सकता, क्योकि इसमे साध्य केवल पक्ष मे ही रहता है। साध्य और हेतु के सहचार दर्शन के लिए उदाहरण का मिलना सम्भव नही होता। यदि किसी प्रकार उदाहरण मान भी लिया जाए तो वहा हेतु और साध्य दोनो ही सहचरित प्रतीत होते है, फलस्वरूप उन हेतु और साध्य मे व्याप्यव्यापकभाव नही हो सकता। नैयायिकों की मान्यता के अनुसार चूकि परामर्श मे साध्यव्याप्यलिङ्ग का ज्ञान आवश्यक होता है, तथा यह साध्यव्याप्य लिङ्गज्ञान तभी सम्भव है, जबकि साध्य का व्यापकत्व

---

१ वेदान्त परिभाषा पृ० १४८—१५०

एव लिङ्ग का व्याप्यत्व सिद्ध हो। व्यतिरेकव्याप्ति मे स्थिति इसके विपरीत है, यहा साध्याभाव हेत्वभाव का व्याप्य है। इस प्रकार यहा व्याप्ति विशिष्ट साध्य होगा, हेतु नही, फलस्वरूप व्याप्ति विशिष्ट पक्ष धर्म का ज्ञान न होने से परामर्श के अभाव मे अनुमिति न हो सकेगी। नैयायिको ने इस आपत्ति का समाधान 'व्याप्ति विशिष्टत्व को पक्ष के धर्म हेतु का धर्म न मानकर 'पक्ष-धर्मताज्ञान का धर्म मानकर किया है। किन्तु फिर भी यह समस्या तो बनी ही रहती है कि व्यतिरेकिअनुमान मे चू कि व्याप्य अभावात्मक है, अत फल भी अभावात्मक ही होना चाहिए, किन्तु नैयायिक भावात्मक फल प्राप्त करने का प्रयत्न करते है। इस समस्या का समाधान सिद्धान्त चन्द्रोदयकार ने इस प्रकार दिया है कि यद्यपि व्याप्ति साध्याभाव मे रहती है, किन्तु वहा भी साधन प्रतियोगी के रूप मे जाना जाता है, किसी अभाव का प्रतियोगी अभाव रूप न होकर भाव रूप ही होता है तथा भाव रूप होने से अभाव के रूप मे व्याप्य प्रतीत होता हुआ लिङ्ग, भाव रूप मे व्यापक ही प्रतीत होगा, अत भावावस्था मे व्याप्ति हेतु मे ही रहेगी साध्य मे नही।[1] निदान व्यतिरेक व्याप्ति मे भी साधन के पक्ष वृत्तित्व ज्ञान से अनुमिति ज्ञान अवश्य होगा।

केशव मिश्र ने उपर्युक्त तीनो हेतुओ मे कुछ विशेष धर्मों की चर्चा की है एव कहा है कि उन समस्त धर्मो (तत्वो) के रहने पर ही ये हेतु पक्ष मे साध्य की सिद्धि करने मे समर्थ हो पाते है। उनके अनुसार अन्वयव्यतिरेकी हेतु मे निम्नलिखित पाच धर्म होने आवश्यक है **पक्षसत्व, सपक्षसत्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व** एव **असत्प्रतिपक्षत्व**।[2] इन धर्मो या विशेषताओ के अभाव मे अन्वयव्यतिरेकि हेतु हेतु न रहकर हेत्वाभास हो जाता है। जैसे —'पर्वत वह्नियुक्त है धूम युक्त होने से।' इस अनुमान मे धूमवान् होना अन्वयव्यतिरेकि हेतु है। इसमे पाचो धर्म होने चाहिए। चूकि पर्वत मे अग्नि की सिद्धि की जा रही है, जब तक पर्वत मे अग्नि की सिद्धि न हो जाए, तब तक उसमे साध्य अग्नि का सन्देह ही रहेगा, अत. सन्दिग्ध-साध्यवाला होने से पर्वत पक्ष कहा जाता है, और धूम हेतु उसमे रहता है;

---

१ सिद्धान्त चन्द्रोदय अनुमिति खण्ड

२. (क) तर्कभाषा पृ० ४२ (ख) तर्ककौमुदी पृ० १२

अतः उस धूम हेतु मे अन्वयव्यतिरेकी हेतु का प्रथम धर्म **पक्षसत्व** विद्यमान है। दूसरा धर्म **सपक्षसत्व** है। जिसमे साध्य का निश्चय हो उसे सपक्ष कहते हैं। जैसे अग्नि के अनुमान मे रसोईघर सपक्ष है। प्रस्तुत अनुमान का हेतु धूम सपक्ष रसोईघर में विद्यमान है, अत. हेतु का दूसरा धर्म सपक्षसत्व इसमे विद्यमान है। जिसमे साध्य का अभाव निश्चित हो, उसे विपक्ष कहते है, सद्धेतु मे विपक्षव्यावृत्ति अर्थात् विपक्ष मे उसका अभाव भी होना आवश्यक है। साध्य अग्नि का जलाशय मे अभाव निश्चित है, अत वह अग्नि का विपक्ष हुआ उसमे धूम हेतु का अभाव (व्यावृत्ति) है, अत हेतु का तृतीय धर्म विपक्षव्यावृत्ति भी इसमे विद्यमान है ही। हेतु के चतुर्थ धर्म **अबाधित** विषय का अर्थ है कि हेतु के साध्य का अभाव किसी अन्य प्रमाण द्वारा निश्चित न हो। जैसे कार्य अग्नि उष्णता रहित है, कार्य होने से, घडे के समान' इस अनुमान मे कार्यत्व हेतु द्वारा अग्नि मे उष्णता का अभाव सिद्ध किया जा रहा है, किन्तु उसमे उष्णता प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध है, अत यह हेतु अबाधितविषय न होकर बाधितविषय है। पर्वत मे अग्नि साधक अनुमान मे धूम हेतु द्वारा साध्य अग्नि है, उसका अभाव किसी भी प्रमाण द्वारा बाधित नही है, अत वह अबाधित विषय धर्म से भी युक्त है। अन्वयव्यतिरेकी हेतु का पाचवा धर्म **असत्प्रतिपक्षत्व** है। साध्य मे विपरीत अर्थात् साध्याभाव के साधक हेतु को प्रतिपक्ष कहते है।[1] यदि हेतु के साथ प्रतिपक्ष हेतु भी हुआ तो दो विरोधी अनुमानो द्वारा प्राप्त दो विरोधी ज्ञानो मे दोनो ही अप्रमाणिक हो जाते है, अत सद् हेतु के लिए आवश्यक है कि इसका प्रतिपक्ष हेत्वन्तर विद्यमान न हो। प्रस्तुत अनुमान के हेतुधूम का प्रतिपक्ष अन्य हेतु विद्यमान नही है, अत इसमे पञ्चम हेतुधर्म भी विद्यमान है, यह कहा जा सकता है। न्यायबिन्दुकार ने हेतु मे उपर्युक्त पाच धर्म न मानकर प्रारम्भ के केवल तीन ही धर्म आवश्यक माने है। अन्तिम दो के होने पर तो कोई भी हेतु हेत्वाभास ही बन जाता है, चू कि वे हेत्वाभास के धर्म है, अत उनका अभाव सद् हेतु मे स्वत. ही अनिवार्य है।[2]

तर्क भाषा के व्याख्याकार चिन्नभट्ट का विचार है कि हेतु मे इन पाच धर्मों की सत्ता उसमे हेत्वाभासत्व* का अभाव सिद्ध करने के लिए आवश्यक है। जैसे

*हेत्वाभासो का विवेचन अग्रिम पृष्ठो मे द्रष्टव्य है।

१. वही पृ० ४३ २ न्यायबिन्दु पृ० १०४

असिद्ध हेत्वाभास की निवृत्ति के लिए पक्षधर्मत्व, विरुद्ध की निवृत्ति के लिए सपक्षसत्व, अनैकान्तिक की निवृत्ति के लिए विपक्षव्यावृत्ति, कालात्ययापदिष्ट (बाधित) की निवृत्ति के लिए अबाधितविषयत्व तथा सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास की निवृत्ति के लिए असत्प्रतिपक्षत्व धर्म का कथन किया ही जाना चाहिए।[1] केवलान्वयी हेतु मे उपर्युक्त पाच हेतु धर्मों मे से केवल चार धर्म ही होते है, उसमे विपक्ष व्यावृत्ति धर्म नही होता । इसी प्रकार केवलव्यतिरेकी मे भी सपक्षसत्व के अतिरिक्त शेष चार धर्म ही होते है।[2]

तर्कभाषाकार के अतिरिक्त अन्य नैयायिको ने इन पाच हेतु धर्मों की स्पष्ट शब्दो मे चर्चा नही की है । इसका कारण संभवत अनेक स्थलो मे इन पाच मे से किसी एक के अभाव मे भी साध्य की सिद्धि होना है । उदाहरणार्थ उपर्युक्त अनुमान के हेतु 'धूम' मे सपक्षसत्व धर्म का अभाव भी देखा जा सकता है । जैसाकि पूर्व पक्तियो मे कहा जा चुका है कि जहा साध्य की सत्ता निश्चित हो वह सपक्ष कहता है । रसोईघर मे अग्नि की सत्ता प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा निश्चित है, अत रसोईघर सपक्ष है । रसोईघर के समान ही गरम लोहे के गोले मे भी त्वाचप्रत्यक्ष द्वारा अग्नि का होना निश्चित है, अत उसे भी सपक्ष ही कहा जाएगा, इस सपक्ष मे धूम की सत्ता नही है, अत इसके हेतु मे सपक्षसत्व धर्म का अभाव भी है । किन्तु नैयायिक इसे असद् हेतु मानने को प्रस्तुत नही है, और नही वे इस हेतु को केवल-व्यतिरेकी ही मानते है । सभवत यही कारण है कि प्राय अन्य सभी नैयायिको ने हेतु के इन पाच धर्मों की चर्चा नही की हैं ।

हेत्वाभास

किसी भी अनुमान की प्रमाणिकता के लिए नैयायिक आवश्यक मानते हैं कि उस मे प्रयुक्त हेतु सद्धेतु हो हेत्वाभास नही । हेतु यदि हेत्वाभास हुआ, तो अनुमान प्रामाणिक न हो सकेगा । प्रसिद्ध दार्शनिक दिङ्नाग ने हेत्वाभासो के अतिरिक्त पक्षाभास और दृष्टान्ताभास नामक दो अन्य दोष भी स्वीकार किये है, जिनके रहने पर वह अनुमान नही रह जाता । दिङ्नागने न्याय (अनुमान वाक्य) के तीन अवयव माने थे, और तीनो मे से किसी एक

---

१. तर्कभाषा प्रकाशिका पृ० १४८ २. तर्क भाषा पृ० ४३-४४

के भी दोष युक्त रहने पर उनके अनुसार अनुमान अप्रामाणिक हो सकता है। तथा उसे अनुमान अथवा साधन न कहकर **साधनाभास** कहा जाएगा।[१] उनके अनुसार **पक्षाभास** नव प्रकार का है : प्रत्यक्षविरुद्ध, **अनुमानविरुद्ध,** आगमविरुद्ध, लोकविरुद्ध, स्ववचनविरुद्ध, अप्रसिद्ध विशेषण, **अप्रसिद्ध विशेष्य,** अप्रसिद्धोभय और अप्रसिद्ध सम्बन्ध।[२] दिङ्नाग ने **हेत्वाभास** मुख्यत **केवल** तीन माने हैं असिद्ध अनैकान्तिक और विरुद्ध। किन्तु उनके **अनुसार इनके** भेदोपभेदों की कुल संख्या चौबीस है, जिनमें **असिद्ध** उभयासिद्ध **अन्यतरासिद्ध** सन्दिग्धासिद्ध और आश्रयासिद्ध भेद से चार प्रकार का है।[३] **अनैकान्तिक** साधारण असाधारण सपक्षैकवृत्तिविपक्षव्यापी विपक्षैकवृत्तिसपक्षव्यापी उभयपक्षैकवृत्ति एवं विरुद्धाव्यभिचारी भेद से छः प्रकार का है।[४] **विरुद्धाव्यभिचारी** हेत्वाभास विरुद्ध के चार भेद होने से चार प्रकार का हो जाता है धर्मस्वरूप विपरीतसाधन, धर्मविशेष विपरीतसाधन, धर्मिस्वरूप विपरीत साधन तथा धर्मिविशेष विपरीत साधन।[५] व दृष्टान्ताभास के **साधर्म्य वैधर्म्य** भेद से प्रथम दो भेद स्वीकार कर प्रत्येक के पाँच पाँच भेद मानते हैं। उनके **अनुसार साधर्म्य दृष्टान्ताभास** साधनधर्मासिद्ध साध्यधर्मासिद्ध, उभयधर्मासिद्ध, अनन्वय और विपरीतान्वय भेद से पाँच प्रकार का, तथा **वैधर्म्य दृष्टान्तभास** साध्याव्यावृत्त, साधनाव्यावृत्त, उभयाव्यावृत्त, अव्यतिरेक तथा विपरीतव्यतिरेक भेद से पाँच प्रकार का है।[६] फलत दृष्टान्ताभास दस प्रकार का है। इस प्रकार उनके मत में कुल मिलाकर बयालीस अनुमान दोष हो सकते हैं।

न्याय दर्शन में भी हेत्वाभासों के अतिरिक्त चौबीस जातियों तथा बाइस निग्रहस्थानों का वर्णन किया गया है।[७] वे भी एक प्रकार से अनुमान के दोष ही हैं, किन्तु उनका प्रयोग जय पराजय की दृष्टि से किया जाता है,[८] जबकि अनुमान यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए किया जाता है, तथा अनु-

१ न्याय प्रवेश पृ० ७ २ वही पृ० ३ ३. वही पृ० ३
४ वही पृ० ३ ५. वही पृ० ५ ६ वही ५—६
७ (क) न्यायदर्शन ५ १ १ (ख) वही ५ २ १।
८ न्यायवार्तिक पृ० ८२८

मान का मुख्य साधन हेतु है, अत: उसके ही सदोष होने पर अनुमान मे बाधा होगी, यही कारण है कि अनुमान के विवेचन मे सूत्रकार अथवा अन्य नैयायिको ने हेत्वाभासो का ही विवेचन किया है, जाति अथवा निग्रहस्थानो का नही।

नैयायिक पक्षाभास और दृष्टान्ताभासो को साक्षात् अनुमान का विरोधी नही मानते। इसके अतिरिक्त उनमे से कई एक का हेत्वाभासो मे अन्तर्भाव हो जाता है। उदाहरणार्थ 'शब्द अश्रावण है' कार्य होने से घट के समान' इस अनुमान मे दिङ्नाग ने **प्रत्यक्षविरुद्ध पक्षाभास** माना है, जबकि नैयायिको के अनुसार यहा **बाधित** हेत्वाभास है, क्योकि यहा साध्य का अभाव श्रावणत्व प्रत्यक्ष से सिद्ध है। इसी प्रकार 'घडा नित्य है, सत्तावान् होने से' आत्मा के समान' दिङ्नाग का यह **अनुमानविरुद्ध पक्षाभास** नैयायिकों का **सत्प्रतिपक्ष** हेत्वाभास होगा, क्योकि साध्याभाव अनित्यत्व का साधक अन्य हेतु 'कार्य होने से घडा अनित्य है' विद्यमान है। दृष्टान्ताभास साक्षात् अनुमान मे बाधक न होकर हेतु के सद् हेतु होने मे ही बाधक है, अत उनकी अनुमान के बाधक के रूप मे परिगणन की आवश्यकता नही रह जाती।

चू कि अनुमान का मूल आधार हेतु ही है, अत अनुमान द्वारा यथार्थज्ञान की कामना करने वाले अथवा न्याय के विद्यार्थी के लिए आवश्यक है कि वह सद् हेतु और असद् हेतु का परीक्षण कर सके। जिस प्रकार सद् हेतु की अनुपस्थिति मे उचित अनुमान नही किया जा सकता, उसी प्रकार हेत्वाभास की उपस्थिति मे भी अनुमान का सफल हो सकना सभव नही है।

व्युत्पत्ति के अनुसार **हेत्वाभास** पद के दो अर्थ हो सकते हैं हेतु के सामान प्रतीत होनेवाले (हेतुवद् आभासन्ते इति हेत्वाभासा) तथा हेतु मे प्रतीत होने वाले धर्म (हेतौ आभासन्ते)। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार हेत्वाभास पद को **दुष्ट हेतु** का वाचक होना चाहिए, किन्तु द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार हेत्वाभास पद का अर्थ **हेतु के दोष** होना चाहिए। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार हेत्वाभास पद का अर्थ अहेतु किया है। जो हेतुओ से कुछ समानता रखने के कारण हेतु की भाति प्रतीत होते है।[1] प्रशस्तपादभाष्य के टीकाकार व्योमशिवाचार्य तथा तर्कभाषाप्रकाशिका

---

१ न्याय भाष्य पृ० ३९

के लेखक चिन्नभट्ट भी हेत्वाभास पद का अर्थ 'हेतु की भांति प्रतीत होनेवाला अहेतु' ही किया है।[१] भाषारत्नकार भी इसी पक्ष के समर्थक है। यद्यपि वे द्वितीयव्युत्पत्ति देते हुए **हेतुदोष** परक व्याख्या भी करते है।[२] किन्तु हेत्वाभास पद का दुष्ट हेतु अर्थ करने पर इनके विभाजन के लिए हेतुमूलक कोई आधार नही रहता, जबकि हेतुदोष अर्थ मानने पर दोषो के पञ्चविध होने से हेत्वाभासों के पाच भेद करने मे एक विशिष्ट आधार मिल जाता है। चूकि गौतम ने स्वय पाच हेत्वाभास स्वीकार किये है[३] तथा इस विभाजन को आधार दोष ही हो सकते है। दोष विशेष के आधार पर ही हेत्वाभास विशेष को एक विशेष नाम गौतम ने दिया है, ऐसा नही कि कुछ दोषो को मिलाकर एक नाम दे दिया है, यद्यपि कभी कभी हेत्वाभास मे कई कई दोष भी आ गये है। जैसे . 'वायु गन्ध युक्त है, स्नेह युक्त होने से' इस एक अनुमान मे स्नेह हेतु है, यह हेतु पाचो हेत्वाभासो के अन्तर्गत आ सकता है। इसी प्रकार 'घडा सत्तावाला है, क्योकि वह दीवाल है' यहा हेतु दीवाल सभी हेत्वाभासो मे समाहित हो सकता है। इसी भाति 'यह झील अग्नियुक्त है धूम युक्त होने से' इस अनुमान मे **बाधित सत्प्रतिपक्ष और स्वरूपासिद्ध** तीन हेत्वाभास हो सकते हैं। 'पर्वत धूमयुक्त है अग्निवाला होने से' इसमे 'अग्नि युक्त' हेतु **साधारण अनैकान्तिक** एव **व्याप्यत्वासिद्ध** हेत्वाभास है। इस प्रकार दोषो के मिश्रण को गौतम ने स्वतन्त्र नाम नही दिया है, अत गौतम हेत्वाभास पद का अर्थ हेतु दोष परक मानते है, यह कहा जा सकता है।

यहा एक प्रश्न हो सकता है कि ऊपर की पक्तियो मे एक हेतु मे अनेक हेत्वाभासो की चर्चा की गयी है, किन्तु यह कैसे सभव है कि एक ही हेतु अनेक हेत्वाभासो का एक साथ उदाहरण बन सके। इस आशका का उत्तर देते हुए दीधितिकार ने स्पष्ट कहा है कि 'हेत्वाभासो के पांच प्रकार इसलिए नही किये गये है कि दुष्टहेतु पाच प्रकार के ही हैं, हो सकते है। किन्तु इन दुष्ट हेतुओ मे रहनेवाले दोष पाच प्रकार के ही है, भले ही वे दोष एक हेतु मे अकेले रहे अथवा अन्य दोषो के साथ।[४]

---

१. (क) व्योमवती पृ० ६०४ (ख) तर्क भाषा प्रकाशिका पृ० १५२.
२ भाषारत्न पृ० १८०
३ न्याय सूत्र १ २ ४
४ दीधिति हेत्वाभासप्रकरण

परवर्ती नैयायिक गंगेशोपाध्याय और उनके अनुयायी हेत्वाभास पद को दुष्टहेतु परक न मानकर हेतुदोष परक मानते हैं। इसीलिए उन्होंने अनुमिति का प्रतिबन्धक यथार्थ ज्ञान अथवा जो तत्व ज्ञान का विषय बनकर 'अनुमिति का प्रतिबन्धक हो' वह हेत्वाभास है", कहते हुए दोष का ही लक्षण किया है, दुष्ट हेतु का नही। तर्कदीपिकाकार अन्नभट्ट के अनुसार वे हेतु दोष यथार्थ ज्ञान का ही विषय होने चाहिए, भ्रम आदि के विषय नही।[2] इस प्रकार जो स्वय यथार्थ ज्ञान का विषय है, (मिथ्या ज्ञान भ्रम आदि का विषय न हो) एव वही ज्ञान का विषय अनुमिति का प्रतिबन्धक हो रहा हो तो उस हेतु दोषको हेत्वाभास कहते हैं। न्याय लीलावती के टीकाकार आचार्य वर्धमान भी अनुमिति के प्रतिबन्धक ज्ञान के विषय को ही हेत्वाभास कहते है।[3] जैसे 'सरोवर अग्नियुक्त है, धूम युक्त होने से' इस अनुमान मे 'सरोवर वह्नि व्याप्य धूम से युक्त है' इस परामर्श के अनन्तर ही अनुमिति ज्ञान (फल) प्राप्त हो सकता है, किन्तु सरोवर मे धूम नही है, हमारा यह ज्ञान ही अनुमिति का प्रतिबन्धक होता है, यही दोष है। चूकि हेतु मे विद्यमान दोष यथार्थ ज्ञान का विषय न होकर यदि भ्रम आदि का विषय हो, तो दोष का निश्चय न होने से अनुमिति मे बाधा नही हो सकती, इसलिए आवश्यक है कि यह दोष यथार्थ ज्ञान का ही विषय हो। जैसे : 'धूम युक्त होने से पर्वत अग्नि युक्त है' इस अनुमान मे पर्वत पर अग्नि के अभाव का भ्रम बाधक नही बनता, अत इसे हेत्वाभास न कहगे किन्तु यदि वहा अग्नि के अभाव का निश्चयात्मक ज्ञान (यथार्थ ज्ञान) हो, तो अनुमितिज्ञान न हो सकेगा और ऐसी स्थिति मे यह हेतु धूम बाधित हेत्वाभास कहा जाएगा।

हेत्वाभास के इस लक्षण म एक आपत्ति हो सकती है कि कारण की परिभाषा के अनुसार अनुमिति का प्रतिबन्धक तो वही कहा जायेगा, जो प्रतिबन्ध से नियत पूर्ववर्त्ती हो अर्थात् अनुमिति का साक्षात्प्रतिबन्धक हो, किन्तु व्यभिचार विरोध साधनाप्रसिद्धि तथा स्वरूपासिद्धि दोष अनुमिति के साक्षात्प्रतिबन्धक न होकर व्याप्ति ज्ञान, हेतुज्ञान अथवा परामर्श मे प्रतिबन्ध उपस्थित करते है। अनुमिति के प्रतिबन्ध मे तो वे अन्यथासिद्ध (कारण से

---

१ (क) तत्वचिन्तामणि पृ० १५८० (ख) न्याय मुक्तावली पृ० ३१८, ३२६
२ तर्क दीपिका पृ० १०६ ३ न्याय लीलावती प्रकाश पृ० ६०६

पूर्ववर्ती अथवा कारण के कारण होने से हो जाते है, अत इन्हे हेत्वाभास कैसे कहा जाए ?

तर्क दीपिका के टीकाकार नीलकण्ठ ने हेत्वाभास लक्षण मे अनुमिति पद को लाक्षणिक माना है।[1] जिसके फलस्वरूप अनुमिति तथा उसके कारण परामर्श व्याप्ति ज्ञान तथा हेतु ज्ञान मे प्रतिबन्धक तत्वो को भी हेत्वाभास ही कहा जाएगा। दीधितिकार ने अनुमिति पद का अर्थ विशिष्ट अनुमिति लिया है, फलस्वरूप 'पर्वत अग्नि युक्त है, धूम युक्त होने से' इस अनुमिति के प्रतिबन्धक के स्थान पर 'अग्नि व्याप्य धूम से युक्त पर्वत अग्नियुक्त है इस विशेष अनुमिति के प्रतिबन्धक को हेत्वाभास कहा है, विश्वनाथ ने अनुमिति पद के विशिष्ट अर्थ को समझने मे प्रयत्न करने की अपेक्षा हेत्वाभास लक्षण मे अनुमिति के साथ ही अनुमिति के कारण के भी प्रतिबन्धक को हेत्वाभास मान लेने की सलाह दी है।[2] इस प्रकार उपर्युक्त दोष से बचने के लिए हेत्वाभास की यह परिभाषा अधिक उचित होगी कि जो **अनुमिति और उसके करण का प्रतिबन्धक हो, साथ ही यथार्थ ज्ञान का विषय हो, वही हेत्वाभास है।**

शकर मिश्र के अनुसार हेतु को जिन आवश्यक विशेषताओ से युक्त रहना चाहिए उनमे से किसी से भी रहित 'हेतु' **हेत्वाभास** है।[3] केशव मिश्र भी अस्पष्ट रूप से इसके ही समर्थक है।[4] यह परिभाषा यद्यपि दुष्ट हेतु परक है, हेतु दोष परक नही, फिर भी यह जि नी साधारण है, उतनी यथार्थ भी। क्योकि इसमे सद् हेतु मे आवश्यक धर्मों के अभाव को ही आधार माना गया है। जहा तक दुष्टहेतु परक परिभाषा की स्थिति मे हेत्वाभासो के विभाजन का प्रश्न है, इस परिभाषा मे कोई विशेष आपत्ति नही होगी, क्योकि हेतु के दोष युक्त होने मे कारण तो दोष ही है, अत उन कारणो अर्थात् दोषो को यदि उनके विभाजन का आधार बनाया जाये, तो कोई अनौचित्य नहीं है। क्योकि कारण भेद से कार्य भेद नैयायिको का मान्य सिद्धान्त ही है।

हेत्वाभास की परिभाषा के समान अथवा उससे भी अधिक नैयायिक

---

१ नीलकण्ठी पृ० २६१
२ न्यायसूत्रवृत्ति १, २, ४,
३. वैशेषिक सूत्र ३, १ १५.
४ तर्कभाषा पृ० ४

आचार्यों मे मतभेद इनकी संख्या के सम्बन्ध मे है। यह मतभेद मुख्यत: नैयायिको और वैशेषिको के मध्य है। गौतम और उनके अनुयायी पांच हेत्वाभास मानते है[1] कणाद और उनके अनुयायी केवल तीन स्वीकार करते है।[1] प्रशस्तपाद ने यद्यपि एक स्थान पर चार हेत्वाभासो की चर्चा की है।[2] किन्तु हेतु प्रकरण मे उन्होंने ही आचार्य काश्यप के नाम का उल्लेख करते हुए तीन हेत्वाभास ही माने है।[3] यद्यपि उनके द्वारा दोनो स्थानो पर स्वीकृत **विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध** हेत्वाभासो मे चतुर्थ **अनध्यवसित** का अन्तर्भाव माना जा सकता है, क्योकि अनध्यवसाय एक प्रकार का संशय ही है। शंकर मिश्र ने वैशेषिक सूत्र के किसी प्राचीन भाष्यकार का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वृत्तिकार 'अप्रसिद्धोनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेश' सूत्र मे च शब्द का प्रयोग बाध और सत्प्रतिपक्ष के समुच्चय के लिए मानते हैं, जिसके फलस्वरुप गौतम और कणाद के मत मे कोई अन्तर नही रह जाता, किन्तु भाष्यकार ने 'विरुद्धासिद्ध सन्दिग्धमलिङ्ग काश्यपोऽब्रवीत्' अर्थात् 'काश्यप के अनुसार विरुद्ध असिद्ध और सन्दिग्ध तीन ही हेत्वाभास है' कहते हुए तीन हेत्वाभास ही माने है, अतः सूत्रकार की दृष्टि मे भी तीन ही हेत्वाभास है तथा 'च' शब्द का प्रयोग उक्त तीन हेत्वाभास के समुच्चय के लिए है' ऐसा स्वीकार किया है।[4]

वस्तुत हेतुगत धर्म के अभाव से हेतु अहेतु बनता है न कि इसलिए कि उसका प्रतिपक्ष अन्य हेतु अथवा अन्य प्रमाण विद्यमान है। उदाहरणार्थ घड़ा अनित्य है, कार्य होने से वस्त्र के समान' 'घड़ा नित्य है, सत्तावान् होने से आकाश के समान' इन दो अनुमानो मे क्या **कार्य होना** तथा **सत्तावान् होना** इन दोनो हेतुओ को परस्पर प्रतिपक्ष होने के कारण हेत्वाभास कहा जाएगा ? यदि ऐसा है, तो अनुचित है। वस्तुत यहा दोनों हेतुओ की परीक्षा की जाएगी और उस परीक्षा के आधार पर एक हेतु को हेतु तथा अन्य को हेत्वाभास कहा जाएगा। इसी प्रकार अनुमान द्वारा हम किसी वस्तु के सम्बन्ध मे निर्णय कर रहे है, उस वस्तु के सम्बन्ध मे प्रत्यक्ष द्वारा हमे विपरीत ज्ञान प्राप्त होता है, जो कि कालान्तर मे अयथार्थ सिद्ध होता है, किन्तु इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान जब तक अयथार्थ सिद्ध नही होता, तब तक क्या उस प्रत्यक्ष (प्रत्यक्षाभास) के कारण यथार्थ अनुमान के हेतु को हेत्वाभास कहा

१. वैशेषिक सूत्र ३.१ १५ २ प्रशस्तपादभाष्य पृ० ११६
३ वही पृ० १०० ४. वैशेषिक उपस्कार पृ० ६६

जाएगा ? उदाहरणार्थ पत्थर मे घ्राणेन्द्रिय के सन्निकर्ष के कारण गन्धाभाव की प्रतीति होती है, किन्तु चूकि पत्थर के कार्य भस्म मे गन्ध की प्रतीति होती है, अत भस्म पार्थिव है मानकर 'कारण गुण पूर्वक ही कार्य गुण होता है', इस सिद्धान्त के आधार पर 'पत्थर पृथिवी है, गन्धविशिष्ट कार्य भस्म का जनक होने से' इस अनुमान द्वारा हम पत्थर मे पृथिवीत्व सिद्ध करते हैं । किन्तु इस अनुमान मे **गन्धयुक्तकार्यजनक होना हेतु** क्या केवल इसी आधार पर हेत्वाभास कहा जाएगा कि पत्थर मे प्रत्यक्ष द्वारा गन्धाभाव की प्रतीति होती है ? नही, अत हम कह सकते है कि सद्हेतु के सम्पूर्ण धर्म विद्यमान रहने पर केवल प्रतिपक्ष हेतु अथवा विरोधी ज्ञान का उत्पादक प्रमाणान्तर होने मात्र से हेतु हेत्वाभास नही होता । वह हेत्वाभास तब होता है, जब उसमे हेतु मे अपेक्षित सभी धर्म नही होते । इस प्रकार सत्प्रतिपक्ष और बाधित को स्वतन्त्र हेत्वाभास न मानने मे भी कोई दोष नही होना चाहिए ।

हेत्वाभासो के नामो के प्रसग मे भी विविध आचार्यों मे मतैक्य नही है । गौतम ने सव्यभिचार विरुद्ध प्रकरणसम साध्यसम और कालातीत नाम दिये थे । इनमे से प्रथम दो नाम गगेशोपाध्याय और अन्य उत्तरकालीन आचार्यो ने भी स्वीकार किये है ।[१] गौतम के प्रकरणसम के स्थान पर उत्तरकालीन ग्रन्थो मे सत्प्रतिपक्ष नाम मिलता है । गोतम ने सभवत इसे प्रकरणसम इसीलिए कहा था कि इसमे प्रकरण के समान फल प्राप्ति के समय भी साध्य सन्दिग्ध ही रहता है । क्योकि इसमे साध्य के साधक और बाधक दो समान हेतु दिए जाते है । सत्प्रतिपक्ष शब्द से भी यही भाव निकलता है कि अनुमान मे साधक हेतु का प्रतिपक्ष अर्थात् विरोधी साध्य का साधक हेतु विद्यमान है । प्रकरणसम नाम की अपेक्षा सत्प्रतिपक्ष शब्द केवल व्युत्पत्ति के द्वारा इस हेत्वाभास के स्वरूप को अधिक स्पष्ट करता है । गगेश आदि ने गौतम के साध्यसम के स्थान पर असिद्ध नाम दिया है । इसे साध्यसम इसलिए कहा गया था कि जैसे पक्ष मे साध्य सन्दिग्ध रहा करता है, इसी प्रकार हेतु के समान प्रतीत होने वाला यह अहेतु (हेत्वाभास) भी सन्दिग्ध ही रहता है, और इस विशेषता के कारण वह सद्हेतु के समान साध्य के साधन मे समर्थ नही होता । असिद्ध शब्द से भी हेत्वाभास के इसी रूप का

---

१ (क) तत्वचिन्तामणि पृ० १०३६ (ख) भाषारत्न पृ० १८० (ग) तर्कसंग्रह पृ० १०६

स्पष्टीकरण होता है। इतना अवश्य है कि यह नाम (असिद्ध) साध्यसम की अपेक्षा स्पष्ट अधिक है। गौतम के कालातीत के स्थान पर उत्तरकाल मे बाधित नाम प्राप्त होता है। इसे कालातीत इसलिए कहा जाता था कि इसमें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो के विरोध के कारण हेतु का स्वरूप और साध्य दोनो ही सन्देह युक्त काल को प्राप्त रहते है।[1] अर्थात् हेतु और उसका साध्य दोनो ही प्रमाणान्तर के विरोध के कारण उससे से बाधित हो जाते है। उत्तरकाल मे दिया गया बाधित नाम उसके द्वारा उपस्थित बाधा को अधिक स्पष्ट करता है, अत उत्तरकालीन नैयायिको ने कालातीत के स्थान पर बाधित नाम को ही स्वीकार किया है।

आचार्य प्रशस्तपाद तथा उनसे पूर्ववर्त्ती आचार्य काश्यप विरुद्ध असिद्ध और सन्दिग्ध नाम से कणाद स्वीकृत अप्रसिद्ध असत् और सन्दिग्ध को ही स्वीकार करते है।[2] गौतम तथा परवर्त्ती नैयायिकों का सव्यभिचार अथवा अनैकान्तिक सन्दिग्ध का स्थानापन्न कहा जा सकता है। प्रशस्तपाद ने एक स्थल पर हेत्वाभासो मे अनध्यवसित हेत्वाभास की चर्चा की है, किन्तु जैसी कि पहले चर्चा की जा चुकी है शकर मिश्र का विचार है कि प्रशस्तपाद केवल तीन हेत्वाभास ही मानते है, चतुर्थ अनध्यवसित को नही। आचार्यबल्लभ चार हेत्वाभासो को स्वीकार करते है असिद्ध विरुद्ध सव्यभिचार तथा अनध्यवसित।[3] अनध्यवसित वस्तुत अनुपसहारि के समानान्तर है, जो कि सव्यभिचार (अनैकान्तिक) का उपभेद है। बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग और उनके अनुयायी धर्मोत्तराचार्य आदि असिद्ध अनैकान्तिक और विरुद्ध केवल तीन हेत्वाभास ही मानते है, यद्यपि उनके अनुसार इन तीन के कुल चौबीस भेद हो जाते है जिनकी चर्चा गत पृष्ठो मे की जा चुकी है।[4] कणादरहस्यकार शकर मिश्र भी पाच अथवा छ हेत्वाभासो की सख्या का निषेध करते हुए विरुद्ध असिद्ध और सन्दिग्ध नामक तीन हेत्वाभास ही मानते है।[5]

गौतम स्वीकृत प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) और कालातीत (बाधित) हेत्वाभास वैशेषिको मे क्यो स्वीकार नही किये गये, इस सम्बन्ध में प्राचीन

---

१. न्यायखद्योत पृ० १८६-१८७

२. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १००

३ न्यायलीलावती पृ० ६०६

४. इसी पुस्तक के पृ० २२० देखे।

५ कणादरहस्यम पृ० १००

आचार्यों के कोई स्पष्ट विचार नही मिलते । जहा तक स्वीकृत हेत्वाभासो में अस्वीकृत के अन्तर्भाव दिखाने का प्रश्न है, वह मान्यता के आधार पर नहीं किन्तु परम्परा के आधार पर है । उदाहरणार्थ वाचस्पति मिश्र ने, जिन्होने प्रत्येक दर्शन के प्रमुख ग्रन्थो की टीका की है, प्रत्येक प्रसङ्ग मे अन्य सम्प्रदायो के मतो की आलोचना की है । किन्तु उस आलोचना को देखकर अलग अलग सम्प्रदायो मे वाचस्पति मिश्र के परस्पर विरोधीमत है, ऐसा मानना तो उचित नही हो सकता । किन्तु वे मत विविध दार्शनिक सम्प्रदायो के है, एव वाचस्पति मिश्र ने उन साम्प्रदायिक विचारो का ही उन्मीलन किया है, स्वमत का प्रकाशन नही, यही स्वीकार भी किया जाता है । इसी प्रकार टीकाकारो द्वारा गौतम स्वीकृत अधिक हेत्वाभासो के अन्तर्भावन को देखकर हमे उसे उन हेत्वाभासो की अस्वीकृति का कारण मानना उचित न होगा ।

इस प्रश्न का समाधान खोजने मे हमे पाश्चात्य दार्शनिकों की मान्यताओ से विशेष सहायता मिलती है । पाश्चात्य दर्शन मे हेत्वाभासो का वर्गीकरण Formal fallacies तथा Material fallacies (आन्तर या मौलिक तथा बाह्य या शारीरिक हेत्वाभास) के रूप मे किया गया है । कुछ हेत्वाभास जिनमे मलत हेतु मे ही दोष होता है, उन्हे Formal (आन्तर) कहा जाता है, किन्तु कुछ किन्ही बाह्य कारणो अर्थात् हेत्वन्तर या प्रमाणान्तर के कारण सदोष प्रतीत होते है, वे Material (बाह्य) कहे जा सकते है । अनेक पाश्चात्यदार्शनिको का विचार है कि बाह्य हेत्वाभास (Material Fallacies) तर्कशास्त्र के क्षेत्र के बाहर है ।[1] यदि इस दृष्टि से गौतम के हेत्वाभासो का वर्गीकरण करे तो प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) और कालातीत (बाधित) हेत्वाभास बाह्य (Material), तथा शेष तीन आन्तर (Formal) सिद्ध होते है, एव यदि पाश्चात्य दार्शनिको के विचारो से इन्हे न्याय (तर्क) शास्त्र के क्षेत्र मे बाहर का मान लिया जाए, तो इन दोनो के परिगणन की आवश्यकता नही रह जाती, और केवल वे ही हेत्वाभास परिगणन के लिए रह जाते है, कणाद ने जिनका परिगणन किया है । आचार्य-बल्लभ ने केवल इसीलिए हेत्वाभासो मे बाध और सप्रतिपक्ष का परिगणन करना अस्वीकार दिया है, क्योकि ये अनुमिति के साक्षात्प्रतिबन्धक न होकर व्याप्ति पक्षधर्मता का अपहार करते हुए परम्परया अनुमान मे प्रतिबन्धक होते है ।[2]

1 Notes on Tarkasangraha P 297
२ न्यायलीलावती पृ० ६०६

जिस प्रकार अरस्तू Fallacia extra dictionem और Fallacia in dictionem नाम से क्रमश Material और Formal हेत्वाभासो को स्वीकार किया है, उसी प्रकार गौतम ने भी दोनो प्रकार के अर्थात् सव्यभिचार विरुद्ध और असिद्ध (साध्यसम) के साथ ही प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) तथा कालातीत (बाधित) हेत्वाभासो को भी स्वीकार किया है। स्मरणीय है भारतीय दार्शनिकों ने आन्तर और बाह्य रूप से हेत्वाभासो का कोई वर्गीकरण नही किया है।

नव्य न्याय का उदय होने के बाद वैशेषिको एव नैयायिको के परस्पर भेद मिटते गये। फलस्वरूप उत्तरवर्त्ती नैयायिकों ने गौतम स्वीकृत हेत्वाभासो को ही नामो मे कुछ परिवर्त्तन स्वीकार करते हुए माना है। जिसमे उन्होने **सव्यभिचार** अथवा **अनैकान्तिक**, **विरुद्ध**, **सत्प्रतिपक्ष** असिद्ध और **बाध** नाम से पाच हेत्वाभास स्वीकार किये है।

सव्यभिचार **सव्यभिचार** का ही दूसरा नाम **अनैकान्तिक** है। व्यभिचार पद का अर्थ है, अनियत होना अर्थात् हेतु और साध्य के बीच नियत साहचर्य का अभाव। अनैकान्तिक शब्द का भी यही अर्थ है। एकान्त का अर्थ है नियत, अत अनैकान्तिक का अर्थ 'नियत न रहने वाला. अपितु अशत ही साथ रहने वाला' हुआ। दोनो पदो की समानार्थकता के कारण ही गौतम ने अनैकान्तक शब्द द्वारा ही सव्यभिचार पद को स्पष्ट किया है।[1] जैसे 'शब्द नित्य है, स्पर्श का अभाव होने से, जहा जहा अस्पर्श का अभाव अर्थात् स्पर्श है, वहा वहा अनित्यत्व है, जैसे मिट्टी का घडा।' इस अनुमान मे स्पर्श का अभाव हेतु अनैकान्तिक है, क्योकि परमाणु स्पर्श गुण युक्त है, तथा नित्य है, इसके विपरीत बुद्धि स्पर्शहीन है, साथ ही अनित्य भी है। इस प्रकार चूकि हेतु साध्य और साध्याभाव दोनो के साथ विद्यमान है, अत वह आशिकरूप से ही साध्य का सहचारी है, पूर्णत (ऐकान्तिक रूप से) साध्य का नियतसहचारी नही है, फलत इस हेतु को **अनैकान्तिक** कहा जाएगा।

न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने अनैकान्तिक की व्याख्या निम्नलिखित की है· नित्यत्व एक अन्त है, तथा अनित्यत्व दूसरा अन्त है। जो एक अन्त मे रहे उसे ऐकान्तिक कहते हैं, इसके विपरीत जो एक अन्त मे नियत न रह कर दोनो अन्त

---

१. न्यायसूत्र १. २. ५.

मे अर्थात् दोनो और रहे उसे **अनैकान्तिक** कहते हैं।[1] इस प्रकार सव्यभिचार का तात्पर्य है साध्य के विषय मे सन्देह जनक दोनों प्रकार अर्थात् साध्ययुक्त तथा साध्य के अभाव से युक्त दोनो स्थलो मे जो विद्यमान हो, दूसरे शब्दो मे जो हेतु साध्यस्थल सपक्ष तथा साध्याभावस्थल विपक्ष दोनो मे रहता हो, और इसीलिए वह साध्य के सम्बन्ध मे सन्देह के निराकरण मे समर्थ न हो, अथवा सन्देह उत्पन्न कर दे, उसे **अनैकान्तिक** या **सव्यभिचार** हेत्वाभास कहते है।[2] कणाद ने इसे ही सन्दिग्ध हेत्वाभास कहा था।

सव्यभिचार के तीन भेद माने जाते है . **साधारण, असाधारण** और **अनुपसंहारी**।[3] मुक्तावलीकार साधारण आदि भेदों की सख्या पर अधिक महत्व देते है और तभी उन्होंने 'साधारण आदि मे अन्यतम हेत्वाभास **अनैकान्तिक** है, यह अनैकान्तिक की परिभाषा की है।[4] **साधारण** . हेतु के भेद विवेचन के प्रसग मे कहा जा चुका है कि हेतु मे तीन धर्म मुख्यत आवश्यक होते है · **पक्ष मे होना सपक्ष मे होना** और **विपक्ष मे न होना**। यदि हेतु पक्ष और सपक्ष के साथ ही विपक्ष मे भी रहे (उसमे तीसरा धर्म 'विपक्ष मे न रहना' [विपक्षव्यावृत्ति] न रहे) अर्थात् वह हेतु इतना अधिक साधारण (व्यापक) हो कि पक्ष सपक्ष और विपक्ष तीनो मे रहे तो उसे साधारण अनकान्तिक कहते है।[5] इस प्रकार हेतु का भाति प्रतीत होने वाला यह अहेतु जहा साध्य सन्दिग्ध है, उस पक्ष मे तो रहता ही है, जहा साध्य निश्चित रूप मे विद्यमान है वहा भी रहता है, इसके अतिरिक्त यह वहा भी रहता है जहा साध्य का अभाव निश्चित है।

तर्कसग्रहकार अन्नभट्ट ने साधारण की परिभाषा के समय **सपक्षमे होना** इस धर्म की उपेक्षा कर केवल 'विपक्ष मे विद्यमानता' को साधारण का लक्षण स्वीकार किया है।[6] किन्तु उनकी परिभाषा पूर्ण नहीं कही जा सकती।

---

१ वात्स्यायन भाष्य पृ० ४० । २ तत्व चिन्तामणि पृ० १०६३

३ (क) उपस्कार भाष्य पृ० ८६ (ख) भाषा परिच्छेद पृ० ७२

(ग) तर्क सग्रह पृ० ११० ४. न्यायमुक्तावली पृ० ३३०

५ (क) तत्व चिन्तामणि पृ० १०७६ (ख) तर्क भाषा पृ० ६४

६ तर्क सग्रह पृ० ११०

इस परिभाषा को स्वीकार करने पर **विरुद्ध और साधारण** में कोई अन्तर न रह जायेगा, क्योंकि सपक्ष मे न रहकर विपक्ष मे रहने वाले हेतु को **विरुद्ध-हेत्वाभास कहते हैं।**

'पर्वत अग्नियुक्त है ज्ञान का विषय होने से' इस अनुमान मे 'ज्ञान का विषय होना' हेतु के रूप मे प्रयुक्त है। यह हेतु पर्वत मे विद्यमान है, जहा अग्नि सन्दिग्ध है और उसके निश्चय के लिए अनुमान किया जा रहा है। यह हेतु रसोई घर मे भी विद्यमान है, जहा 'अग्नि का होना' उत्तम और मध्यम प्रमाता अथवा वादी और प्रतिवादी दोनों को निश्चित रूप से ज्ञात है, किन्तु इसके साथ ही यह हेतु सरोवर मे भी व्यापक है, जहा अग्नि का न होना पूर्णत निश्चित है। फलत यह साध्य और साध्याभाव दानो का सहचारी होने के कारण यदि साध्य का साधक हो सकता है, तो साध्य के अभाव का भी साधक हो सकता है। इस कारण यह निर्णय का उत्पादक न होकर सन्देह को उत्पन्न करने वाला है। अतएव इसे सद्हेतु न कहकर **हेत्वाभास** कहा जाएगा।

असाधारण यह साधारण से सर्वथा विपरीत है, यह हेतु न तो सपक्ष मे ही रहता है और न विपक्ष मे। यह केवल पक्ष का ही धर्म होता है। विपक्ष मे न रहना तो सद् हेतु का गुण है किन्तु यह सपक्ष मे भी नही रहता।[1] गगेशोपाध्याय का कथन है कि असाधारण के लक्षण मे विपक्षव्यावृत्ति विशेषण देना व्यर्थ है, अत उसका प्रयोग न कर 'समस्त सपक्ष अर्थात् साध्य युक्त स्थल मे न रहना' ही असाधरण का लक्षण करना चाहिए।[2] **साधारण** हेत्वाभास अपने आवश्यक क्षेत्र से अधिक व्यापक रहता है, और यह (**असाधारण**) आवश्यक क्षेत्र से कम स्थल मे अर्थात् सकुचित क्षेत्र मे रहता है, इस विपरीत भाव के कारण इसे साधरण से विपरीत **असाधारण** नाम दिया गया है। जैसे 'शब्दत्व युक्त होने से शब्द नित्य है' इस अनुमान मे शब्दत्व हेतु प्रयुक्त है, जो केवल शब्द मे अर्थात् पक्ष मे ही विद्यमान है, अत इस हेतु के आधार पर किसी निर्णय पर नही पहुचा जा सकता। यहा नित्य आकाश और आत्मा को सपक्ष तथा अनित्य घडा और वस्त्र आदि को विपक्ष कहा जा सकता है, किन्तु यह

१ (क) तर्क सग्रह पृ० १११ (ख) तर्कभाषा पृ० ९४

२ तत्वचिन्तामणि पृ० १०९४

शब्दत्व हेतु न तो आकाश और आत्मा मे साध्य के साथ रहता है और न घडा और वस्त्र मे साध्य के अभाव के साथ, अत पक्षमात्र मे होने से न तो साध्य का अभाव सिद्ध कर सकता है और न साध्य की सत्ता, अपितु उभय विध सन्देह का ही जनक होगा, अत. इसे असाधारण हेत्वाभास कहा जाएगा ।

अनुपसंहारी जिस हेतु का अन्वय और व्यतिरेक दृष्टान्त न मिल सके, उसे **अनुपसहारी** कहते है ।[१] यह हेतु साध्य के साथ केवल पक्ष मे ही मिल सकता है, अत इसके सपक्ष और विपक्ष और उदाहरण नही मिल सकते। अभी गत पृष्ठो मे पक्षमात्रवृत्ति अर्थात् सपक्ष और विपक्ष मे न रहने वाले हेतु को असाधारण कहा गया था। यह हेतु भी केवल पक्ष मे ही रहता है, फिर भी दोनो समान नही है । असाधारण मे पक्ष के अतिरिक्त सपक्ष और विपक्ष दोनो ही होते है किन्तु हेतु केवल पक्ष मे ही रहता है, जबकि अनुपसहारी मे सपक्ष और विपक्ष सभव नही है, क्योकि पक्ष को ही अत्यन्त व्यापक कर दिया गया है । असाधारण मे पक्ष सीमित रहता है, उसके साध्य का अत्यन्ताभ व विद्यमान रहता है, वहा हेतु नही रहता, किन्तु अनुपसहारी हेतु के रहने पर साध्य का अत्यन्ताभाव कही देखा ही नही जा सकता । इसीलिए विश्वनाथ ने जिस हेतु के साध्य के अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी न हो सके, वह अनुपसहरी है ,[२] यह लक्षण किया है । इसके साथ ही इसमे पक्ष की व्यापकता के कारण ऐसा भी कोई स्थल नही मिल पाता, जहा अनुमान करने वाला साध्य की निश्चित सत्ता स्वीकार करता हो। इसीलिए गगेशोपाध्यायने 'जिसका पक्ष केवलान्वयि धर्म से युक्त हो' उसे अनुपसहारी हेत्वाभास स्वीकार किया है[३] ऐसा अवसर केवल तभी मिल सकता है, जब पक्ष को इतना व्यापक बना दिया जाये कि पक्ष से अतिरिक्त सपक्ष या विपक्ष के लिए कुछ शेष रह ही न जाए । इसे ही तर्क-कौमुदीकार ने **वस्तुमात्र पक्षक या सर्वपक्षक** कहा है । इस प्रकार इस हेतु के लिए ऐसा कोई स्थल शेष रह नही जाता, जहा साध्य निश्चित रूप से हो अथवा निश्चित रूप मे साध्य का अभाव हो । जैसे 'सब कुछ अनित्य है, ज्ञान का विषय होने से ।' इस अनुमान मे 'ज्ञान का विषय' हेतु है, यह घट आदि अनित्य पदार्थो मे रहता है, किन्तु फिर भी उसे सपक्ष उदाहरण नही मान सकते' क्योकि 'सब को ही पक्षमान लेने के कारण घडा आदि अनित्य पदार्थ भी पक्ष हो चुके

१ तर्कसग्रह पृ० १११ २ न्यायमुक्तावली पृ० ३३१
३ तत्त्वचिन्तामणि पृ० ११०९

हैं। यदि विशेष घडे और वस्त्र मे साध्य की सत्ता ज्ञात है, यह मान कर उसे सपक्ष कहना चाहे, तो उचित न होगा, क्योंकि प्रतिज्ञा मे उसे भी पक्ष माना जा चुका है, एक ही पदार्थ पक्ष और उदाहरण साथ साथ हो यह सम्भव नही है, तथा विशेष घडे आदि को पक्षातिरिक्त सपक्ष मानने मे प्रतिज्ञा हानि दोष होगा।

नव्य नैयायिको के 'जिसका पक्ष केवलान्वयिधर्म से युक्त हो वह अनुपसहारी हेतु है, इस लक्षण को भी सर्वथा निर्दोष नही कहा जा सकता है, क्योंकि केवलान्वयी सद् हेतु का पक्ष भी केवलान्वयि धर्म से युक्त रहता है।

इस हेत्वाभास को अनुपसहारी नाम देने का कारण यह है कि इस मे उदाहरण न होने के कारण हेतु उदाहरण सापेक्ष नही होता। अत 'यह ऐसा है' अथवा 'यह ऐसा नही है, इस प्रकार का उपसहारात्मक उपनय' नही हुआ करता।

यहा एक प्रश्न हो सकता है कि यदि इन तीनो हेत्वाभासो का परस्पर भिन्न क्षेत्र है, तो ऐसा क्या साधर्म्य है जिसके कारण इन तीनो को स्वतन्त्र हेत्वाभास न मान कर समान नाम सव्यभिचार दिया गया है। इस प्रश्न के समाधान के लिए हमे हेतु की स्थिति पर विचार करना चाहिए। किसी हेतु (सद् हेतु अथवा असद् हेतु) मे धर्मो का सत्ता और अभाव की केवल चार स्थितिया हो सकती है। (१) सपक्षसत्व (सपक्ष मे सत्ता का होना) और विपक्ष व्यावृत्ति (विपक्ष मे हेतु का अभाव) दोनो का होना, (२) सपक्षसत्व और विपक्षव्यावृत्ति दोनो का अभाव, अर्थात् न तो हेतु को सपक्ष मे साध्य के साथ देखा जा सकता है, और न उसका विपक्ष मे साध्य के साथ अभाव ही देखा जा सकता है। इसमे विपक्ष मे साध्य के साथ अभाव न मिलने का यह कारण नही होता कि वह विपक्ष मे विद्यमान है, अपितु विपक्ष उदाहरण ही न मिलने के कारण विपक्ष मे अभाव दृष्टिगत नही होता। (३) सपक्षसत्व तो विद्यमान हो किन्तु विपक्षव्यावृत्ति न हो अर्थात् विपक्ष मे उसकी सत्ता देखी जा सके। (४) सपक्षसत्व का अभाव हो किन्तु विपक्षव्यावृत्ति विद्यमान हो। इसमे सपक्ष उदाहरण तो होता है किन्तु वहा हेतु साध्य के साथ विद्यमान नही होता और इसमे विपक्ष उदाहरण भी होता है, तथा उसमे साध्य का अभाव निश्चित होता है, अत वहा साध्य के साथ हेतु का अभाव भी रहता ही है।

---

१. न्याय सूत्र १. १ ३६

इन हेतु धर्म सपक्षसत्व और विपक्षव्यावृत्ति की सत्ता और अभाव की प्रथम स्थिति मे जब सपक्ष मे हेतु और साध्य सहचरित हो तथा विपक्ष मे दोनो का अभाव हो, तो ऐसे हेतु को सद् हेतु कहा जायगा, दूसरी स्थिति मे दोनो का अभाव होने पर अनुपसहारी हेत्वाभास, तीसरी स्थिति मे सपक्ष मे सत्ता और विपक्ष मे व्यावृत्ति का अभाव होने पर हेतु और साध्य सपक्ष के साथ ही विपक्ष मे भी रहते है, अत अधिक स्थान मे साध्य के रहने के कारण साधारण हेत्वाभास होगा। और चतुर्थ स्थिति मे विपक्षव्यावृत्ति तो है, किन्तु सपक्ष सत्व नही है, अर्थात् साध्य विपक्ष मे तो नही है, साथ ही सपक्ष मे भी नही है, अत सपक्ष और विपक्ष दोनो मे उसका अभाव रहता है। यह स्थिति तृतीय से सर्वथा विपरीत है, अत इसे साधारण से सर्वथा विपरीत असाधारण हेत्वाभास कहा जाता है। इन चारो ही स्थिति मे साध्य पक्ष मे सन्दिग्ध रहता है, साथ ही उसमे हेतु की सत्ता रहती ही है। इस प्रकार ये सभी स्थितिया हेतु के धर्म सपक्षसत्व और विपक्षव्यावृत्ति की सत्ता और अभाव पर आश्रित है, अत समान आश्रय होने के कारण इन्हे (साधारण असाधारण और अनुपसहारी तीनो को) सव्यभिचार नामक एक हेत्वाभास के ही अन्तर्गत रखा गया है।

यहा एक आशका और हो सकती है कि साधारण हेत्वाभास मे विपक्ष-व्यावृत्ति नही होती और केवलान्वयी हेतु मे भी विपक्षव्यावृत्ति के दर्शन नही होते, इसी प्रकार असाधारण हेत्वाभास मे सपक्षसत्व नही होता तथा केवल व्यतिरेकी हेतु मे, भी सपक्षसत्व का दर्शन नही होता, फिर इन दोनो को अर्थात् साधारण को केवलान्वयी से तथा असाधारण को केवल व्यतिरेकी से किस प्रकार पृथक् किया जाए ?

वस्तुत यह शका नही केवल भ्रम है, क्योकि इनके क्षेत्र परस्पर सर्वथा पृथक् पृथक् है। केवलान्वयी हेतु मे विपक्ष का सर्वथा अभाव होता है जब कि साधारण मे विपक्ष का अभाव नही होता किन्तु विपक्ष मे (साध्याभाव स्थल मे) हेतु की सत्ता रहती है। जैसे पर्वत वाणी का विषय है, ज्ञान का विषय होने से' इस उदाहरण मे पक्ष तो अल्पक्षेत्र का है, किन्तु हेतु का विस्तार इतना अधिक है कि साध्य और हेतु का अभाव कही देखा ही नही जा सकता। अत इसका विपक्ष नही हो सकता, जबकि 'पवत अग्नि युक्त है' क्योकि वह ज्ञान का विषय है यहा साध्य सर्वव्यापी नही है, केवल हेतु व्यापक है, अत साध्य का

अभाव स्थल विपक्ष सभव है, फलत यहा केवलान्वयी हेतु नही किन्तु साधारण हेत्वाभास होगा। इसी प्रकार केवलव्यतिरेकी हेतु मे सपक्ष का सर्वथा अभाव होता है, जबकि असाधारण हेत्वाभास मे विपक्ष का अभाव नही होता किन्तु सपक्ष मे हेतु की सत्ता नही होती अर्थात् वह वहा रहता नही। जैसे : 'पृथिवी जल आदि से भिन्न है गन्धयुक्त होने से' इस अनुमान मे पक्ष तो सीमित है, किन्तु साध्य इतर भेद इतना अधिक व्यापक है कि साध्य की सत्ता किसी उदाहरण मे नही देखी जा सकती है, अत. सपक्ष का पूर्णत अभाव है, फलत यह केवल व्यतिरेकी हेतु है, जबकि 'पृथिवी अनित्य है, गन्ध युक्त होने से' इस अनुमान मे साध्य सर्व व्यापक नही है। कुछ स्थानो मे उसका अभाव निश्चित है, साथ ही अनेक स्थलो पर उसकी सत्ता भी देखी जा सकती है, अर्थात् साध्य की सत्ता और अभाव के कारण सपक्ष और विपक्ष दोनो ही हो सकते है, किन्तु हेतु इतने सकीर्ण क्षेत्र मे रहता है कि पक्ष के अतिरिक्त उसकी कहीं सत्ता ही नहीं देखी जा सकती, अतएव वह साध्य के साधन मे समर्थ नही हो पाता, और उसे असाधारण हेत्वाभास कहा जाता है।

सक्षेप मे हम कह सकते है कि अनुपसहारी साधारण और असाधारण हेत्वाभास का परस्पर भेद निम्नलिखित है :

अनुपसहारी	पक्ष का सर्व व्यापक होना।
साधारण	हेतु का व्यापक अथवा सर्व व्यापक होना।
असाधारण	हेतु का क्षेत्र का अत्यन्त सकीर्ण होना अर्थात् हेतु का पक्षमात्र मे ही रहना।

सव्यभिचार हेत्वाभास की चर्चा समाप्त करने से पूर्व हमे यह और जान लेना चाहिए कि इसके उपर्युक्त तीन भेद नैयायिको मे मुख्य रूप से स्वीकृत है किन्तु कुछ विचारक इन तीन भेदो पर अपनी सहमति नही देते। उदाहरणार्थ केशव मिश्र अनुपसहारी भेद को न मानकर केवल साधारण और असाधारण नाम से दो भेद ही स्वीकार करते है।[1] जबकि प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग **साधारण, असाधारण, सपक्षैकदेशवृत्तिविपक्षव्यापी, विपक्षैकदेशवृत्ति सपक्षव्यापी; उभयपक्षैकदेशवृत्ति** तथा **विरुद्धाव्यभिचारी** नाम से छ भेद मानते है।[2] न्यायसार के लेखक भासर्वज्ञ ने **पक्षत्रयव्यापक, पक्षव्यापक विपक्ष-**

१ तर्कभाषा पृ० ९४ २ न्याय प्रवेश पृ० ३

सपक्षैकदेशवृत्ति, पक्षसपक्षव्यापक विपक्षैकदेशवृत्ति, पक्षविपक्षव्यापक सपक्षैक देशवृत्ति, पक्षत्रयैकदेशवृत्ति, विपक्षव्यापक पक्षसपक्षैकदेशवृत्ति, सपक्षव्यापक पक्षविपक्षैकदेशवृत्ति, सपक्षविपक्षव्यापक पक्षैकदेशवृत्ति भेद से आठ भेद स्वीकार किये है।[1] भासर्वज्ञ का यह विभाजन एक प्रकार से दिङ्नाग के विभाजन का सशोधन है। दिङ्नाग ने **व्यापकत्व और एकदेशवृत्ति** को आधार मानकर केवल सपक्ष और विपक्ष मे ही इन आधारो को खोजा था, अतः इनके आधार पर तीन भेद हुए थे, किन्तु इस आधार से प्राप्त भेदो मे सम्पूर्ण उदाहरणो का समावेश न होने से उन्हे साधारण असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी तीन भेद पृथक् मानने पडे थे। जबकि न्यायसार के लेखक ने उसी आधार को (व्यापकत्व और एकदेशवृत्तित्व को) अपना कर उसका अन्वेषण सपक्ष और विपक्ष मे ही न करके पक्ष मे भी किया। फलस्वरूप आठ भेद अनायास हो गये। इस सशोधन मे आधार के क्षेत्र से बाहर अन्य भेदो को स्वीकार करने की आवश्यकता नही हुई, अत भेद सख्या मे अधिकता होने पर भी दिङ्नागकृत भेद की अपेक्षा इन्हे अधिक वैज्ञानिक कहा जा सकता है। किन्तु अधिकाश नैयायिको द्वारा स्वीकृत तीन भेदो मे इन सब के उदाहरणो का समावेश हो जाता है।

विरुद्ध : विरुद्ध हेत्वाभास नैयायिको और वैशेषिको द्वारा समान रूप से स्वीकृत है। यद्यपि इसके लक्षण मे उत्तरोत्तर परिष्कार होता रहा है। गौतम ने स्वीकृत सिद्धान्त के विरोध कथन को विरुद्ध हेत्वाभास माना था।[2] यह एक सामान्य लक्षण है, जिसमे न्याय की प्रक्रिया के अनुसार दोषत्व कहा रहता है, इसका कुछ पता नही चलता। वात्स्यायन ने भी इसकी विशेष व्याख्या न कर केवल इतना ही कहा कि 'वादी जिस सिद्धान्त का आश्रय कर वाद मे प्रवृत्त हो रहा है यदि उसके अपने हेतु ही उसके विरोध करने वाले हो, तो उस या उन हेतुओ को विरुद्ध हेत्वाभास कहगे।[3]

कणाद ने इसे **अप्रसिद्ध** नाम से स्मरण किया था। सभवत इसका कारण विरोधी होने के कारण साध्य साधन के लिए इसका अप्रसिद्ध होना है। कणाद

---

१ (क) न्याय सार पृ० १० (ख) न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका पृ० १२६
२. न्याय सूत्र पृ० २, ६ ३ वात्स्यायन भाष्य पृ० ४०

सूत्र के व्याख्याकारो के अनुसार यह अप्रसिद्ध पद व्याप्यत्वासिद्ध और विरुद्ध दोनो की ओर सकेत करता है।[1]

विरुद्ध की दूसरी परिभाषा 'साध्य युक्त अर्थात् सपक्ष मे न होना' की गयी, इसका सर्वप्रथम उल्लेख पूर्व पक्ष के रूप मे गगेश ने किया है,[2] तथा विश्वनाथ पचानन ने कारिकावली मे इसे ही स्वीकार किया है।[3] किन्तु कोई भी हेतु केवल सपक्ष मे न होने से ही असाधारण अनैकान्तिक कहा जा सकता है, जिसकी चर्चा पूर्व पृष्ठो की जा चुकी है, क्योकि सपक्ष मे न होने पर वह पक्ष मे रहेगा विपक्ष मे तो रहना ही नही है, अत वह हेतु पक्षमात्रवृत्ति हुआ, जो कि असाधारण का लक्षण है।

अतएव उत्तरवर्त्ती नैयायिको ने साध्य के अभाव मे व्याप्त हेतु को विरुद्ध हेत्वाभास कहा है[4], इसे ही अधिक परिष्कृत रूप मे इस प्रकार कह सकते है साध्य स्थलो मे व्यापक रूप मे रहने वाले अभाव का प्रतियोगी हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है।[5] इसे अत्यन्त सरलभाषा मे आचार्य प्रशस्तपाद ने इस रूप मे कहा था जो हेतु अनुमेय मे विद्यमान न रहे साथ ही अनुमेय के समान सजातीय सभी स्थलो मे न रहे तथा विपरीत स्थल मे अर्थात् जहा साध्य न हो वहा अवश्य रहे वह विरुद्ध हेतु है।[6] न्यायसार मे इसे ही भिन्न शब्दो द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो हेतु पक्ष और विपक्ष मे ही रहे अर्थात् सपक्ष मे न रहे वह विरुद्ध हेत्वाभास है।[7] जैसे—'शब्द नित्य है कार्य होने से' इस अनुमान मे 'नित्य होना' साध्य, तथा उसके लिए प्रयुक्त हेतु 'कार्य होना' है, यह हेतु जहा जहा रहता है, वहा वहा नित्यत्व न रहकर उसका अभाव ही रहता है, आत्मा नित्य है किन्तु वह कार्य नही है, एव घडा आदि कार्य है, तो वे नित्य नही है। इस प्रकार यह हेतु पक्ष शब्द मे तथा विपक्ष घट आदि मे रहता है, एव सपक्ष आत्मा आदि मे उसका अभाव रहता है। अत. 'कार्य होना' हेतु के द्वारा नित्यत्व की सिद्धि नही हो सकती, इसके विपरीत नित्यत्व

१ उपस्कारभाष्य पृ० ६५
२ तत्वचिन्तामणि पृ० १७७४
३ कारिकावली ७४
४ (क) कणादरहस्यम् पृ १०१
(ख) तर्क भाषा पृ ६४
(ग) तर्क सग्रह पृ० ११२
५. तत्वचिन्तामणि पृ० १७७६
६ प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ११७
७. न्यायसार पृ० ७।

(साध्य) के अभाव की ही सिद्धि होगी। फलत प्रतिज्ञा (स्वीकृत सिद्धान्त) के विरुद्ध निर्णय प्राप्त होने के कारण इसे विरुद्ध हेत्वाभास कहेंगे, हेतु नहीं।

बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग ने विरुद्ध के चार भेद स्वीकार किये है —धर्मस्वरूपविपरीतसाधन, धर्मविशेषविपरीतसाधन, धर्मिस्वरूपविपरीतसाधन, धर्मिविशेषविपरीतसाधन।[1]

न्यायसार के लेखक भासर्वज्ञ ने इसके निम्नलिखित आठ भेद स्वीकार किये है, जिनमे प्रथम चार मे सपक्ष रहता है, तथा शेष चार सपक्ष के अभाव मे ही होते है सपक्ष रहने पर पक्षविपक्षव्यापक, विपक्ष के एक देश मे तथा पक्ष मे व्यापक, पक्ष और विपक्ष दोनो के एक देश मे रहने वाला तथा विपक्ष मे व्यापक एव पक्ष के एक देश मे रहने वाला। सपक्ष के न रहने पर भी यही चार भेद हो सकते है।[2] जैसे शब्द नित्य है, कार्य होने से इस अनुमान मे साध्य नित्यत्व आत्मा आदि मे निश्चित रूप से विद्यमान रहता है, अत यहा सपक्ष विद्यमान है, साध्य नित्यत्व का साधक हेतु कार्यत्व है, किन्तु कार्यत्व नित्यत्व के अभाव वाले स्थलो, घडा वस्त्र आदि मे व्यापक रूप से विद्यमान रहता है, नित्य आत्मा आकाश आदि मे नही। अत इस हेतु को हेत्वाभास कहा जाएगा। यहा हेतु कार्यत्व पक्ष शब्द तथा विपक्ष घडा वस्त्र आदि मे व्यापक है, अत इसे पक्षविपक्ष वृत्ति विरुद्ध कहा जाएगा।

'शब्द नित्य है जाति युक्त होकर भी इन्द्रियो द्वारा ग्रहण योग्य होने से' इस अनुमान मे भी पूर्व की भाति ही नित्य आत्मा आदि सपक्ष तथा 'जाति युक्त होते हुए इन्द्रिय ग्राह्य होना हेतु है यह इन्द्रियग्राह्यता घडा वस्त्र आदि मे रहती है, जोकि विपक्ष है, साथ ही पृथिवी आदि द्रव्यो के द्व्यणुक अनित्य है, किन्तु वे जातिमान् होकर भी हम सबकी इन्द्रियो से गृहीत नही होते। इस प्रकार हेतु विपक्ष के एक देश मे ही रहता है, जबकि पक्ष मे व्यापक रूप से विद्यमान है, अत इसे विपक्षैकदेशवृत्ति पक्षव्यापकविरुद्ध कहा जाएगा।

'शब्द नित्य है, प्रयत्न के अव्यवहित उत्तरवर्त्ती होने से' इस अनुमान मे

---

१ न्यायप्रवेश पृ० ५, २ न्यायसार पृ० ६।

शब्द पक्ष है, प्रथम शब्द प्रयत्नोत्तरवर्ती होता है, अत· यहा हेतु पक्ष में विद्यमान है, किन्तु शब्दज शब्द प्रयत्न जन्य नही है, अत हेतु पक्षैकदेशवृत्ति हुआ। इसी प्रकार यह हेतु अनित्य घडा आदि मे तो रहता है, जोकि प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होते है, किन्तु सरोवर मे तरङ्गो से उत्पन्न होने वाली अनित्य तरङ्गें प्रयत्नजन्य नही, अत यह विपक्ष के भी एक अश मे रहता है, फल यह हेतु **पक्षविपक्षैकदेशवृत्ति** विरुद्ध हेत्वाभास हुआ।

'पृथिवी नित्य है कार्य होने से' इस अनुमान मे कार्यत्व हेतु विपक्ष घडा आदि सभी अनित्य पदार्थो मे तो रहता है, किन्तु पार्थिव परमाणु मे, जोकि पृथिवी होने मे पक्ष का एक देश है, नही रहता, अत इस हेतु को **विपक्षव्यापक पक्षैकदेशवृत्ति** हेत्वाभास कहा जाएगा। उपर्युक्त सभी उदाहरणों मे साध्य-नित्यत्व का अभाव अनित्य घडा आदि पदार्थों मे देखा जा सकता है, अत उपर्युक्त प्रत्येक भेद सपक्ष के रहने पर हुए।

'शब्द आकाश का विशेष गुण है, प्रमेय (बुद्धि का विषय) होने से' इस अनुमान मे प्रमेयत्व हेतु पक्ष शब्द तथा विपक्ष रूप आदि दोनो मे व्यापक रूप से रहता है अत यह **पक्षविपक्षव्यापक विरुद्ध** हेत्वाभास हुआ। यहा साध्य 'आकाश का विशेष गुण होना' है, जो शब्द के अतिरिक्त अन्यत्र कही नही रहता है, तथा शब्द स्वय पक्ष है, इस प्रकार साध्य का सपक्ष होना सम्भव नही है।

शब्द आकाश का विशेष गुण है केवल प्रयत्न से ही उत्पन्न होने से' इस अनुमान या हेतु प्रयत्न मे ही उत्पन्न होना गत पृष्ठ मे दिये गये स्पष्टीकरण के अनुसार पक्ष और विपक्ष के एक देश मे ही रहने वाला है, अत. यह **पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिविरुद्ध** हेत्वाभास कहा जाएगा।

'बाह्येन्द्रियग्राह्य होने से शब्द आकाश का गुण है, इस अनुमान मे बाह्येन्द्रियग्राह्य होना हेतु है, जो पक्ष शब्द मे तो व्यापक रूप से रहता ही है तथा विपक्ष रूप आदि मे भी विद्यमान रहता है, किन्तु अतीन्द्रिय द्रव्यो मे विद्यमान सख्या आदि मे, जो कि विपक्ष हैं, विद्यमान नही है, अत· इसे **पक्षव्यापकविपक्षैकदेशवृत्ति** विरुद्ध कहा जाएगा।

'शब्द आकाश का विशेषगुण है, अपदात्मक होने से' इस अनुमान मे 'अपदात्मक होना' हेतु है, यह विपक्ष रूप आदि सभी मे व्यापक है, किन्तु

पदात्मक शब्दों में विद्यमान नहीं है, अत इसे **पक्षैकदेशवृत्ति विपक्षव्यापक** विरुद्ध हेत्वाभास कहा जाएगा। स्मरणीय है कि उपर्युक्त चारों अनुमानों के साध्य 'आकाश का विशेषगुण होना' पक्ष शब्द के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं रहता, अत इसके सपक्ष उदाहरण नहीं मिल सकते।

नैयायिकों की परम्परा में विरुद्ध के भेदोपभेद नहीं किये गये है। उसका कारण इन भेदोपभेदों में केवल बाह्य भेद होना है तथा कुछ अन्य हेत्वाभासों में समाहित हो जाते है। जबकि नैयायिकों की परम्परा में भेदोपभेद किसी मौलिक अन्तर होने पर ही स्वीकार किया जाता है, अन्यथा नहीं। उदाहरणार्थ विरुद्ध हेत्वाभास एक आन्तर भेद के कारण ही पूर्व वर्णित सव्यभिचार आदि में भिन्न माना गया है। जैसे सव्यभिचार का भेद साधारण हेतु सपक्ष में भी रहता है, किन्तु विरुद्ध सपक्ष में कभी नहीं रहता। असाधारण अनैकान्तिक हेतु साध्याभाव में रहता है, किन्तु सर्वत्र साध्याभाव में वह नहीं रहता, जबकि विरुद्ध साध्याभाव स्थल ही रहता है। अनुपसंहारी हेतु में तो सभी के पक्ष होने के कारण अन्वय और व्यतिरेक दृष्टान्त नहीं हुआ करते, जबकि विरुद्ध में दृष्टान्त अवश्य ही रहता है। **सव्यभिचार और विरुद्ध** में सब से मुख्य अन्तर यह है कि **सव्यभिचार** में केवल व्याप्ति दोषयुक्त रहती है जब कि **विरुद्ध** में व्याप्ति दोष के स्थान पर विरुद्ध व्याप्ति होती है। प्रथम में जहां साध्य के साधन में बाधा होती है, वहीं द्वितीय में हेतु के द्वारा साध्याभाव की सिद्धि होती है।

इस प्रकार विरुद्ध स्वयं तो पूर्ववर्णित अनैकान्तिक से सर्वथा पृथक् है, किन्तु इसके भेदोपभेदों में केवल बाह्य भेद है, आन्तर नहीं अत उन्हें नैयायिक परम्परा में स्वीकार नहीं किया गया है।

सत्प्रतिपक्ष—जब अनुमान वाक्य में दो हेतुओं का एक साथ प्रयोग किया गया हो जिनमें से एक हेतु साध्य का साधन करता है और दूसरा हेतु साध्य के अभाव का साधन करता है, तो उन दोनों हेतुओं के समूह को सत्प्रतिपक्ष कहते है। सत्प्रतिपक्ष का अर्थ है, जिसका प्रतिपक्ष अर्थात् साध्याभावसाधक अन्य हेतु विद्यमान है। न्यायसूत्रकार गौतम ने इसे प्रकरणसम कहा था क्योंकि हेतु का ग्रहण निर्णय प्राप्त करने के लिए किया जाता है किन्तु दो हेतु होने के कारण निर्णय के स्थान पर प्रकरण की चिन्ता अर्थात् सन्देह उत्पन्न हो जाता है।[1] जैसे 'शब्द नित्य है शब्दत्व की भांति श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य

१ न्यायसूत्र १ २ ७

होने से तथा शब्द अनित्य है घड़े के समान कार्य होने से' इस अनुमान में 'श्रोत्र ग्राह्य होना' हेतु नित्यता को सिद्ध करता है तथा 'कार्य होना' हेतु अनित्यता का साधक है इस प्रकार दो हेतुओ द्वारा प्रत्येक के साध्य का अभाव सिद्ध किया जा रहा है। विरुद्ध में केवल एक हेतु रहता है तथा वह साध्य का अभाव ही सिद्ध कर सकता है साध्य को नही, जबकि इसमे दो हेतु परस्पर विरोधी फल की सिद्धि करते हैं। वैशेषिक सत्प्रतिपक्ष को स्वतन्त्र हेत्वाभास नही मानते। उन्होने अप्रसिद्ध असत् और अनध्यवसित नाम से तीन हेत्वाभास ही माने हैं, जिसकी चर्चा पूर्व पृष्ठ मे की जा चुकी है।

महादेव राजाराम बोडास ने तर्क संग्रह के विवरण में वैशेषिको के मत की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'वैशेषिक सत्प्रतिपक्ष का अन्तर्भाव बाधित मे करते हैं',[1] उनका यह कथन विचारणीय है, क्योकि वैशेषिको ने बाधित को स्वीकार ही नही किया है। यह अवश्य है कि कुछ व्याख्याकारो ने सत्प्रतिपक्ष और बाधित दोनो को ही विरुद्ध के समानार्थक अप्रसिद्ध के अन्तर्गत समाहित करने का प्रयत्न किया है।[2] यद्यपि उन्होने ही इस अन्तर्भाव को सन्तोषजनक न समझ कर अन्य समाधान भी दिये है। बाधित मे सत्प्रतिपक्ष का अन्तर्भाव किया भी नही जा सकता, क्योकि सत्प्रतिपक्ष मे अनुमान का बाधन समान बलवाले अन्य अनुमान द्वारा किया जाता है, जबकि बाधित मे अधिक बल-शाली प्रत्यक्ष द्वारा विरोध किया जाता है। दीधितिकारने सत्प्रतिपक्ष का लक्षण करते हुए इस तुल्य बल को स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया है। उनका कहना है कि जहा साध्यविरोधी व्याप्ति आदि से युक्त हेतु अथवा परामर्श प्राप्त होरहा है, वह हेतु सत्प्रतिपक्ष कहाता है।[3] सक्षेप मे हम कह सकते है कि जहा तुल्य बलवालो का विरोध हो, तुल्य बल वाले अन्य हेतु द्वारा हेतु के फल अर्थात् अनुमति का प्रतिरोध किया जाता हो, उसे सत्प्रतिपक्ष कहते है,[4] तथा जहा असमान बल वालो का विरोध हो उसे असत्प्रतिपक्ष (बाधित) कहते हैं।

सत्प्रतिपक्ष के प्रसङ्ग मे एक प्रश्न हो सकता है कि इसमे साध्य और साध्याभाव साधन के लिए जिन दो हेतुओ का प्रयोग किया जाता है उनमे

१. Notes on Tarkasangraha P. 304
२ प्रशस्त पाद सूक्ति (जागदीशी) पृ० ५६६ ३ वही पृ० ५६६
४. (क) तत्वचिन्तामणि ११४१ (ख) गदाधरी पृ० १७८८

से क्या दोनो ही हेतु सद्हेतु होते है अथवा असद्हेतु अथवा एक सद्हेतु और दूसरा असद् हेतु ? साध्य और साध्याभाव साधक दो हेतुओ मे दोनो ही सद्हेतु नही हो सकते, क्योकि एक पक्ष मे साध्य और साध्याभाव एक काल मे नही रह सकते कि उनका दो भिन्न हेतुओ द्वारा साधन किया जा सके। उदाहरणार्थ सत्प्रतिपक्ष के उदाहरण के रूप मे पूर्व उपस्थित किये गये अनुमान मे पक्ष शब्द नित्य भी हो और अनित्य भी, यह सम्भव नही है, दोनो को असद्हेतु भी नही माना जा सकता, क्योकि शब्द को नित्य अथवा अनित्य मे से एक तो होना ही चाहिए, यदि शब्द नित्य है तो नित्यत्व साधक हेतु असद्हेतु होगा, और यदि वह अनित्य है, तो नित्यत्व साधक हेतु को असद्हेतु तथा अनित्यत्व साधक हेतु को सद् हेतु होना चाहिए। इस प्रकार दोनो मे से एक हेतु को ही असद् हेतु अर्थात् सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास कहना चाहिए दोनो को नही। जबकि सत्प्रतिपक्ष की उपर्युक्त परिभाषा दोनो हेतुओ मे समान रूप से सगत होती है, अत यह परिभाषा दोषपूर्ण है। इसके अतिरिक्त जो हेतु असद् हेतु हो रहा है, उसमें हेतु के धर्म **पक्षसत्व सपक्षसत्व** और **विपक्षव्यावृत्ति** मे से किसी एक का अथवा अनेक का अभाव होगा, अत उस धर्म के अभाव के कारण वह अनैकान्तिक आदि हेत्वाभास मे अन्तर्भूत हो जाएगा उसके पृथक् मानने की आवश्यकता न होगी। उदाहरणार्थ यदि हेतु विपक्ष मे विद्यमान है और सपक्ष मे भी है तो साधारण अनैकान्तिक होगा, यदि वह विपक्ष मे नही है और सपक्ष में भी नही है तो पक्षमात्रवृत्ति होने से उसे असाधारण अनैकान्तिक कहा जाएगा इत्यादि। फलत उस हेतु विशेष को अनैकान्तिक आदि हेत्वाभास मे ही समाहित मानना चाहिए पृथक् नही।

किन्तु नैयायिको का विचार है कि सत्प्रतिपक्ष मे दो हेतु एक साथ उपस्थित होते है, उनकी व्याप्ति का स्मरण और परामर्श भी साथ साथ ही होते है क्रमश नही। भिन्न काल मे दो अनुमानो मे परस्पर विरोधी होने पर तो एक सद् अनुमान और दूसरा असद् अनुमान होगा, तथा असद् अनुमान का हेतु तो अनैकान्तिक आदि हेत्वाभासो मे से अन्यतम होगा, सत्प्रतिपक्ष नही। किन्तु जहा दो अनुमान समान समय मे उपस्थित होते है, वहा साध्य और साध्याभाव साधक दोनो हेतुओ के समूहालम्बनात्मक ज्ञान के कारण दोनो व्याप्तियो की स्मृति भी एक साथ होती है, फलत दोनो प्रकार के परामर्श भी एक साथ उपस्थित होते है, अत: एक काल मे विरुद्ध दो कार्य करने के कारण

एक भी कार्य उत्पन्न नही हो पाता। [1] अतः उन दो हेतुओं में से किसी एक की भी पृथक् प्रतीति न होने के कारण उन्हे सद् हेतु नहीं कह सकते। इस प्रकार दोनो ही हेतु असद् हेतु के रूप मे प्रतीत होगे, फलत: इनका अन्तर्भाव अनैकान्तिक आदि मे न किया जा सकेगा। यही कारण है कि नैयायिकों ने **सत्प्रतिपक्ष** को पृथक् हेत्वाभास के रूप मे स्वीकार किया है।

कणाद तर्कवागीश के अनुसार 'साध्याभावव्याप्य हेतु का पक्ष में होना ही सत्प्रतिपक्ष है।[2] इनके मत मे सत्प्रतिपक्ष में दो हेतुओं का होना आवश्यक नही है। जैसे 'सरोवर अग्नि से युक्त है क्योंकि वह सरोवर है' इस अनुमान मे सरोवर पक्ष है, उसमे अग्नि की सिद्धि की जा रही है, इसके लिए हेतु 'सरोवर होना' ही दिया गया है। चूंकि यह हेतु केवल सरोवर मे ही रहता है, जो कि पक्ष है तथा केवल पक्ष मे रहने वाले हेतु को **असाधारण अनैकान्तिक** कहते है।[3] अत भाषारत्नकार के सत्प्रतिपक्ष का असाधारण मे ही अन्तर्भाव हो जाएगा उसको पृथक् स्वीकार करने की आवश्यकता नही है, पृथक् स्वीकृत **सत्प्रतिपक्ष** तो पक्षमात्रवृति हेतु से सर्वथा भिन्न है।

असिद्ध असिद्ध हेत्वाभास नैयायिक और वैशेषिक दोनो द्वारा स्वीकृत है।[4] गौतम ने इसे साध्यसम कहा था। क्योकि वह हेतु ही साध्य के समान साधन की अपेक्षा रखता है अत वह साध्य के समान होने से **साध्यसम** कहा जाता है[5] उदयनाचार्य की परिभाषा के अनुसार जहा व्याप्त पक्ष के धर्म के रूप मे प्रतीत हो उसे सिद्धि कहते है तथा जो उसके विपरीत हो उसे असिद्धि कहते हैं। सरल शब्दो में सिद्धि का न होना ही असिद्धि कहा जाता है। चूंकि पक्षधर्मता ज्ञान से परामर्श उत्पन्न होता है, अत पक्षधर्म के रूप मे साध्य की प्रतीति के बिना परामर्श की उत्पत्ति सभव नही है। इस प्रकार परामर्श की उत्पत्ति न होना ही असिद्धि है, यह भी कहा जा सकता है। असिद्ध सव्यभिचार से सर्वथा भिन्न है, असिद्ध मे परामर्श नही होता, जबकि सव्यभिचार मे परामर्श होता तो है किन्तु दोषपूर्ण। जैसा कि इस प्रकरण के प्रारम्भ मे स्पष्ट किया जा चुका है,

---

१. तत्वचिन्तामणि पृ० ११६७ २. भाषारत्न पृ० १८३
३. इसी ग्रन्थ के पृ० २३१ देखे।
४. (क) प्रशस्त पाद पृ० ११६ (ख) न्याय सूत्र १. २. ४
५. न्याय सूत्र १. २. ८

परामर्श के लिए तीन ज्ञान आवश्यक है पक्षता (पक्ष का ज्ञान) पक्षधर्मता (हेतु का पक्ष-धर्म होना) तथा व्याप्ति ज्ञान। इन तीनो मे से किसी एक के भी दोषपूर्ण होने पर असिद्धि दोष हो सकता है[1] जैसे पक्ष का ज्ञान दोषपूर्ण होने पर आश्रयासिद्धि, हेतु का ज्ञान सदोष होने पर स्वरूपासिद्धि तथा व्याप्ति का ज्ञान दोष पूर्ण होने पर व्याप्यत्वासिद्धि दोष होगा। इसी कारण न्याय शास्त्र की परम्परा मे असिद्ध हेत्वाभास के तीन भेद माने गये हैं।

यहा परम्परा शब्द के व्यवहार का तात्पर्य यह है कि कुछ आचार्यों ने तीन के स्थान पर चार आठ अथवा अधिक भेद भी किये है। उदाहरणार्थ आचार्य प्रशस्तपाद असिद्ध के चार भेद मानते है उभयासिद्ध, अन्यतरासिद्ध, तद्भावासिद्ध तथा अनुमेयासिद्ध।[2] उनके अनुसार 'पक्ष मे वादी और प्रतिवादी दोनो द्वारा हेतु की सत्ता को स्वीकार न करना **उभयासिद्ध हेत्वाभास** है' जैसे शब्द नित्य है सावयव होने से इस अनुमान मे हेतु 'अवयव युक्त होना' है, किन्तु कोई भी दार्शनिक सम्प्रदाय शब्द को सावयव नही मानता, अत वादी और प्रतिवादी किसी भी सम्प्रदाय के क्यो न हो दोनो को ही शब्द का सावयव होना स्वीकार न होगा अत इस हेतु को **उभयासिद्ध हेत्वाभास** कहा जाएगा।

चू कि मीमासक शब्द को कार्य अर्थात् किसी कारण से उत्पन्न नही मानते, अत उनके साथ वाद के प्रसङ्ग मे यदि शब्द को अनित्य सिद्ध करने के लिए कार्यत्व को हेतु माना जाए तो वह हेतु वादी प्रतिवादी मे अन्यतर मीमांसक को स्वीकार न होने से **अन्यतरासिद्ध** हेत्वाभास कहा जाएगा।

चू कि धूम और अग्नि का नियत साहचर्य है, अत धूम के द्वारा अग्नि की सिद्धि की जाती है, किन्तु धूम की भाति प्रतीत होने के कारण वाष्प को हेतु बनाकर यदि साध्य अग्नि का साधन के किया जाए, तो चू कि बाष्प धूम नहीं है, अत उस हेतु (वाष्प) को **तद्भावासिद्ध** हेत्वाभास कहा जाएगा।

चू कि न्यायशास्त्र की परम्परा मे तमस् (अन्धकार) को तेज का अभाव माना जाता है, अत उसी तमस् को यदि कृष्णरूप के कारण पार्थिव सिद्ध करना चाहे तो उस अनुमान मे कृष्णरूपवत्व को **अनुमेयासिद्ध** हेत्वाभास कहेगे।

---

१ तत्व चिन्तामणि पृ० ११८०   २ प्रशस्तपादभाष्य पृ० ११६

बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग भी केवल चार प्रकार के असिद्ध मानते हैं : उभयासिद्ध, अन्यतरासिद्ध, सन्दिग्धासिद्ध और आश्रयासिद्ध।[1]

आचार्य भासर्वज्ञ ने असिद्ध के चौदह भेद माने है स्वरूपासिद्ध, व्यधिकरणासिद्ध, विशेष्यासिद्ध, विशेषणासिद्ध, भागासिद्ध आश्रयासिद्ध, आश्रयैकदेशासिद्ध, व्यर्थविशेष्यासिद्ध, व्यर्थविशेषणासिद्ध, सन्दिग्धासिद्ध, सन्दिग्धविशेष्यासिद्ध, सन्दिग्धविशेषणासिद्ध, विरुद्धविशेष्यासिद्ध और विरुद्धविशेषणासिद्ध, तथा ये भेद भी यदि वादी और प्रतिवादी मे दोनो को ही अमान्य हो तो उभयासिद्ध तथा अन्यतर को अमान्य होने पर अन्यतरासिद्ध भेद से विभक्त होकर अट्ठाइस प्रकार के हो जाते है।[2]

आचार्य बल्लभ के अनुसार लिङ्ग के रूप मे अनिश्चित हेतु को असिद्ध हेतु कहते है,[3] अर्थात् जो हेतु पक्षधर्म के रूप मे ज्ञात न हो और जिसकी व्याप्ति का ज्ञान न हो उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते है।[4] किन्तु असिद्ध की यह परिभाषा अधिक उपयुक्त नही है, क्योंकि व्याप्ति का अभाव और पक्ष धर्मताज्ञान का अभाव इन दोनो की पृथक् पृथक् असिद्धि आचार्य बल्लभ भी नहीं मानते। यदि यह कहा जाए कि 'व्याप्ति और पक्षधर्मताज्ञान से सिद्धि होती है, तथा व्याप्ति एव पक्षधर्मताज्ञान के अभाव मे सिद्धि नही होती, अतः उस अभाव से युक्त हेतु को असिद्धि कहेगे' तो यह कथन उचित न होगा, क्योकि व्याप्ति आदि का अभाव न होने पर ही हेतु सद्हेतु होता है, अनैकान्तिक आदि प्रत्येक हेत्वाभास मे व्याप्ति का अभाव तो रहता ही है, अत. असिद्ध का लक्षण प्रत्येक हेत्वाभास मे अतिव्याप्त होगा।[5]

भासर्वज्ञ ने पक्ष मे हेतु का रहना अनिश्चित होने पर उस हेतु को असिद्ध हेत्वाभास कहा था।[6] किन्तु असिद्ध का यह लक्षण सोपाधिक (उपाधि सहित) हेतु मे अव्याप्त रहता है जबकि उपाधियुक्त हेतु से साध्य की सिद्धि नही होती, तथा उसे अन्य किसी हेत्वाभास मे समाहित नही किया जा सकता।

इसीलिए दीधितिकार ने अनैकान्तिक अर्थात् साधारण असाधारण और

---

१. न्यायप्रवेश पृ० ३
२ न्यायसार पृ० ७-६
३, न्यायलीलावती पृ० ६११
४, न्यायलीलावती प्रकाश पृ० ६११
५. तत्वचिन्तामणि पृ० १८४५,
६. न्याय सार पृ० ७

अनुपसहारी से भिन्न यथार्थ ज्ञान का विषय होते हुए भी परामर्श के विरोधी होने वाले हेतु को असिद्ध हेत्वाभास कहा है ।[1]

असिद्धि की सबसे अधिक स्पष्ट परिभाषा गगेशने की है, उनका कहना है कि हेतु के आश्रय, स्वरूप अथवा व्याप्यत्व का सिद्ध न होना ही असिद्धि है तथा इनसे प्रत्येक की सिद्धि का ज्ञान न होने से अनुमिति मे बाधा होती है ।[2]

इस प्रकार असिद्ध के पूर्व निर्दिष्ट भेद करना ही अधिक उपयुक्त होगा ।

आश्रयासिद्ध - आश्रयासिद्ध शब्द स्वत ही अपनी परिभाषा स्पष्ट करता है अर्थात् पक्ष के धर्म हेतु के आश्रय का अभाव जिस हेतु मे हो वह **आश्रयासिद्ध** है । जैसे --'आकाशकमल सुगन्धित है कमल होने से' इस अनुमान मे कमल होना (कमलत्व) हेतु के आश्रय 'आकाश कमल' का ज्ञान होता ही नही, अत इस हेतु को **आश्रयासिद्ध** हेत्वाभास कहते है । प्रस्तुत उदाहरण मे पक्ष सामान्यकमल नही है, किन्तु **आकाशीयकमल** है, जिसका धर्म कमलत्व सामान्य न होकर आकाशीयत्वविशिष्ट कमल का धर्म है, इस प्रकार पक्षतावच्छेदक धर्म **आकाशीयत्वविशिष्टकमलत्व** अथवा नैयायिक भाषा मे **आकाशीयत्वावच्छिन्नकमलत्व** होगा, क्योकि नैयायिकों का सिद्धान्त है कि जब सामान्य विशेषण को छोडकर विशेषणविशिष्ट किसी धर्म का कथन किया जाता है, तब वह धर्म विशेष्य का नही किन्तु विशेषण का ही धर्म माना जाता है (सति विशेष्ये बाधे विशिष्टाबुद्धि विशेषणमुपसक्रामति) । इस सिद्धान्त के अनुसार पक्षतावच्छेदक धर्म आकाशीयत्व होगा कमलत्व सामान्य नही, तथा इस प्रकार यहा पक्षतावच्छेदक धर्म का अभाव होने से पक्षता न होगी ।

स्वरूपासिद्ध—यह शब्द भी अपने मे अत्यन्त स्पष्ट है, अर्थात् जहा हेतु का स्वरूप स्वय ही सिद्ध नही होता । हेतु की सिद्धि किसी प्रमाण से ज्ञात नही होती । जैसे 'शब्द गुण है चक्षुर्ग्राह्य होने से' इस अनुमान मे शब्द के गुणत्व की सिद्धि के लिए दिया गया हेतु 'उसका चक्षुरिन्द्रियग्राह्य होना' स्वय ही असिद्ध है । इस प्रकार पक्ष मे हेतु का होना सिद्ध न होने से इसे स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास कहते है । स्वरूपासिद्ध और आश्रयासिद्ध मे अन्तर यह है कि आश्रयासिद्ध मे पक्षसिद्ध नही होता, क्योकि या तो वह अयथार्थ होता है अथवा दोष-

---

१ दीधिति पृ० १८५३-५४ २ तत्वचिन्तामणि पृ० १८५२

युक्त । जबकि स्वरूपासिद्ध में हेतु और उसका आश्रय पक्ष दोनो ही यथार्थ होते है, किन्तु उनका परस्पर सहभाव नही होता ।

कुछ विद्वान् स्वरूपासिद्ध के चार प्रकार मानते हैं—शुद्धासिद्ध, भागासिद्ध, विशेषणासिद्ध और विशेष्यासिद्ध ।[1] जैसे . 'शब्द गुण है, चक्षुरिन्द्रियग्राह्य होने से' यहा हेतु **शुद्धासिद्ध है** । 'घटपट आदि पृथिवी है घट होने से' यहा 'घट होना' हेतु पक्ष के एक अश घट मे तो सिद्ध है किन्तु द्वितीय अश पट आदि मे घटत्व न होने से असिद्ध है, इस प्रकार एक भाग मे असिद्ध होने से इसे **भागासिद्ध** हेत्वाभास कहते है । इसी प्रकार 'वायु प्रत्यक्ष है, रूपवान् होते हुए स्पर्शवान् होने से' इस अनुमान मे सविशेषण हेतु का 'विशेषण' **रूपवान् होना** वायु मे सिद्ध नही हो सकता, अत इसे **विशेषणासिद्ध** हेत्वाभास कहते है, तथा 'वायु प्रत्यक्ष है स्पर्शवान् होते हुए रूपवान् होने से' इस अनुमान मे सविशेषण हेतु का विशेषण अश स्पर्शवान् होना तो सिद्ध है, किन्तु विशेष्य अश रूपवान् होना सिद्ध नही है, अत इस हेतु को **विशेष्यासिद्ध** हेत्वाभास कहते है । इन चारों ही भेदों मे स्वरूपासिद्ध का सामान्यलक्षण 'हेतु का पक्ष मे सिद्ध न होना' समान रूप से विद्यमान है क्योंकि प्रत्येक स्थिति मे हेतु पक्ष मे सिद्ध नही होता । जैसाकि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि हेतु के पाच धर्मों मे से सभी धर्मों के विद्यमान रहने पर वह हेतु सद्हेतु तथा किसी एक के भी विद्यमान न रहने पर वह हेतु हेत्वाभास होता है । प्रस्तुत असिद्ध भेद मे पक्ष सत्व (पक्षधर्मत्व) का अभाव रहता है, अत यह भी सव्यभिचार आदि के समान हेत्वाभास है ।

व्याप्यत्वासिद्ध— असिद्ध का तृतीय भेद **व्याप्यत्वासिद्ध है** । इसमे हेतु साध्य का व्याप्य नही बन पाता । अन्नभट्ट के अनुसार उपाधि सहित हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध कहते हैं ।[2] उपाधि उस धर्म विशेष को कहते है, जिसके रहने पर ही हेतु साध्य के साथ रहे तथा न रहने पर न रहे । यह धर्म साध्य युक्त सभी स्थलो मे रहता है, किन्तु हेतुयुक्त सभी स्थलो मे नही रहता ।[3] उपाधि-शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार 'जो समीपवर्ती को अपने धर्म से प्रभावित करले उसे उपाधि कहते हैं । जैसे लाल फूल समीपवर्ती स्फटिक मणि को अपनी

---

१ तर्क किरणावली पृ० ११३

२ तर्क सग्रह पृ० ११४ ३. वही पृ० ११४

लिमा से प्रभावित करता है उसस्थिति मे स्फटिक की लालिमा स्वाभाविक न होकर उपाधिकृत कही जाएगी तथा फूल को **उपाधि** कहा जाएगा । इसी प्रकार सर्वव्यापक आकाश घट के कारण घट परिमाण मे परिमित हो जाता है, यहा आकाश का सीमित परिमाण स्वाभविक न होकर उपाधि के कारण उत्पन्न कहा जाएगा, तथा घड को **उपाधि** कहा जाएगा । इस प्रकार हम कह सकते है कि, उपाधि वह धर्म है, जिससे कोई पदार्थ कुछ काल के लिए कुछ विशेष धर्म से युक्त प्रतीत होता है ।' यद्यपि वस्तु का अपना स्वतन्त्र धर्म होता है किन्तु वह उपाधि के कारण प्रतीत न होकर उपाधिगत धर्म ही उस वस्तु मे निजधर्म के रूप मे प्रतीत होता है । जैसे 'पर्वत धूमयुक्त है क्योकि वह अग्नि युक्त है' इस अनुमान मे **साध्य** धूम युक्त होना है' तथा **हेतु** 'अग्नियुक्त होना', किन्तु साध्य धूम साधन अग्नि के साथ सदा नही रहता, उदाहरणार्थ गरम लोहे के गोले मे हेतु अग्नि है, किन्तु साध्य धूम नही । साध्य भले ही अधिक-स्थान मे रहने वाला हो, किन्तु हेतु को अधिक स्थान मे रहने वाला अर्थात् व्यापक नही होना चाहिए । उसे तो व्याप्य अर्थात् समान अथवा कम स्थानो मे रहने वाला होना चाहिए । यह व्याप्यत्व प्रस्तुत हेतु मे नही है । यदि विचार करे तो प्रतीत होता है कि **गीले ईंधन का संयोग** एक ऐसा धर्म है कि जब वह हेतु के साथ रहता है तो साध्य भी रहता है, जैसे रसोई घर मे गीले ईंधन के साथ हेतु अग्नि है तो साध्य धूम भी है, किन्तु गरम लोहे के गोले मे हेतु के साथ वह विशेष धर्म 'गीले ईंधन का अग्नि से सयोग' नही है, तो वहा साध्य धूम भी नही है । इस प्रकार यह धर्म धूम का नियत सहचारी है किन्तु यह गीले ईंधन का सयोग अग्नि के साथ नियतरूप से नही रहता अतएव इस स्थिति विशेष को **उपाधि** कहते है । इस उपाधि से युक्त रहने पर ही 'अग्नि युक्त होना हेतु साध्य 'धूम का साधक हो सकता है अन्यथा नही, अतएव इस उपाधि से युक्त होने के कारण 'अग्नि युक्त होना हेतु **व्याप्यत्वासिद्ध** है ।

दीपिकाकार के अनुसार उपाधि के चार प्रकार है : **केवल साध्यव्यापक, पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक, साधनाधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक** तथा **उदासीन-धर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक** ।' पूर्व पंक्तियो मे वर्णित 'गीले इन्धन का सयोग केवल साध्य के रहने पर ही हेतु के साथ रहता है 'अन्यथा नही' अत वह **केवल साध्यव्यापक** उपाधि है । 'वायु प्रत्यक्ष है, प्रत्यक्ष स्पर्श का आश्रय

१ तर्कदीपिका पृ० ११४

होने से' इस अनुमान के हेतु 'प्रत्यक्ष स्पर्शाश्रयत्व' के साथ सर्वत्र प्रत्यक्ष योग्यता नही होती, क्योंकि नैयायिकों के अनुसार बहिरिन्द्रिजन्य द्रव्य प्रत्यक्ष वही होता है, जहा उद्भूत रूप भी विद्यमान हो, अत जहा जहा उद्भूत रूप के साथ प्रत्यक्ष स्पर्शाश्रयत्व विद्यमान है, वही वही द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है अन्यथा नही, जैसे मानस प्रत्यक्ष मे। प्रस्तुत अनुमान मे वायु पक्ष है, उसका धर्म बहिर्द्रव्यत्व (स्थूल द्रव्य होना) है, उससे युक्त प्रत्यक्ष पृथिवी जल और अग्नि में है, उनमे 'उद्भूत रूप' भी विद्यमान है, तथा इस पक्षधर्म 'बहिर्द्रव्यत्व' का आत्मा आदि मे अभाव है, उन्हे छोडकर अन्यत्र साध्य के साथ 'उद्भूत रूपवत्व' रहता है, इस प्रकार वह पक्षधमावच्छिन्न (पक्षधर्म से युक्त) मे साध्य के साथ व्यापक है, तथा हेतु प्रत्यक्ष स्पर्श का आश्रय होना' वायु मे विद्यमान है किन्तु वहा उदभूत रूप नही है इस प्रकार यह साधन के साथ अव्यापक भी है फलत यह 'उद्भूत रूप वाला होना' उपाधि पक्षधर्मावच्छिन्न साध्यव्यापक कही जाएगी। 'ध्वंसाभाव नाशवान् है क्योंकि वह उत्पन्न होता है' इस अनुमान मे उत्पन्न होना हेतु मे 'भावत्व अर्थात् भाव पदार्थ होना' उपाधि है, वह क्योंकि 'जो जो उत्पन्न होता है वह वह नाशवान् है, यह व्याप्ति केवल भाव पदार्थों मे ही सगत होती है, अत व्याप्ति में 'भावपदार्थ होने पर' यह विशेषण आवश्यक है, क्योंकि प्रागभाव उत्पन्न न होने पर भी नाशवान् है। इस प्रकार भावत्व उपाधि उत्पन्न होने वाले अनित्य पदार्थो मे रहती है, उत्पन्न न होने वाले पदार्थों मे नही। इसलिए **भाव पदार्थ होना** जन्यत्व (उत्पन्न होना) हेतु से युक्त अनित्यत्व मे व्यापक है। इस प्रकार इस उपाधि को **साधनधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक** कह सकते है। 'प्रागभाव नाशवान् है, ज्ञान का विषय होने से' इस अनुमान मे ज्ञान का विषय होना हेतु है तथा **भावत्व** (भाव पदार्थ होना) उपाधि है, जो जो **भाव पदार्थ** ज्ञान के विषय हैं, वे ही **विनाशी** हैं, अत्यन्ताभाव भाव पदार्थ नही है अत. वह विनाशी भी नही है। इसके साथ ही यह भावत्व उत्पन्न होने वाले पदार्थो मे भी विद्यमान रहता है। यह जन्यत्व (उत्पन्न होना) धर्म न तो पक्ष का धर्म है और न साधन का, अपितु दोनो से भिन्न (उदासीन) का धर्म है, जिसके साथ साथ भावत्व (उत्पत्ति) उपाधि रहती है; अतः इस उपाधि को **उदासीनधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक** उपाधि कहा जाएगा।

इस प्रकार हम देखते है कि व्याप्यत्वासिद्ध हेतु (हेत्वाभास) साध्य का नियत सहचारी नहीं है और इसीलिए ऐसे हेतुओ मे हेतु और साध्य की व्याप्ति

नही हो सकती, जबकि स्वरूपासिद्ध हेतु (हेत्वाभास) का पक्षधर्म होना सम्भव नही होता ।

विश्वनाथ आदि नव्य नैयायिक साध्य सहचरित हेतु के लिए यह आवश्यक मानते है कि वह धर्मान्तर से युक्त न हो अर्थात् हेतु वाचक पद सविशेषण न हो।[1] यदि हेतु धर्मान्तर से युक्त हो तो वह साध्यव्याप्य नही रह जाता। ऐसी स्थिति मे व्याप्यत्व का अभाव होने पर वे व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास मानते है। जैसे पर्वत अग्नि वाला है नील धूम युक्त होने से' इस अनुमान मे 'नील धूम वाला होना' हेतु है, जबकि अग्नि और धूम के सहभाव दर्शन मे धूम सामान्य है, नील धूम नही। यद्यपि प्रतीत तो यह होता है कि धूम और नील धूम परस्पर अभिन्न है, किन्तु वस्तुत धर्म विशेष का सयोग होने के कारण दोनो ही पूर्णत भिन्न है।[2] क्योकि धर्म विशेष का सयोग वस्तु को भिन्न गुण वाला बना देता है, अत. वस्तु भी भिन्न ही हो जाती है।

व्याप्यत्वासिद्ध की परिभाषा सम्बन्ध मे नैयायिको के प्राचीन और नवीन सम्प्रदायो मे अत्यधिक मत भेद है। विश्वनाथ व्याप्यत्वासिद्ध की परिभाषा मे उपाधि की कही चर्चा भी नही करते, जबकि अन्नभट्ट उपाधि को ही व्याप्यत्वासिद्ध का आधार मानते है।[3] तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने दोनो प्रकार का व्याप्यत्वासिद्ध स्वीकार किया है।[4]

कुछ विद्वान् सोपाधिक हेतु को असिद्ध के अन्तर्गत न रखकर सव्यभिचार मे अन्तर्भूत मानते है। उनका कथन है कि उपाधि व्याप्ति में दोष उत्पन्न करती है, तथा व्याप्ति दोष से परामर्श मे बाधा होती है, इस प्रकार उपाधि व्याप्ति मे दोष उत्पन्न करते हुए परामर्श के प्रतिबन्ध द्वारा अनुमिति की प्रतिबन्धक है। फलत उपाधि हेतु का दोष नही है, अपितु अनुमिति के करण परामर्श के प्रतिबन्ध मे अन्यथासिद्ध है। सोपाधिक हेतु का मुख्य दोष तो व्यभिचार है, जो उपाधि द्वारा उत्पन्न होता है। इस प्रकार व्यभिचार द्वारा प्रतिबन्धक होने से व्याप्यत्वासिद्ध हेतु सव्यभिचार हेतु से अभिन्न सिद्ध होता है।

---

१. न्यायमुक्तावली पृ० ३४७-४८　　२ दिनकरी पृ० ३४८
३. तर्क सग्रह पृ० ११४　　४. तर्क भाषा पृ० ४४-४५

इस प्रसग मे यह प्रश्न हो सकता है कि जब व्याप्यत्वासिद्ध और सव्यभिचार अभिन्न प्रतीत होते हैं तो क्या कारण है कि नैयायिको ने इसे (व्याप्यत्वासिद्ध को) सव्यभिचार से पृथक् स्वीकार किया है ? इस प्रश्न के समाधान के रूप में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यद्यपि व्याप्ति दोष दोनो मे समान रूप से रहता है और इसी कारण दोनो अभिन्न प्रतीत भी होते है, किन्तु यह प्रतीति यथार्थ नही है, क्योंकि व्यभिचार की प्रतीति भावात्मक रूप से होती है, जबकि असिद्धि की प्रतीति अभावात्मक होती है। व्यभिचार दोष स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है, जबकि असिद्धि सामान्यत· प्राप्त है, वह भाव रूप से स्पष्ट नही होती । जैसे शब्द नाशवान् है सत्तावान् होने से' इस अनुमान मे नाशवान् होना और सत्तावान् होना साध्य और साधन के रूप मे व्यवहृत हो रहे है, किन्तु ये दोनो परस्पर नियत सहचारी है या नही ? यह सरलता पूर्वक नही कहा जा सकता । साधारण रूप से तो यही प्रतीत होता है कि ये दोनो ही धर्म सभी वस्तुओ मे सामान्यतया विद्यमान रहते है, अत इनमे कौन व्याप्य है और कौन व्यापक यह प्रतीति सुलभ नही होती। न्यायबोधिनीकार गोवर्धन व्यभिचार मे साध्य के अभाव वाले स्थल मे साधन का रहना तथा असिद्ध में (साध्य के अभाव वाले स्थल में) साधन के अभाव का अभाव स्वीकार किया है । इस प्रकार व्यभिचार दोष भावात्मक है, जबकि असिद्ध अभावात्मक । इस अन्तर को भी केवल शाब्दिक कहा जा सकता है, सम्भवत इसोलिए अन्नभट्ट ने व्याप्यत्वासिद्ध मे उपाधि को आवश्यक माना है ।

बाधित:—नैयायिको द्वारा स्वीकृत पाचवा हेत्वाभास बाधित है । गौतम ने इसे **कालातीत** नाम से स्वीकार किया था । गौतम कृत **कालातीत** की परि-भाषा स्वय अपने मे अधिक स्पष्ट नही है, इसीलिए एक अज्ञातनामा आचार्य ने, जिनका उल्लेख भाष्यकार वात्स्यायन ने किया है, न्यायवाक्य के अवयवो मे क्रम विपर्यय को ही **कालातीत** स्वीकार किया था ।[1] किन्तु उनके मत को परवर्त्ती किसी विद्वान् ने स्वीकार नही किया । क्योकि सस्कृत भाषा की यह एक सामान्य परम्परा रही है कि 'जिस पद का जिस पद के साथ अर्थत. सम्बन्ध रहता है, पदो के दूर रहने पर भी उस अर्थ की प्रतीति होती ही है, अर्थ के असमान रहने पर आनन्तर्य भी प्रतीति का कारण नही हो पाता ।[2]

१. न्याय भाष्य पृ० ४२ २. वही पृ० ४२

काव्य मे क्रम विशेष के आधार पर अर्थ की व्यञ्जना मे अन्तर आना भले ही दूसरी बात है।[१] गौतम ने न्याय वाक्य मे क्रम विपर्यय को हेत्वाभास न मानकर ही उसे अप्राप्तकाल निग्रहस्थान नाम से स्वीकार किया है।[२] वात्स्यायन के अनुसार कालातीत का तात्पर्य है, जो हेतु काल अतीत हो जाने कारण अब साध्य के साधन मे समर्थ नही है। जैसे 'शब्द नित्य है क्योकि वह सयोग से व्यग्य होता है, इस अनुमान मे सयोग से व्यजित होना' हेतु है, किन्तु शब्द की उपलब्धि के समय वह सयोग नही रहता, अत: उपलब्धि के समय सयोग द्वारा व्यञ्जना न होने मे (सयोग द्वारा व्यग्य होने का काल अतीत हो जाने के कारण) इस प्रकार के हेतु को उनके अनुसार कालातीत हेत्वाभास कहा जा सकता है।[3]

परवर्ती नैयायिको ने जिस हेतु के साध्य का अभाव प्रमाणान्तर से बाधित हो उसे बाधित हेत्वाभास माना है। बाधित के प्रसङ्ग मे नव्यनैयायिको की इस नवीन मान्यता के सूत्र भी वात्स्यायनभाष्य मे खोजे जा सकते है, जैसे पूर्व उदाहरण मे कालातीत के लक्षण का संगमन करते हुए वे कहते है कि 'व्यजक सयोग का समय व्यग्य रूप के समय मे भिन्न नही होता व्यजक दीपक के प्रकाश और घट के सयोग होने पर व्यग्य घट की प्रतीति होती है, तथा दीप प्रकाश एव घट के सयोग की निवृत्ति हो जाने पर घट की प्रतीति भी समाप्त हो जाती है। दारू और परशु का सयोग होने पर शब्द की प्रतीति होती है किन्तु उस सयोग के नाश हो जाने पर भी दूरस्थ व्यक्तियो को शब्द की प्रतीति होती है, इसलिए यह प्रतीति सयोग से निर्मित नही है। क्योकि कारण के अभाव होने पर कार्य का भी अभाव होता है।'[४] वात्स्यायन की यह निषेध प्रक्रिया एक प्रकार का अनुमान है जिसके द्वारा पूर्व अनुमान के हेतु 'सयोग व्यग्य होना' हेतु का स्पष्ट रूप से निषेध किया गया है। इस प्रकार अनुमान द्वारा बाध की प्रक्रिया को देखकर प्रमाणान्तर से साध्य का

१ 'वाक्य मे पदक्रम के महत्व' के सम्बन्ध में मेरे शोध प्रबन्ध 'महिमभट्ट कृत काव्य दोष विवेचन एक अध्ययन' का क्रमदोष प्रकरण देखिए।

२. न्याय सूत्र पृ० ५. २. १०

३ (क) न्याय भाष्य पृ० ४२ (ख) न्याय खद्योत पृ० १८६

४. न्याय भाष्य पृ० ४२

बाध दूसरे शब्दो में साध्याभाव का ज्ञान, बाधित है ऐसा नैयायिको ने स्वीकार किया है।

इस प्रकार नवीन मत मे जिस हेतु के साध्य का अभाव प्रमाणान्तर से बाधित हो रहा हो उसे बाधित या कालातीत हेत्वाभास कहते है।[1] किन्तु यह प्रमाणान्तर बलवत्तर होना चाहिए, अन्यथा समबल होने पर या प्रमाणान्तर के निर्बल होने पर प्रस्तुत हेतु का भी बाध न हो सकेगा। गंगेशोपाध्याय तथा अन्नभट्ट आदि नैयायिको के अनुसार साध्याभाव प्रमाणान्तर से निश्चित होना चाहिए, साथ ही प्रमात्मक भी।[2] इसीलिए उन्होने उस हेतु को बाधित हेत्वाभास माना है, जिसके पक्ष मे साध्य का अभाव प्रमाणान्तर द्वारा निश्चित हो चुका है। साध्याभाव को प्रमात्मक ही क्यो होना चाहिए इस सम्बन्ध मे उनका कथन है कि साध्याभाव ज्ञान के अप्रमात्मक होने पर साध्याभाव सन्देह एव साध्याभाव भ्रम से अनुमिति का प्रतिबन्ध नही होता।[3] तत्त्वचिन्तामणि के व्याख्याकार रघुनाथ शिरोमणि का विचार है कि यद्यपि बाधित हेत्वाभास मे साध्याभावज्ञान प्रमा अर्थात् यथार्थज्ञान ही होता है, अयथार्थ नही, फिर भी उस ज्ञान के प्रमात्व को अनुमिति के प्रतिबन्ध मे कारण नही मानना चाहिए, क्योंकि 'पक्ष मे साध्य के अभाव का ज्ञान प्रमा है' इस ज्ञान मे यथार्थता के ज्ञान का विषय पक्ष मे साध्य का अभाव नही किन्तु उसका ज्ञान, तथा ज्ञान के ज्ञान का सम्बन्ध अनुमितिगत साध्य से साक्षात् नही है, अत वह ज्ञान अनुमिति का प्रतिबन्धक नही हो सकता है।[4]

बाधित हेत्वाभास के लक्षण को निर्दोष बनाने के लिए **अवच्छिन्न** शब्द का प्रयोग करने की आवश्यकता है, जिसके फलस्वरूप वह आवश्यक हो जाएगा कि सम्पूर्ण पक्ष मे साध्य का अभाव निश्चित हो, अंशमात्र मे नही। फलत यह वृक्ष बन्दर के सयोग से युक्त है, विशिष्ट प्रकार का कम्पन होने से' इस अनुमान मे, मूल मे (मूलावच्छेदेन) अथवा तने मे बन्दर के सयोग का अभाव ज्ञात होने पर भी अनुमान मे बाधा न होगी तथा ऐसे स्थलो मे बाधित लक्षण की अतिव्याप्ति न होगी।

---

१. तर्क भाषा पृ० ४६

२ (क) तत्व चिन्तामणि पृ० ११६५ (ख) तर्क संग्रह पृ० ११६

३. तत्वचिन्तामणि पृ० १२१२–१३ ४ अनुमान दीधिति पृ० १२०८

यहा यह स्मरणीय है कि सव्यभिचार आदि हेत्वाभासो में परामर्श के प्रतिबन्ध द्वारा अनुमिति का प्रतिबन्ध होता है जबकि बाधित मे साक्षात् अनुमिति का ही प्रतिबन्ध होता है।

भासर्वज्ञ ने **बाधित** हेत्वाभास के **प्रत्यक्षविरुद्ध, अनुमान विरुद्ध, प्रत्यक्षैकदेश विरुद्ध, अनुमानैकदेशविरुद्ध** एव **आगमैकदेशविरुद्ध** भेद से छ भेद किये है,[1] किन्तु इन भेदो मे प्रतिबन्ध की प्रक्रिया मे किसी प्रकार का अन्तर नहीं है और नही ही उसमें कोई वैशिष्ट्य है, अत नैयायिको ने इसके विभाजन की आवश्यकता नही समझी। यदि किस प्रमाण द्वारा साध्य का अभाव निश्चित हो रहा है, इस आधार पर बाधित के भेद करना चाहे तो प्रत्येक दर्शन मे प्रमाणो की मान्यता के आधार पर बाधित के भेद करने होगे। यदि उन प्रमाणो के एक देश के विरोध के आधार पर भी भेद स्वीकार किये जाएं तो नैयायिको के मत मे **प्रत्यक्ष बाधित, प्रत्यक्षैकदेश बाधित, अनुमान बाधित, अनुमानैकदेश बाधित, उपमान बाधित, उपमानैकदेश बाधित, आगम बाधित, आगमैकदेश बाधित** भेद से आठ प्रकार के शुद्ध बाधित तथा दो या अधिक प्रमाणो द्वारा अथवा उनके एकदेश द्वारा साध्याभाव ज्ञात होने पर बाधित के बहत्तर भेद सकीर्ण हो सकते है।[2] किन्तु नैयायिको ने इस प्रकार के भेदोपभेद को आवश्यक नही माना है।

---

१ न्यायसार पृ० ११

२. बाधित हेत्वाभास के सभावित सकीर्ण भेद इस प्रकार है :— (१) प्रत्यक्षानुमान बाधित (२) प्रत्यक्षोपमान बाधित, (३) प्रत्यक्षागम-बाधित, (४) प्रत्यक्षैकदेशानुमानबाधित, (५) प्रत्यक्षैकदेशोपमानबाधित, (६) प्रत्यक्षैकदेशागमबाधित, (७) प्रत्यक्षानुमानैकदेश बाधित। (८) प्रत्यक्षोपमानैकदेशबाधित, (९) प्रत्यक्षागमैकदेश बाधित (१०) प्रत्यक्षैकदेशानुमानैकदेशबाधित, (११) प्रत्यक्षैकदेशोपमानैकदेशबाधित, (१२) प्रत्यक्षैकदेशागमैकदेशबाधित; इस प्रकार प्रत्यक्षबाधित के बारह भेद होगे तथा अनुमान के ग्यारह, उपमान के दस एव आगम के नौ कुल मिलाकर सकीर्ण के बयालिस भेद हो सकते है। इसके अतिरिक्त तीन-चार प्रमाणो के बीस सकर प्रकार भी सभव हैं। फलतः कुल बहत्तर भेद हो सकते हैं।

संक्षेप मे हेत्वाभास के भेद प्रभेद निम्नलिखित हैं :—

न्याय के अनुसार

- हेत्वाभास
  - अनैकान्तिक (सव्यभिचार)
    - साधारण
    - असाधारण
    - अनुपसहारी
  - विरुद्ध
  - सत्प्रतिपक्ष (प्रकरणसम)
  - असिद्ध
    - आश्रयासिद्ध
    - स्वरूपासिद्ध
    - व्याप्यत्वासिद्ध
  - बाधित (कालातीत)

वैशेषिक के अनुसार

- हेत्वाभास
  - विरुद्ध (अप्रसिद्ध)
  - असिद्ध (असत्)
  - सन्दिग्ध

पाच हेत्वाभासो के विवेचन के समय एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि इनकी सख्या पाच ही क्यो रखी गयी है ? क्या इन पाच हेतु दोषो के अतिरिक्त अन्य कोई दोष ऐसे नही है, जो अनुमिति की प्रक्रिया मे बाधक हो ? यदि है तो उनका परिगणन क्यो नही किया गया ? इस प्रश्न के समाधान के रूप मे हम इतना ही कह सकते हैं कि अनुमिति प्रक्रिया मे बाधक पक्षगत उदाहरणगत आदि अनेक दोष हो सकते हैं, बौद्ध आदि दार्शनिकों, कुछ नैयायिको तथा पाश्चात्य दार्शनिको ने उन्हे स्वीकार भी किया, जिनकी चर्चा हेत्वाभासो के विवेचन के प्रारम्भ मे की भी जा चुकी है, किन्तु नैयायिको ने उन्हें हेत्वाभासो के समान महत्व प्रदान नही किया है। उसका कारण यह है कि अनुमान की प्रक्रिया मे कोई दोष चाहे वह प्रतिज्ञा से सम्बन्धित हो या पक्ष से अथवा उदाहरण से वह किसी न किसी अश मे हेतु को दोष पूर्ण अवश्य करता है। जैसा कि हम देख चुके है बाधित मे प्रतिज्ञा प्रमाण विरुद्ध होती है, आश्रयासिद्ध में पक्ष सदोष रहता है, जिसके

फलस्वरूप हेतु मे भी दोष आ जाता है, क्योकि हेतु ही प्रतिज्ञा और निगमन के बीच सम्बन्ध की स्थापना करने वाला है, हेतु के आधार पर ही पक्ष और उदाहरण मे समानता की स्थापना कर निर्णय प्राप्त किया जाता है, तथा वही सम्पूर्ण न्याय प्रक्रिया (पञ्चावयवाक्य) का केन्द्र है, फलत किसी प्रकार का भी दोष हेतु को प्रभावित किये बिना नही रह सकता, अतएव अधिकाश दोषो का समावेश हेत्वाभासो मे हो सकता है ।

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं : न्यायशास्त्र की प्रक्रिया के अनुसार अनुमिति प्राप्त करने के लिए निर्दोष परामर्श आवश्यक है । निर्दोष परामर्श के लिए तीन बाते आवश्यक है पक्षता पक्षधर्मता और व्याप्ति । साथ ही इन तीनो का भी निर्दोष होना आवश्यक है । अनुमान सम्बन्धी समस्त दोष इन तीनो मे से किसी एक मे अथवा अनेक मे अवश्यमेव समाहित होगे । जब दोष पक्षधर्मता (हेतुता) मे विद्यमान होगा तब वह निस्सन्देह हेत्वाभास का विषय होगा । जब वह (दोष) पक्षता मे रहेगा तो पक्ष निश्चित रूप से अवास्तविक होगा, जैसे गगनारविन्द अथवा ऐसी वस्तु जिसमे हेतु नही रह सकता, ऐसी दोनो स्थितिया आश्रयासिद्ध और स्वरूपासिद्ध मे आ सकती है । है । व्याप्ति मे दोष होने पर अनैकान्तिक व्याप्यत्वासिद्ध आदि हेत्वाभास का क्षेत्र होगा । पाश्चात्य दर्शन मे स्वीकृत Illicit process of minor term मे भी व्याप्ति दोष ही रहता है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ दोषो का समावेश गौतम स्वीकृत जाति अथवा निग्रह स्थान मे हो जाता है, क्योकि उनके अनुसार हेत्वाभास भी तो निग्रह स्थान का एक प्रकार ही है । इन सबके अतिरिक्त न्यायशास्त्र मे अन्योन्याश्रय अनवस्था तथा चक्रक दोषो को भी स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किया जाता है, जिनकी चर्चा हम तर्क विवेचन के समय कर चुके है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि न्यायशास्त्र मे स्वीकृत हेत्वाभास दोषो का समस्त विवेचन नही है, अपितु कुछ मुख्य दोषो का परिगणन मात्र है ।

पाश्चात्य तर्क शास्त्र में दोषो के सर्व प्रथम दो भेद किये गये है · बाह्य तर्क दोष (Material अथवा Non-logical fallacies) तथा अन्तरङ्ग तर्क दोष (Formal अथवा Logical fallacies) इनमे से वहां बाह्य दोष का विवेचन न करके केवल अन्तरङ्ग दोषो का ही विवेचन किया गया है । वहा अन्तरङ्ग दोषों को चार भागो में विभाजित किया गया है :—

1 Undistributed Middle Term
2 Illicit Processes of major term तथा Illicit Processes of minor term
3. Negative premises for affirmative conclusion तथा affirmative premises for negative conclusion
4 Four or more terms.

प्राचीन नैयायिकों द्वारा स्वीकृत अनुमिति दोष तथा उनकी समीक्षा:--

गौतम ने वाद के प्रसग मे, दूसरे शब्दो मे अनुमान के प्रसग मे दोष के रूप मे निम्नलिखित बाइस निग्रह स्थानो तथा चौबीस जातियो का विवेचन किया है। निग्रहस्थान --प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थक, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त तथा हेत्वाभास।[1]

जाति —साधर्म्यसम, वैधर्म्यसम, उत्कर्षसम, अपकर्षसम, वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम, विकल्पसम साध्यसम, प्राप्तिसम, अप्राप्तिसम, प्रसङ्गसम, प्रतिदृष्टान्तसम, अनुत्पत्तिसम, सशयसम, प्रकरणसम, अहेतुसम, अर्थापत्तिसम, अविशेषसम, उपपत्तिसम, उपलब्धिसम, अनुपलब्धिसम, अनित्यसम, नित्यसम तथा कार्यसम।[2]

दोषों के इन वर्गों मे निग्रहस्थान का तात्पर्य है पराजय की स्थिति मे पहुचना। अर्थात् इन दोषो के आ जाने पर वादी अथवा प्रतिवादी को पराजित घोषित किया जा सकता है। पूर्व पक्तियो मे गिनाये हुए इन निग्रहस्थानो मे से अर्थान्तर, पुनरुक्त और निरर्थक ऐसे दोष है जो वादी या प्रतिवादी के कथन से ही साक्षात् सम्बन्धित है जबकि वह, प्रासगिक अर्थ से बाहर जाता है या बार बार एक बात को ही दुहराता है अथवा निरर्थक कथन करता है, एव उसे वही पकड लिया जाता है। अविज्ञातार्थ, अननुभाषण, अप्रतिभा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुपयोग तथा मतानुज्ञा ऐसे दोष हैं, जिनका न्याय वाक्य से (अनुमिति साधक वाक्य से) कोई सम्बन्ध नही होता।

---

१ न्यायसूत्र ५. २. १. २. वही ५ १. १.

इनका सम्बन्ध केवल वार्त्तालाप से ही है क्योंकि इनमें कभी तो वादी की बात दूसरे नहीं समझते, कभी वह निरुत्तर होकर चुप हो जाता है, कभी प्रतिभा हीन हो जाता है, कभी प्रतिवादी के निग्रह के अवसर को चूक जाता है, कभी अनवसर उसके निग्रह की घोषणा चाहता है और कभी अपने पक्ष में दोष को स्वीकार करके भी प्रतिवादी के पक्ष में समान दोष की कल्पना करता है।

निग्रह स्थानों में प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासन्यास, हेत्वन्तर, अपसिद्धान्त तथा हेत्वाभास ऐसे है, जिनका सम्बन्ध न्यायवाक्य अथवा अनुमिति की प्रक्रिया से होता है, अत इन्हें न्याय दोष कहा जा सकता है। इनमें प्रतिज्ञाहानि आदि प्रथम चार तथा अपसिद्धान्त में तो वादी ही स्वय ऐसा कथन करता है कि उसका निर्णय साध्य का विरोधी सिद्ध होता है। हेत्वन्तर में हेतुवाक्य में एक हेतु देकर व्याप्ति प्रदर्शन में अन्य हेतु दिया जाता है। इन सभी में हेतु सदोष रहता है, तथा हेत्वाभासों में हेतु का सदोष रहना तो आवश्यक है ही।

जातियों में तो व्याप्तिदोष प्रधान रूप से रहता है, क्योंकि व्याप्ति की अपेक्षा के बिना ही केवल थोड़े से समान धर्म आदि को देखकर वादी द्वारा प्रतिवादी को तथा प्रतिवादी द्वारा वादी को उत्तर दिया जाना ही जाति का लक्षण है।[1] इस प्रकार जाति एव निग्रहस्थान व्याप्ति दोष होने के कारण हेत्वाभास में समाहित किये जा सकते है। केवल अर्थान्तर आदि कुछ ऐसे अवश्य है जिनका समावेश हेत्वाभास में सम्भव नहीं है किन्तु उनका सीधा सम्बन्ध अनुमिति से भी नहीं है।

जाति और निग्रह स्थानों के अतिरिक्त गौतम ने छल नामक एक अन्य दोष का भी वर्णन किया है। उनके अनुसार वादी अथवा प्रतिवादी के वाक्यों में सम्भावित अन्य अर्थ करके उसके ही कथन का खण्डन करना छल कहा जाता है। यह छल तीन प्रकार का है वाक्छल, सामान्यछल और उपचार-

१. न्यायखद्योत पृ० २००-२०१

छल ।[1] वाक्छल से गौतम का तात्पर्य है ' वक्ता द्वारा ऐसे शब्दो का प्रयोग करने पर, जिनके कि दो अर्थ हो सकते है, वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थान्तिर की कल्पना करना ।[2] जैसे नवीन विवाहित देवदत्त के लिए किसी ने कहा कि 'देवदत्त नववधू वाला है' यहा नव शब्द का नवीन अर्थ वक्ता को अभिप्रेत है, किन्तु नव शब्द का नौ सख्या अर्थ मानकर प्रतिवाद करना कि 'देवदत्त तो एक वधू वाला ही है, अत नववधू वाला है यह कथन असत्य है' इत्यादि वाक्छल कहा जाता है । सामान्य रूप से सभावित अर्थ के अभिप्राय से प्रयुक्त वाक्य मे सामान्य साहचर्य को नियत साहचर्य मानते हुए उसमे दोष का कथन करना सामान्यछल कहा जाता है ।[3] जैसे किसी ब्राह्मण के सम्बन्ध मे 'यह विद्या बुद्धि शील आदि गुणो से सम्पन्न ब्राह्मण है' कहने पर ब्राह्मण विद्या बुद्धि और शील आदि से सम्पन्न हो यह आवश्यक नही, अनेक व्रात्य ब्राह्मण होकर भी विद्या आदि से रहित होते है, इत्यादि कहते हुए वक्ता के कथन मे दोष की कल्पना सामान्यछल है । शब्द की शक्ति विशेष का आश्रय लेकर प्रयुक्त वाक्य मे अन्य शक्ति को आधार बनाकर वक्ता के कथन का खडन करना उपचारछल है ।[4] जैसे किसी पद विशेष पर आकस्मिक रूप से पहुचकर असम्भावित वचन बोलने वाले व्यक्ति के लिए 'यह कुर्सी की आवाज है' कहने पर कुर्सी तो जड पदार्थ है, वह कही बोल सकती है ? कहते हुए (अर्थात् लक्षणाशक्ति द्वारा प्रयुक्त शब्द का अर्थ अभिधा शक्ति से लेकर) वक्ता के अभिप्राय का खण्डन करना उपचार छल है ।

कुछ दार्शनिको द्वारा वर्णित **पक्षाभास व्याप्त्याभास** तथा **दृष्टान्ताभास** हेत्वाभास के ही अग है । जैसे दिड्नाग द्वारा स्वीकृत **प्रत्यक्षविरुद्ध, आगमविरुद्ध, लोक विरुद्ध** स्पष्ट रूप से **बाधित** हेत्वाभास है, क्योकि इनके साध्य का अभाव प्रमाणान्तर से निश्चित रहता है । **स्ववचनविरुद्ध** या तो न्याय (अनुमिति) के क्षेत्र से बाहर होगा अन्यथा विरुद्ध मे समाहित हो जाएगा । **अप्रसिद्धविशेष्य, अप्रसिद्ध विशेषण** तथा **अप्रसिद्धोभय** हेतु भी चूकि प्रतिवादी द्वारा अस्वीकृत उदाहरण पर आश्रित होते हैं, जबकि उदाहरण को उभय स्वीकृत होना चाहिए अत उदाहरण के अभाव मे सपक्ष और विपक्ष

---

१ न्यायसूत्र १.२ १०-११ २. वही १.२. १२.
३. वही १ २ १३ ४. वही १.२.१४

से पृथक् पक्षमात्र मे हेतु के विद्यमान होने मे ये हेतु **अनैकान्तिक** हेत्वाभास मे समाहित हो सकते है। इसी प्रकार **व्याप्त्याभास** मे व्याप्ति या तो व्यभिचरित होगी अथवा असिद्ध होगी। प्रथम स्थितिमे उसका अन्तर्भाव **अनैकान्तिक** मे तथा द्वितीय स्थिति मे **व्याप्यत्वासिद्ध** हेत्वाभास मे हो जाएगा। **दृष्टान्ताभास** मे चूकि ऐसा दृष्टान्त होता है, *जहा साध्य और हेतु के सहभाव (व्याप्ति) का अभाव* निश्चित होता है, अथवा साध्य हेतु का सहभाव सन्दिग्ध रहता है, इसीलिए साध्य की सत्ता निश्चित न होने से उन्हे दृष्टान्ताभास कहा जाता है। इस प्रकार के सभी स्थलो मे व्याप्ति व्यभिचरित होगी ही, अत. ऐसे दोषो का अन्तर्भाव **अनैकान्तिक** अथवा **असिद्ध** मे किया जा सकता है।

साधनाप्रसिद्धि तथा साध्याप्रसिद्धि आदि दोष असिद्ध के अन्दर समाहित किये जा सकते है। *अन्योन्याश्रय अनवस्था* तथा **चक्रक** केवल दो अथवा अधिक दोषो का एकत्र सहभाव है, ये स्वतन्त्र दोष नही है। अतएव नैयायिको द्वारा पाच हेत्वाभासो की स्वीकृति अनुचित नही कही जा सकती।

उपमान

नैयायिको द्वारा स्वीकृत प्रमाणो मे तृतीय प्रमाण उपमान है, इसे भासर्वज्ञ (नवम शताब्दी) को छोडकर गौतम से लेकर उत्तर कालीन नैयायिको अन्नभट्ट केशव मिश्र तथा उनके सभी टीकाकारो ने स्वीकार किया है। वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद तथा उनके व्याख्याकारो ने यद्यपि इसकी चर्चा नही की है, अथवा उसका अनुमान मे अन्तर्भाव करने का प्रयत्न किया है, किन्तु नव्य न्याय का उदय होने पर जब न्याय और वैशेषिक के सिद्धातो का समन्वय कर दिया गया, तब से उस परम्परा मे भी यह प्रमाण स्वीकृत हो गया है, ऐसा कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त चार्वाक बौद्ध एव साख्य को छोडकर शेष सभी दार्शनिक सम्प्रदायो मे इसे स्वीकृति दी गयी है।

गौतम ने प्रसिद्ध साधर्म्य के आधार पर साध्य के साधन को उपमान कहा था।[1] इसे ही अधिक स्पष्ट करते हुए वात्स्यायन ने कहा है कि 'ज्ञात वस्तु के साम्य के आधार पर ज्ञापनीय वस्तु का ज्ञान कराना उपमान है। उपमान का

---

१. न्याय सूत्र पृ० १ १ ६.

प्रयोजन संज्ञा और संज्ञी के अर्थ सम्बन्ध की प्रतीति है। जैसे गौ के समान ही नील गाय होती है, यह जानते हुए किसी पिण्ड मे प्रत्यक्ष द्वारा गौ मे विद्यमान धर्मों को देख कर इसे ही नील गाय कहते है। इस प्रकार इससे नाम और नाम वाले पदार्थ के सम्बन्ध का ज्ञान होता है। इसे ही उपमिति कहते है।[1] यह उपमिति केवल साधर्म्य के आधार पर ही नही, किन्तु वैधर्म्य के आधार पर भी होती है।[2] जैसे जल आदि से विरुद्ध धर्म वाली पृथिवी है, यह ज्ञान रहने पर गन्ध रहित पाषाण को देखकर उसे जल तेज आदि द्रव्यो के धर्मों से रहित द्रव्य देखकर यह पृथिवी है, यह ज्ञान होता है। साधर्म्य और वैधर्म्य के अतिरिक्त असाधारण धर्म के द्वारा भी उपमिति हो सकती है, जैसे 'पाच अगुलियो से युक्त चार पैर और लम्बी नासिका से युक्त मुख वाला काले लम्बे बालो मे युक्त शरीर वाला मासाहारी वन्य पशु भालू कहा जाता है' इस ज्ञान के अनन्तर कभी वन मे उपयुक्त सभी गुणो मे युक्त पशु को देखकर 'इसे भालू कहते है' यह ज्ञान होता है। इसी कारण परवर्ती नैयायिकों ने लक्षण वाक्य मे साधर्म्य और वैधर्म्य को स्थान न देकर नाम और नाम वाले के सम्बन्धज्ञान का ही उपमिति का लक्षण माना है।[3] तर्ककिरणावलीकार ने उपमिति के तीन भेद माने है **सादृश्यविशिष्ट पिण्डदर्शन, असाधारणधर्मविशिष्ट पिण्डदर्शन** तथा **वैधर्म्यविशिष्ट पिण्डदर्शन**।[4]

इस उपमिति ज्ञान की उत्पत्ति मे गवयपिण्ड मे गोसादृश्य आदि का ज्ञान करण हुआ करता है। विश्वनाथ सादृश्यज्ञान के स्थान पर सादृश्य के दर्शन को ही उपमिति का करण मानते है।[5] उनके अनुसार 'गौ के सदृश नीलगाय होती है' इस वाक्य का स्मरण उसका व्यापार है। जैसे 'यह नीलगाय है, उस उपमिति ज्ञान के प्रति वन मे किसी पिण्ड विशेष मे गौ मे विद्यमान रहने वाले धर्मों का दर्शन अथवा दर्शन से उत्पन्न ज्ञान करण होता है, एव 'गौ के सदृश नीलगाय होती है' इस पहले सुने हुए सादृश्यवाक्य (अतिदेश वाक्य) का स्मरण उसका व्यापार है, जिसके फलस्वरूप नीलगाय पशु को नीलगाय

---

१. न्याय भाष्य पृ० १५ २ भाषारत्न पृ० १८७

३ (क) तर्क भाषा पृ० ४७ (ख) तर्क सग्रह पृ० ११६

(ग) तर्क किरणावली पृ० १२०

४ तर्क किरणावली पृ० १२१ ५ न्याय मुक्तावली पृ० ३५१

कहते है, यह ज्ञान उत्पन्न होता है। यहा यह स्मरणीय है कि उपमिति में 'सामने दिखाई पडने वाले इस पिण्ड को नीलगाय कहते है, यह ज्ञान नही हुआ करता, अपितु नीलगाय का वाचक नीलगाय पद है, यह ज्ञान होता है, अन्यथा कालान्तर मे अन्य नीलगाय को देखकर 'यह नीलगाय है' यह प्रतीति प्रत्यक्ष द्वारा न मानकर सर्वत्र उपमान द्वारा ही माननी होगी, किन्तु सर्वत्र नीलगाय के दर्शन होने पर अतिदेश वाक्य का स्मरण और सादृश्यज्ञान आदि नही हुआ करता। अतएव 'नीलगाय का वाचक नीलगाय पद है' इस ज्ञान को उपमिति माना जाता है, 'यह नीलगाय है' इस ज्ञान को नही।[१]

मीमांसक और वेदान्ती उपमिति के पूर्वोक्त लक्षण के स्थान पर 'सादृश्य ज्ञान के कारण को उपमान' मानते हुए 'गौ नीलगाय के सदृश होती है' इस ज्ञान को उपमिति मानते है। उनकी प्रक्रिया मे भी नीलगाय मे विद्यमान गौ के समान धर्मों का ज्ञान ही कारण होता है, अन्तर केवल फल मे है।[२]

पाश्चात्य तर्कशास्त्र मे उपमान के समानान्तर Analogy (सादृश्य) का स्वीकार किया गया है, किन्तु उपमान उससे सर्वथा भिन्न है। सादृश्य (Analogy) मे समानता के आधार पर किसी विषय मे उसके अज्ञात गुणो की जानकारी दी जाती है, जबकि उपमान मे सज्ञा और सज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त होता है। सादृश्य का सर्वाधिक प्रयोग गणित मे मुख्यत रेखागणित मे होता है। जैसे 'क और ख परस्पर समान है एव ख और ग परस्पर समान है' यह ज्ञान प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाण से होने पर क और ग भी परस्पर समान है यह ज्ञान सादृश्य (Analogy) के द्वारा प्राप्त होता है। इस प्रकार हम कह सकते है कि उपमान प्रमाण पाश्चात्य तर्कशास्त्र के सादृश्य (Analogy) मे सर्वथा भिन्न है। सादृश्य का अन्तर्भाव अनुमान के अन्तर्गत हो सकता है, इसकी चर्चा अनुमान प्रकरण मे की जा चुकी है।

वैशेषिक सम्प्रदाय मे इस प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान के अन्तर्गत किया

---

१ वही पृ० ३५१–३५३ २ (क) वेदान्त परिभाषा पृ० १६३
(ख) शास्त्र दीपिका पृ० ७६

जाता रहा है।[1] आचार्य प्रशस्तपाद ने यद्यपि उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव शब्द प्रमाण मे शब्दत किया है किन्तु चूकि वे शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव भी अनुमान मे ही करते है, अत उनके मत मे भी उपमान का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण मे ही मानना चाहिए।[2] कणाद रहस्यकार ने तो इस अन्तर्भाव प्रक्रिया को शब्दत स्वीकार किया है।[3] साख्य मे भी उपमान प्रमाण को स्वीकार नही किया जाता, उस मत मे वाचस्पति मिश्र ने इसका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष मे ही स्वीकार किया है। उनका कहना है कि चूकि नीलगाय का चक्षु से सन्निकर्ष होता है, तथा सन्निकर्ष द्वारा ही 'वह गौ के सदृश है' यह ज्ञान भी होता है, अत सन्निकर्षण जन्य होने से वह प्रत्यक्ष ज्ञान ही है, और इसी कारण स्मरण की जाती हुई गौ मे भी नीलगाय के सादृश्य का स्मरण भी प्रत्यक्ष ही है।[4] वैशेषिकों के अनुसार इसका अनुमान मे अन्तर्भाव करने के लिए निम्नलिखित प्रकार से अनुमान द्वारा सज्ञासज्ञि सम्बन्ध की स्थापना की जाती है नीलगाय शब्द नीलगाय का वाचक है लक्षणा आदि अन्य व्यापार न होते हुए भी नीलगाय के लिए इस शब्द का प्रयोग होने से। अन्यव्यापारों के अभाव मे जो शब्द विद्वानों द्वारा जिस अर्थ मे प्रयुक्त होता है, वह उसका वाचक ही होता है, जैसे गौ शब्द गौ पिण्ड का वाचक है, अत अनुमान से ही नीलगाय शब्द नीलगाय अर्थ से सम्बद्ध होता है।[5]

किन्तु नैयायिक उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण ही मानते है। उनका कहना है कि उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष मे नही किया जा सकता, क्योकि इस वस्तु (नीलगाय) का नाम नीलगाय है' यह ज्ञान केवल विषय एव इन्द्रियो के सन्निकर्ष के द्वारा ही नही होता। प्रत्यक्ष तो केवल इतना ही ज्ञान कराता है कि 'यह वस्तु (नीलगाय) गौ के धर्मों के सदृश धर्मों से युक्त है। 'यह नील गाय है' यह ज्ञान प्रत्यक्ष पर उतना आधारित नही है, जितना कि आप्त पुरुष द्वारा प्राप्त 'नील गाय गौ के सदृश होता है' इस ज्ञान के स्मरण पर आधारित है। इस प्रकार आप्त वाक्य से प्राप्त ज्ञान के स्मरण तथा सादृश्य के ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष का विषय नही माना जा सकता।

---

१ उपस्कार भाष्य पृ० २२५ २ प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १०६-१०
३ कणाद रहस्यम् पृ० १०६ ४ साख्यतत्त्वकौमुदी पृ० २७-२८
५. उपस्कार भाष्य पृ० २२६

इसे अनुमान भी नही माना जा सकता, क्योकि अनुमान पूर्णत. व्याप्ति ज्ञान पर आधारित हुआ करता है, किन्तु इसमे (उपमान में) लिङ्ग और लिङ्गी का व्याप्ति सम्बन्ध अथवा उसका ज्ञान नही हुआ करता।[1] क्योकि साध्य और हेतु का अर्थात् ज्ञातव्य और ज्ञात के सादृश्य का पूर्वदर्शन प्रमाता को कभी नही हुआ है। जैसे नीलगाय ज्ञातव्य या साध्य है, गौ की समानता ज्ञान का सादृश्य या हेतु है। जहा जहा गौसादृश्य है, वह वह नीलगाय है, इस प्रकार के नियत साहचर्य (व्याप्ति) का दर्शन यदि कही भी सपक्ष दृष्टान्त मे प्रमाता को हो, तो वह प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले पशु मे सादृश्य रूप हेतु को देखकर यह नीलगाय है, यह अनुमान कर सकता है, किन्तु उसे कही व्याप्ति का दर्शन नही हुआ है, अत इसे अनुमान नही कह सकते।

उपमान का अन्तर्भाव शब्द प्रमाण मे भी नही किया जा सकता, क्योकि शब्द प्रमाण द्वारा विषय सम्बन्धी जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह स्वय मे पूर्ण होता है, उसके लिए विषय के प्रत्यक्ष की आवश्यकता नहीं होती। यदि विषय का पहले ही प्रत्यक्ष हो जाये तो शब्द ज्ञान की आवश्यकता नही रह जाती। उपमान मे भी 'नीलगाय गौ के समान होती है' यह अश आप्त वचन होने से शब्द प्रमाण के क्षेत्र मे आता है, किन्तु उपमिति ज्ञान के लिए इतना ही पर्याप्त नही है, इसके लिए तो नीलगाय पिण्ड का प्रत्यक्ष दर्शन आवश्यक है, गौ के धर्मो का तथा उपर्युक्त आप्तवचन का स्मरण भी आवश्यक है साथ ही गौ और नीलगाय के धर्मों मे समानता का ज्ञान भी अनिवार्यत आवश्यक है। अत इसे शब्द प्रमाण के अन्तर्गत भी नही कहा जा सकता।

इस प्रकार हम कह सकते है कि उपमान प्रमाण प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द प्रमाणो से भिन्न एक स्वतन्त्र प्रमाण है।

शब्द प्रमाण

शब्द से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को शाब्द ज्ञान कहते है। शब्द का तात्पर्य आप्तवाक्य से है। इसका ही दूसरा नाम आगम भी है। चार्वाक बौद्ध और वैशेषिको को छोडकर समस्त दार्शनिक सम्प्रदायो मे इस प्रमाण को

---

१. रत्नलक्ष्मी पृ० १८८

स्वीकार किया जाता है। गौतम ने शब्द की परिभाषा करते हुए आप्त के उपदेश को शब्द कहा था।[1] परवर्ती नैयायिको ने कुछ परिवर्त्तन के साथ 'आप्त वाक्य' को शब्द माना है।[2] वात्स्यायन के अनुसार 'आप्त' का तात्पर्य उस व्यक्ति से है जिसने धर्म का अर्थात् वर्णनीय का साक्षात्कार किया है, वह चाहे ऋषि हो या आर्य अथवा म्लेच्छ'।[3] डा गगानाथ झा के अनुसार 'आप्त वही हो सकता है जो लोभ आदि दोषो से शून्य हो। उनका कहना है कि आप्त दो प्रकार के है सर्वज्ञ और असर्वज्ञ। चू कि सर्वज्ञो मे अप्रामाण्य के कारण रागद्वेष आदि नही होते अत उनकी सर्वज्ञता के ज्ञान से ही उनके वचनो की प्रमाणिकता हो जाती है, तथा असर्वज्ञ के प्रामाण्य के लिए तीन बातें आवश्यक है वर्णनीय का यथार्थ ज्ञान, यथार्थ ज्ञान को प्रकट करने की इच्छा तथा वाग् इन्द्रिय का ठीक होना।[4] कोई व्यक्ति इन गुणो से युक्त है या नही इसका निश्चय व्यक्ति के सम्पर्क मे आने से होता है।

नैयायिको की परिभाषा के अनुसार वाक्य का अर्थ शक्ति सम्पन्न पद समूह है।[5] साहित्यिको के अनुसार वाक्य का अर्थ वह पद समूह होता है जहा पद परस्पर साकाक्ष हो, किन्तु उसमे भिन्न पदो या पदार्थो की आकाक्षा न हो, साथ ही उसमे क्रिया की प्रधानता हो एव शेष पद गौण होकर अपने अर्थ का बोध करा रहे हो।[6] किन्तु नैयायिको का विषय मुख्य रूप से शब्द और अर्थ पर विचार करना नही है, अत उन्होने इस सूक्ष्मता से वाक्य की परिभाषा नही की है। नैयायिको के 'शक्ति सम्पन्न' पद मे शक्ति का अर्थ 'ईश्वर की इच्छा' है। उनकी मान्यता है कि 'अमुक पद से अमुक अर्थ का बोध हो' ईश्वर की इस इच्छा के कारण ही लोक व्यवहार मे किसी शब्द विशेष का कोई अर्थ विशेष हुआ करता है। लौकिक मनुष्यो द्वारा रखे गये नाम भी 'दसवे दिन पिता नामकरण करे' ('दशमेऽहनि पिता नामकरण कुर्यात्') इस श्रुति वाक्य के कारण (पिता द्वारा रखा गया पुत्र का नाम भी) ईश्वर की इच्छा ही है। नव्य नैयायिक ईश्वर की इच्छा के स्थान पर

---

१. न्याय सूत्र १ १ ७.
२. (क) तर्कभाषा पृ० ४७
(ख) तर्कसग्रह पृ० १२२
३. न्याय भाष्य पृ० १६
४ न्यायखद्योत पृ० ८५
५ तर्क सग्रह पृ० १२२
६ व्यक्ति विवेक पृ० ३८

केवल इच्छा को ही शक्ति का कारण मानते है, अत आधुनिक लौकिक सकेतों मे भी शक्ति रहती ही है।[1] उनके अनुसार आधुनिक सकेतित अपभ्रंश शब्दो से अर्थ का बोध शक्ति के भ्रम के कारण होता है।[2] मीमासक ईश्वरेच्छा अथवा मनुष्येच्छा को शक्ति न मानकर शक्ति नामक स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं, जो शब्दो मे नित्य रूप से विद्यमान रहता है।

इस प्रकार सभी मतो मे शब्दो मे शक्ति स्वीकार की जाती है, तथा उस शक्ति से सम्पन्न पद समूह (वाक्य) के ज्ञान से शाब्द ज्ञान उत्पन्न होता है। इस शाब्दज्ञान मे पद का ज्ञान करण है, ज्ञायमान पद नहीं। पद को करण मानने पर मौनी व्यक्ति की चेष्टा आदि से जो प्रतीति होती है उसके लिए पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता होगी। शाब्द ज्ञान के प्रसङ्ग मे वृत्तियो के ज्ञान के साथ पद के ज्ञान से उत्पन्न होने वाली पदार्थों की उपस्थिति पदज्ञान का व्यापार हुआ करता है।

सामान्य रूप मे शब्द के दो प्रकार है ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक। ध्वन्यात्मक शब्दो का नैयायिको के अनुसार कोई अर्थ नही होता, इन शब्दो के द्वारा केवल ध्वनि का ही ज्ञान होता है किन्तु आधुनिक भाषा विज्ञान ध्वनियों को भी अर्थ की अभिव्यक्ति का साधन मानता है। सगीत शास्त्र भी ध्वनियो को सार्थक मानता है। वर्णात्मक शब्द के दो भेद है. सार्थक और निरर्थक। सार्थक शब्द शक्तिविशेष से सम्पन्न होते है, और वे ही वाक्यो मे व्यवहार किए जाते हैं। शक्तिरहित शब्द निरर्थक कहे जाते है। शक्ति विशिष्ट सार्थक शब्दो को ही पद कहते है।

नैयायिको के अनुसार शक्ति विशिष्ट पद चार प्रकार के है यौगिक रूढि योगरूढि और यौगिकरूढि।[3] जहा पदो के अवयवो के अर्थ के ज्ञान के द्वारा ही पदार्थ की प्रतीति होती है वह यौगिक पद कहा जाता है। जैसे पाचक आदि पद। इस पद मे पच् धातु तथा कर्त्ता अर्थ मे प्रयुक्त अक (ण्वुल्) प्रत्यय के अर्थ की प्रतीति के बाद 'पकानेवाला इस अर्थ की प्रतीति होती है। जहा पद के अवयवो के अर्थ की अपेक्षा के बिना ही समुदायशक्ति से ही पदार्थ की प्रतीति होती है उसे रूढि पद कहते हैं। जैसे मण्डल पद,

१ न्यायमुक्तावली पृ० ३५९ २ दिनकरी पृ० ३५९
३ न्याय मुक्तावली पृ० ३८१।

यहा अवयवार्थ की प्रतीति न होकर समुदाय शक्ति से समुदाय रूप अर्थ की प्रतीति होती है। जिन पदो मे अवयव शक्ति से प्राप्त अर्थ में ही समुदाय-शक्ति भी है, उन पदो को **योगरूढ** कहते है जैसे : पकज आदि। यहा कीचड वाचक पक शब्द के पूर्व रहने पर उत्पत्ति क्रिया के बोधक जन् धातु से कर्त्ता अर्थ मे ही 'ड' प्रत्यय किया गया गया है।[1] सप्तम्यन्त 'पक' शब्द 'जन' धातु और 'ड' प्रत्यय इन तीनो अवयवो के अर्थ को मिलाकर कीचड़ मे उत्पन्न होनेवाला कमल इस अर्थ की प्रतीति होती है। पंकज शब्द की समुदाय शक्ति से भी उसी कमल अर्थ की प्रतीति होती है, अत इसे **योगरूढ** पद कहते हैं। ऐसे प्रसङ्गो मे समुदाय शक्ति से उपस्थित 'कमल' मे अवयव के अर्थ का अन्वय सान्निध्य के कारण हो जाता है।[2] जहा यौगिक और रूढि अर्थों का स्वतन्त्र रूप से एक पद से ही ज्ञान होता है, उन्हे यौगिकरूढि पद कहते है, जैसे उद्भिद आदि। यहा भूमिका उद्भेद करनेवाले वृक्ष आदि अर्थ की प्रतीति होती है।

नैयायिको के अनुसार वृत्ति दो प्रकार की है **शक्ति और लक्षणा**।[3] शक्ति को ही शास्त्रान्तर मे **अभिधा** नाम दिया जाता है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है शक्ति का अर्थ स्मरण के अनुकूल पद का पदार्थ से सम्बन्ध है। इस प्रसग मे दार्शनिकों मे अत्यधिक मतभेद है कि पद का जिस पदार्थ से सम्बन्ध है, वह पदार्थ व्यक्ति रूप है, अथवा जातिरूप या जाति आदि रूप ? व्यक्ति मे सकेत मानने पर चूकि व्यक्ति अनन्त है एव अनन्त व्यक्तियो मे सकेत का ग्रहण सम्भव नही है, अत इस पक्ष में किसी पद से नवीन व्यक्ति का बोध सम्भव नही हो पाता, तथा जाति मे शक्ति मानने पर एक पद का उच्चारण करने पर जातिमात्र का बोध होना चाहिए। एवं प्रवृत्ति निवृत्ति आदि क्रियाएं जाति मे होनी चाहिए अर्थात् गौ को लाओ आदि आदेश को सुनकर गौ जाति का लाना आदि होना चाहिए, जो कि सम्भव नही है, इस प्रकार दोनो हो पक्षों मे दोषो की सम्भावना है।

बौद्ध (वैनाशिक) चू कि नित्य जाति नामक पदार्थ स्वीकार नही करते, तथा व्यक्ति के अनन्त होने के कारण दोष की सभावना देखते है, साथ ही

---

१ (क) पाणिनीय अष्टाध्यायी ३ २ ९७ (ख) काशिका पृ० १८५।
२ न्याय मुक्तावली पृ० ३८३. ३. भाषारत्न पृ० १९०

व्यक्ति भी उनके अनुसार क्षणिक है, अत वे अपोह नामक पदार्थ मानकर उसमे शक्ति मानते है। अपोह का तात्पर्य है गौ आदि से भिन्न पदार्थों से भिन्न, अर्थात् गौ आदि से भिन्न अश्व आदि है, उन अश्व आदि से भिन्न, गौ आदि को अपोह कहा जायेगा।

मीमासको का विचार है कि यह शक्ति व्यक्ति मे सम्भव नही है, क्योकि गुण क्रिया आदि पदार्थ एक दूसरे से भिन्न है, एक गुण शुक्लता भी दूध, शख, हस के पख, रजत आदि पदार्थों मे भिन्न भिन्न है, फिर भी इन सब को किसी एक धर्म विशेष के कारण शुक्ल कहा जाता है। प्रत्येक मानव पशु पक्षी और कीडे आदि की गति सर्वथा भिन्न है, उन मानव आदि मे भी प्रत्येक की गति किसी अन्य के समान नही है, अत उनमे परस्पर भेद है किन्तु फिर भी 'जाना' क्रिया का व्यवहार किसी धर्म विशेष के कारण सर्वत्र किया जाता है, वह धर्म विशेष जाति ही है, अत जाति मे ही शक्ति माननी चाहिए। किन्तु जाति व्यक्ति के बिना रह नहीं सकती, वाक्यार्थ बोध के लिए अत व्यक्ति का आक्षेप कर लिया जाता है।

शब्द शास्त्र मे केवल जाति मे शक्ति न मानकर जाति गुण क्रिया और यदृच्छा मे शक्ति मानी गयी है।[1] साहित्य शास्त्र म इसी प्रकार जाति आदि चारो मे शक्ति मानी गयी है। किन्तु वे 'चार पदार्थों मे शक्ति है' ऐसा न कहकर उपाधि मे शक्ति मानते है। उनका तर्क है कि व्यक्ति अनन्त है अत प्रत्येक व्यक्ति मे सकेत ग्रहण सभव नही है, कुछ व्यक्तियो मे सकेत मानने पर अन्य व्यक्तियो का पद से ज्ञान सभव न होगा, तथा जाति का ले जाना असभव मानकर कार्य मे प्रवृत्ति न होगी, होने पर भी गौ जाति का ले जाना या लाना सभव न होगा, अत वे जाति और व्यक्ति दोनो के स्थान पर उपाधि मे सकेत मानना ही उचित समझते है।[2]

नैयायिको का विचार है कि केवल व्यक्ति मे अथवा केवल जाति मे संकेत ग्रहण करना सभव नही है क्योकि दोनो ही पक्षो मे दोष विद्यमान है। जाति मे शक्ति मानकर आक्षेप से व्यक्ति की प्रतीति मानना भी सभव नही है, क्योकि व्यक्ति प्रतीति मे अव्यवहितपूर्व वृत्ति की सत्ता न रहने के कारण व्यक्ति की प्रतीति को शाब्द ज्ञान का विषय न कहा

१ महाभाष्य १. १ २ २ २. काव्य प्रकाश पृ० २६

जा सकेगा, अत जाति विशिष्ट व्यक्ति मे ही सकेत (शक्ति) मानना उचित है।[1]

प्रभाकर और उनके अनुयायी शक्ति दो प्रकार की मानते है स्मारिका (स्मरण करानेवाली), अनुभाविका (अनुभव करानेवाली)। स्मारिका शक्ति जाति में रहती है, तथा अनुभाविका कार्यत्व से युक्त मे।[2] स्वामी के वाक्य को सुनकर जब सेवक कार्य मे प्रवृत्त होता है, वहा बालक उस प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाले कार्यत्व युक्त ज्ञान का अनुमान करता है, तथा कार्यत्व विशिष्ट ज्ञान के कारण ही सेवक आदेश पाकर कार्य मे प्रवृत्त हो रहा है, ऐसा वह निश्चय करता है, तथा वह कार्यत्व शब्द मे ही विद्यमान रहता है।

नैयायिको के अनुसार शक्ति का ग्रहण यद्यपि व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवचन व्यवहार वाक्यशेष विवरण तथा प्रसिद्ध पदो के सान्निध्य से होता है,[3] तथापि उनका विचार है कि सर्वप्रथम शक्ति का ग्रहण व्यवहार से ही होता है। उदाहरणार्थ सर्व प्रथम जब बालक देखता है कि एक व्यक्ति (स्वामी) ने अपने सेवक से कहा कि 'घडा ले आओ' वह सेवक घडा ले आता है। बालक यह सब देखकर घडा लाने की क्रिया मे सेवक के प्रयत्न का अनुमान करता है, तथा उस प्रयत्न से घडा लाने के सम्बन्ध मे उसके ज्ञान का अनुमान करता है। तदन्तर इस ज्ञान का क्या हेतु है? यह जानने की इच्छा होने पर उपस्थित शब्द को ही उस अनुमान द्वारा ज्ञान का हेतु मानता है। इस के बाद अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर घडा, वस्त्र आदि प्रत्येक पद का अर्थ निश्चित करता है।[4]

व्यवहार के अतिरिक्त शक्ति के ग्रहण के अनेक साधनो मे कोश आप्त पुरुषो के वचन एव विवरण प्रमुख है। सस्कृत भाषा का व्याकरण भी शक्तिग्रहण का एक प्रमुखतम साधन कहा जा सकता है। सामान्यरूप से व्याकरण द्वारा वाक्य रचना तथा उसके प्रसग मे होने वाले शब्दो के परिवर्त्तनो पर ही विचार किया जाता है, किन्तु सस्कृत व्याकरण वाक्यव्यवहार मे आने वाले

१. प्रदीप पृ० ३६ — २ भाषारत्न पृ० २१३
३. न्याय मुक्तावली पृ० ३५९ — ४. भाषारत्न पृ० २०९

पदों में धातु और प्रत्ययों की कल्पना करके प्रत्येक पदो को धातुज स्वीकार करता है, व्याकरण की इस सफल मान्यता के फलस्वरूप मध्यकाल में संस्कृत भाषा व्याकरण द्वारा ही सीखी जाती रही है। परिचित पदो के सान्निध्य से भी कभी-कभी शक्ति का ग्रहण होता है। इसके अतिरिक्त उपमान प्रमाण के द्वारा भी अनेक बार शक्ति का ग्रहण किया जाता है। सांख्य वैशेषिक आदि जो उपमान प्रमाण नही मानते अथवा वेदान्ती, जो उपमान द्वारा नीलगाय का ज्ञान न करके 'घर मे स्थित गौ नीलगाय के सदृश है' यह ज्ञान उपमान का फल मानते है, उनके मत मे उपमान अर्थात् सादृश्य के द्वारा भी शक्तिग्रह होता है। कभी-कभी शक्ति का ग्रहण वाक्य के शेष से भी होता है, जैसे दो अपरिचित व्यक्ति अथवा वस्तुओ के पूर्व सूचना के बाद प्राप्त होने पर एक का परिचय मिलते ही शेष का भी ज्ञान हो जाता है।[1]

लक्षणा—शक्य सम्बन्ध को लक्षणा कहते है, इसके द्वारा शक्य मे अशक्य अर्थ की प्रतीति होती है। जैसे 'गगा मे घोष (अहीरो का ग्राम) है' इत्यादि वाक्यो मे गगा आदि पदो के द्वारा तटरूप अर्थ की प्रतीति होती है। गगा पद में तटरूप अर्थ को प्रकट करने की शक्ति नही है, किन्तु शक्य 'प्रवाह' अर्थ से सम्बन्धित अशक्य तट अर्थ की प्रतीति होती है, इसे ही लक्षणा कहते है। यह लक्षणा शक्ति शब्द मे विद्यमान आरोपित शक्ति है, स्वाभाविक नही। साहित्यिको के अनुसार किसी शब्द पर इस शक्ति का आरोप उस समय किया जाता है, जब मुख्य अर्थ सगत न हो रहा हो अर्थात् अभिधा (शक्ति) द्वारा प्राप्त अर्थ की वाक्यार्थ मे संगति न होती हो।[2] किन्तु नैयायिको के अनुसार केवल मुख्य अर्थ की असगति होने पर ही इस वृत्ति का आश्रय नही लिया जाता। कभी-कभी मुख्य अर्थ की सगति सभव होने पर भी तात्पर्य की सगति के अभाव मे भी लक्षणा आवश्यक होती है। जैसे—'भाले खडे हैं' इस वाक्य मे भाला नामक शस्त्रविशेष का स्थिर रहना अर्थ सगत हो सकता है, किन्तु वक्ता का तात्पर्य शस्त्रविशेष के खडे होने से नही, किन्तु उस शस्त्र को लिए हुए मनुष्यो से है, अत ऐसे स्थलो पर तात्पर्य की सगति के लिए ही लक्षणा वृत्ति के द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है। इसी प्रकार रखे हुए भोज्य पदार्थ को प्राय खा जाने वाली बिल्ली की आशका से स्वामी ने सेवक से कह दिया कि

१. न्यायमुक्तावली पृ० ३५७ २ काव्यप्रकाश २.९.

'इस भोजन की बिल्ली से रक्षा करते रहना' सेवक इस वाक्य का अर्थ 'केवल बिल्ली से ही भोजन की रक्षा का कर्त्तव्य' नही मानता, अपितु 'भोजन को खा जाने अथवा अभक्ष्य बना देने वाले कुत्ते आदि सभी से रक्षा करना मेरा कर्तव्य है' ऐसा समझता है। यहा यद्यपि वाक्यार्थ की संगति बिल्ली से भोजन की रक्षा मे हो सकती थी, किन्तु तात्पर्य की सगति 'भाजन को अभक्ष्य बना देने वाले कुत्ता आदि' अर्थ को लिये बिना नही बनती, अत ऐसे स्थलो मे दोष से बचने के लिए तात्पर्य की असङ्गति (तात्पर्यानुपपत्ति) को ही नैयायिक लक्षरणा का मूल मानते है।

लक्षरणा द्वारा शक्य अर्थ को छोड़कर जिस अशक्य अर्थ की प्रतीति होती है उन दोनो अर्थों के बीच सम्बन्ध का होना आवश्यक है। यह सम्बन्ध **सादृश्य, कार्यकारणभाव, सयोग, आधाराधेयभाव** आदि किसी भी प्रकार का हो सकता है। इन सम्बन्धो के आधार पर नैयायिको तथा अन्य दार्शनिको साहित्यिको आदि ने लक्षरणा का विभाजन दो भेदो मे किया है— **गौणी और शुद्धा**। जहा शक्य और अशक्य अर्थों के बीच सादृश्य रहता हो वहां **गौणी लक्षरणा** मानी जाती है, तथा जहां दोनो अर्थों के बीच सादृश्य के अतिरिक्त कोई अन्य सम्बन्ध हो उसे शुद्धा लक्षरणा कहते है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि लक्षरणा का प्रारम्भिक काल मे प्रयोग सादृश्य के आधार पर ही किया जाता रहा होगा, इसी कारण सादृश्यमूलक लक्षरणा को एक प्रकार मानकर सादृश्य से भिन्न सम्बन्धो से होने वाली लक्षरणा को दूसरा नाम देकर सभी सम्बन्धो को एकत्र कर दिया गया है। साहित्यिको ने इन भेदो के भी अनेक उपभेद किये हैं, किन्तु न्यायशास्त्र मे उनकी चर्चा नही की गयी है।

लक्षरणा का एक अन्य प्रकार से भी विभाजन किया जाता है कि लक्ष्य अर्थ का ज्ञान करते समय शक्य अर्थ को ग्रहरण किया गया है अथवा नही। इस आधार पर नैयायिको ने लक्षरणा के तीन भेद किये है - **जहत् लक्षणा, अजहत् लक्षणा** तथा **जहदजहत् लक्षणा**[2] जहा वाच्यार्थ की सगति सर्वथा नही होती, वहा लक्ष्य अर्थ मे वाच्य अर्थ को छोड दिया जाता है, वाच्यार्थ को छोड देने के कारण इस लक्षरणा को **जहत् लक्षणा** कहते हैं। जहा वाच्य अर्थ की सगति पूर्णतया सगत हैं किन्तु तात्पर्य की सगति के लिए लक्षरणा का आश्रय लिया

१. भाषारत्न पृ० २१६ २. तर्क दीपिका पृ० १२८

जाता है उसे अजहत् लक्षणा कहते है। जहदजहत् लक्षणा मे वाच्यार्थ के एक अश की सगति होती है तथा दूसरे अश की सगति नही हो पाती अत कुछ अर्थ छोड भी दिया जाता है तथा कुछ बना भी रहता है। इसके प्रसिद्ध उदाहरण 'तत्वमसि' इत्यादि उपनिषद् वाक्य है। 'यह वही देवदत्त है' इत्यादि वाक्यों में 'वह' पद पूर्वकालीन देवदत्त का सकेत करता है, जो कि भूतकाल का विषय होने के कारण अब नही है, अत उस अश का त्याग विद्यमान है तथा उससे भिन्न होते हुए भी भूतकालिक देवदत्त मे विद्यमान अधिकाधिक धर्मों की उसमे सत्ता होने से कुछ अश का अत्याग भी है, इस प्रकार ऐसे उदाहरणों मे भी जहदजहद् लक्षणा कही जा सकती है।[१]

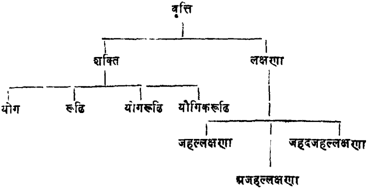
नैयायिको के अनुसार वत्तिया केवल दो ही है। व्यञ्जना और तात्पर्य आदि वृत्तियो को न्यायशास्त्र मे स्वीकार नही किया गया है।[२] साहित्यिको द्वारा स्वीकृत व्यञ्जना का तिरस्कार करते हुए नैयायिको का कथन है कि 'गगा मे घोष है' इत्यादि वाक्यों मे गगा पद से तट अर्थ लक्षणा द्वारा एव उसमे विद्यमान शीलता तथा पवित्रता की प्रतीति व्यञ्जना से मानना उचित नही है, क्योकि लक्षणा का मूल 'तात्पर्य की सगति न होना है' अत तात्पर्य ज्ञान पर्यन्त लक्षणा शक्ति का ही कार्य माना जाएगा, अत उसकी प्रतीति भी लक्षणा द्वारा ही हो जाएगी।[३] अर्थशक्तिमूला व्यञ्जना के स्थलो मे जहा विधि से निषेध की अथवा निषेध से विधि की प्रतीति होती है उन स्थलो मे भी नैयायिक व्यञ्जना मानने को प्रस्तुत नही है, इनके अनुसार ऐसे स्थलो मे अन्य अर्थ की प्रीति अनुमान के माध्यम से होती है।[४] जैसे 'प्रिय ! तुम जाना ही चाहते हो तो जाओ, तुम्हारा पथ मगलमय हो, मेरा भी जन्म वही हो जहा आप जाकर रहगे'[५] इत्यादि वाक्यो मे 'यदि आप मुझे छोडकर जायेगे तो मै जीवित न रह सकूगी अत आप विदेश न जाए' इत्यादि अर्थ की प्रतीति साहित्यिक व्यञ्जना द्वारा मानते है, क्योकि उनका विचार है कि 'जाओ' इत्यादि विधि सूचक पदो के द्वारा 'न जाओ' इत्यादि निषेध अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा भी सभव नही है, अत ऐसे स्थलो पर तो व्यञ्जना-वृत्ति माननी ही चाहिए।' किन्तु नैयायिक इस तर्क से सहमत नहीं है, इनके

१ नीलकण्ठ प्रकाशिका पृ० ३२७
२ तर्क दीपिका पृ० १२६-३०
३ तर्क किरणावली पृ० १२६
४. तर्क दीपिका पृ० १२६-३०
५ सुभाषितावलि १०४०

अनुसार यहां 'न आओ' अर्थ की प्रतीति अनुमान द्वारा हो सकती है। क्योंकि यहीं वाक्य के उत्तरार्ध में 'वही मेरा जन्म हो जहा आप जा रहे हैं' यह कहा गया है, किन्तु मृत्यु के बिना तो पुनर्जन्म का होना सम्भव नहीं है, अत. पुनर्जन्म रूप हेतु के कथन से मृत्युरूप साध्य की सिद्धि अनुमान द्वारा हो जाएगी, अत ऐसे स्थलो पर भी व्यञ्जना वृत्ति के मानने की आवश्यकता नही है।

वस्तुतः नैयायिक अनेक स्थलों पर प्रमाता की प्रतीति को प्रमाण की सत्ता का आधार मानते हैं, मैं उपमान द्वारा ज्ञान प्राप्त करता हूँ' इत्यादि प्रतीति को भी उपमान और शब्द प्रमाण को स्वीकार करने में हेतु मानते है।[1] इसी आधार पर विशेष स्थलो पर 'मैं शब्द द्वारा रसादि अर्थ की प्रतीति कर रहा हूँ' इत्यादि सहृदय जनो की प्रतीति को आधार मान कर शब्द से विशिष्ट रसादि अर्थ की प्रतीति के लिए व्यञ्जनावृत्ति की भी सिद्धि की जा सकती है, और इसी आधार पर तर्कसग्रह के प्राचीन टीकाकार नीलकण्ठ ने व्यञ्जना वृत्ति को अन्तत स्वीकार भी किया है।[2]

इस प्रकार नैयायिको के अनुसार सक्षेप मे पदगत वृत्ति के भेद निम्नलिखित कहे जा सकते है :—



१. (क) मुक्तावली प्रभा पृ० ५४३ (ख) तर्कदीपिका पृ० १४१
२. नीलकण्ठ प्रकाशिका पृ० ३१०

शाब्दज्ञान के प्रति करण पद ज्ञान के अतिरिक्त तीन अन्य कारण भी नैयायिक मानते हैं . आकांक्षा योग्यता और सन्निधि।[१] द्व्यर्थक पदो के प्रयोग के अवसर पर इनके अतिरिक्त तात्पर्यज्ञान भी कारण हुआ करता है।[२] इन कारणो के अभाव मे किन्ही पदो का अर्थ वाक्यार्थ का अग नही बन सकता है। केशवमिश्र के अनुसार तो आकाक्षा आदि के अभाव मे कोई पदसमूह वाक्य भी नही कहा जा सकता।[३]

आकाक्षा .—पद की आकाक्षा का अर्थ है उस पद के अभाव मे अन्वय का अभाव होना, तथा पद के प्रयोग होने पर उस अन्वय के अभाव का न होना।[४] यहा स्मरणीय है कि आकाक्षा का ज्ञान शाब्दज्ञान में कारण नही है, किन्तु आकाक्षा का निश्चय उसके प्रति कारण है। जैसे 'घडे को लाओ' इस वाक्य मे घडा, कर्म विभक्ति, लाना धातु तथा आज्ञा अर्थक क्रिया-प्रत्यय चार खण्ड है। यहा कर्म विभक्ति 'को' मे 'घडा' पद की आकाक्षा है क्योंकि 'घडा' पद के अभाव मे कर्मविभक्ति 'को' का वाक्यार्थ मे अन्वय नही हो सकता, तथा 'घडा' पद के रहने पर उस विभक्ति का अन्वय हो जाता है। यही स्थिति धातु और क्रिया पद की है ।

योग्यता —एक पदार्थ का अन्य पदार्थ से सगति होना योग्यता है,[५] जैसे उपर्युक्त वाक्य मे घडे से सम्बन्धित कर्मत्व का 'लाना' क्रिया से सगति विद्यमान है, अर्थात् घडा 'लाना' क्रिया का कर्म हो सकता है, अत यहा योग्यता विद्यमान है, किन्तु 'अग्नि से सीचो' इस वाक्य मे अग्नि 'सीचना' क्रिया का करण अर्थात् साधन नही बन सकता, अत अग्नि रूप कारण मे 'सीचना' क्रिया के प्रति योग्यता का अभाव है, अत इस वाक्य मे अर्थ की प्रतीति नही हो सकती।

सन्निधि सन्निधि का अर्थ है वाक्यगत पदो का बिना विलम्ब के उच्चारण करना। दूसरे शब्दो में बिना विलम्ब के पदार्थों की उपस्थिति को सन्निधि कहते हैं।[६] जैसे यदि कोई वक्ता किसी एक पद का उच्चारण करता है, कालानन्तर वह दूसरे पद का उच्चारण करता है, तो इस प्रकार उच्चारण

---

१ तर्क सग्रह पृ० १३४ २, भाषारत्न पृ० २०३
३ तर्कभाषा पृ० ४७ ४. तर्क किरणावली पृ० १३५
५ भाषारत्न पृ० २०० ६ तर्कदीपिका पृ० १३६

किये गये शब्दों के मध्य सन्निधि का अभाव माना जाएगा। चूंकि जब एक पद का उच्चारण किया जाता है, तो उसके पदार्थ की उपस्थिति मानव मस्तिष्क मे होती है, उसके अनन्तर ही दूसरे पद का उच्चारण होने पर दूसरे पदार्थ से पूर्व पदार्थ का बुद्धिगत सम्बन्ध स्थापित होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण वाक्य में विद्यमान पदार्थों की सगति सन्निधि के रहने पर बन जाती है, अतः उस वाक्य का अर्थ प्रगट हो जाता है, सन्निधि के अभाव मे प्रत्येक पदार्थों की सगति न हो सकने से वाक्यार्थ की प्रतीति नही हो सकती। इस प्रकार सन्निधि के अभाव का अभाव वाक्यार्थ प्रतीति मे आवश्यक है, तथा सन्निधि के लिए आवश्यक है कि वाक्यगत पदो के मध्य काल सम्बन्धी व्यवधान न रहे।

वाक्यार्थ की प्रतीति यह मानसिक प्रक्रिया 'राजपुर प्रवेश न्याय' से अर्थात् क्रमिक प्रतीति मानने वालो के अनुसार है। कुछ आचार्य वाक्यार्थ की क्रमिक प्रतीति न मान कर 'खले कपोत न्याय' से सामूहिक अर्थात् सहप्रतीति मानते हैं, उस मत मे सन्निधि के अभाव मे पदार्थों की सह उपस्थिति न होने के कारण वाक्यार्थ प्रतीति होना तो सर्वथा ही असम्भव है।

यहा एक प्रश्न हो सकता है कि शब्दो की उत्पत्ति तो सदा ही क्रमश होती है, प्रत्येक पद के मध्य कुछ न कुछ काल का व्यवधान तो रहता ही है, अत सन्निधि का अभाव तो सर्वदा ही रहना चाहिए, फिर किसी भी वाक्य से अर्थ की प्रतीति कैसे सम्भव हो सकती है? वैयाकरण तो शब्द को नित्य मानते है, उनके मत मे शब्द की अभिव्यक्ति के अनन्तर भी स्फोट रूप शब्द विद्यमान रहता है, अत उस स्फोट रूप शब्द की सन्निधि रहती है। नैयायिक प्रत्येक पूर्व पद का सविकल्पक ज्ञान होने के अनन्तर उत्तर पद के ज्ञान के समय पूर्व पद की निर्विकल्पक रूप से प्रतीति मानते है, अत उत्तर काल मे निर्विकल्पक ज्ञान मे प्रत्येक पद और पदार्थ की सत्ता रहने से प्रतीति में बाधा नहीं होती।[1]

इस प्रसंग में पुन आशका हो सकती है कि जैसे एक पद के उच्चारण के अनन्तर कुछ क्षणो का व्यवधान रहने पर भी प्रतीति रहती है, उसी प्रकार अधिक क्षणो के व्यवधान मे भी प्रतीति क्यो नही होती। यदि यह माना जाए कि अल्पक्षणो के व्यवधान में सन्निधि का अभाव नही होता तो उचित न होगा, क्योंकि व्यवधान साम्य के कारण या तो दोनो ही स्थलो पर सन्निधि

---

१. भाषारत्न पृ० १६२

का अभाव स्वीकार किया जाना चाहिए अथवा दोनों ही स्थानों पर उसकी सत्ता।

इस आशंका के सम्बन्ध में यह कहना ही उपयुक्त होगा कि सन्निधि के अभाव का अभाव वाक्यार्थ प्रतीति में साक्षात् कारण नहीं है, अपितु सन्निधि का अभाव आकांक्षा को समाप्त कर देता है, तथा इस अभाव का अभाव होने पर प्रत्येक पदों अथवा पदार्थों के मध्य आकांक्षा की प्रतीति होती है, फलस्वरूप अर्थ की प्रतीति आकांक्षा के द्वारा ही होती है, सन्निधि द्वारा नहीं, सन्निधि केवल आकांक्षा को जीवित रखने का साधन है। यही कारण है कि काव्य रूप महावाक्य के पढ़ने के समय अथवा बड़ी मे सभाओं में भाषण के समय पाठ अथवा भाषण के मध्य में स्थगित कर देने पर भी अग्रिम दिन प्रसंग का कथन करने से ही आकांक्षा सजीव हो जाती है एवं महावाक्य के अर्थ की प्रतीति में बाधा नहीं होती। व्यक्ति विशेष के भाषण के समय भी जो स्वभावत. मन्दगति से बोलता है चार पांच क्षणों (निमेषों) का अन्तर होने पर भी आकांक्षा बनी रहती है, अत सन्निधिका अभाव प्रतीत नहीं होता। किन्तु अत्यन्त शीघ्र बोलने वाले व्यक्ति द्वारा दो वाक्यों के पदों का मिश्रण कर (प्रथम वाक्य के एक पद के अनन्तर दूसरे वाक्य का एक पद रखते हुए) उच्चारण करने पर शीघ्र उच्चारण करने के कारण सभव है कि प्रथम वाक्य के प्रत्येक पदों तथा द्वितीय वाक्य के प्रथम पदों के बीच काल की दृष्टि से अन्तर कम हो फिर पर भी आकांक्षा के व्याहत होने के कारण सन्निधि का अभाव ही माना जाता है और अर्थ की प्रतीति नहीं होती।[1] इस प्रकार हम कह सकते है कि सन्निधि अर्थ प्रतीति मे साक्षात्कारण न हो कर आकांक्षा के पोषक होने के रूप में ही कारण है, अत इसे अर्थ प्रतीति में कारण न मानकर अन्यथासिद्ध मानना चाहिए। सन्निधि का अभाव काल के व्यवधान से अथवा

---

१ सन्निधि की परीक्षा की यह प्रक्रिया निम्नित वाक्यों में अधिक स्पष्टता से देखी जा सकती है। उदाहरणार्थ . रा म जा ता है, मो ह न आ ता है। इन लिखित वाक्यों मे प्रत्येक वर्ण अथवा पद के बीच पर्याप्त अन्तर रहने पर भी अर्थ प्रतीति होती है। किन्तु 'रामोमहजानताआ हैता है' मे दो वाक्य के वर्णों अथवा पदों का मिश्रण होने पर अन्तर भले ही कम हो किन्तु आकांक्षा मे व्याघात होने के कारण अर्थ प्रतीति नहीं होती।....

शब्दो के व्यवधान से हो सकता है। काव्य में कभी कभी चारुत्व की दृष्टि से पदो का व्यवधान करके सन्निधि का अभाव किया जाता है, किन्तु उस सन्निधि के अभाव के कारण अर्थ प्रतीति का अभाव न होकर सौन्दर्य की ही वृद्धि होती है, काव्याचार्यों ने ऐसे स्थलो को यथासख्य अलकार कह कर सम्मानित किया है।[1]

तात्पर्य ज्ञान : अनेकार्थक वाक्यो मे आकाक्षा आदि के साथ तात्पर्य का ज्ञान भी वाक्यार्थ की प्रतीति मे अनिवार्यत आवश्यक होता है। जैसे 'सैन्धव' पद नमक और घोडा दोनो अर्थों का वाचक है, किन्तु वाक्य मे वक्ता किस तात्पर्य मे उस शब्द का प्रयोग कर रहा है, उसका ज्ञान न होने पर वाक्यार्थ की प्रतीति सम्भव न होगी, अथवा होने पर सदोष प्रतीति होगी।*

इस प्रकार आकाक्षा आदि के सहित शक्तिविशिष्ट आप्तपुरुष से उच्चारण किये गये पद समूह से उत्पन्न होने वाला ज्ञान **शाब्द ज्ञान** है।

प्रामाणिकता की दृष्टि से पदसमूहरूप वाक्य के दो भेद हो सकते है : लौकिक और वैदिक। लौकिक वाक्य आप्तोक्त होने पर प्रमाण माने जाते है। अन्यथा अप्रमाण। वैदिक वाक्य ईश्वरोक्त होने के कारण पूर्णत. प्रमाण माने जाते है। परम्परा प्राप्त स्मृति आदि ग्रन्थ वेदमूलक होने पर ही प्रमाण माने जाते है, अन्यथा नही। वेदो के ईश्वरोक्त होने के सम्बन्ध मे विविध दार्शनिक सम्प्रदायो मे मतभेद है। उदाहरणार्थ मीमासक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार ही नही करते, अत उनके मत मे वेदो के ईश्वरोक्त होने का प्रश्न ही नही उठता। किन्तु वे वेदो को नित्य और अनादि मानते हे, अतएव उनके मत मे वेद स्वत. प्रमाण हैं। नैयायिको का विचार है कि चूकि शब्द अनित्य है, तथा वाक्य शब्दसमूह रूप है, एव वेद वाक्यसमूह रूप हैं, अत वे नित्य नही हो सकते। इसके अतिरिक्त वे अनुमान के द्वारा वेदो को पौरुषेय भी सिद्ध करते है। उसकी प्रक्रिया यह है . वेद पौरुषेय हैं, क्योकि वे वाक्य समूह रूप है, महाभारत आदि के समान।' इस अनुमान के साथ ही वे मीमासको द्वारा स्वत प्रमाण के रूप मे स्वीकृत वेदो के वचन से भी इन्हे ईश्वर कृत

---

* यहा तात्पर्य ज्ञान का अर्थ है कि वक्ता ने किस अर्थ की प्रतीति के लिए उस शब्दका प्रयोग किया है, उसका ज्ञान होना।

१. काव्य प्रकाश १०. १०८

सिद्ध करते है, क्योकि वेद में ही कहा गया है कि उस परमेश्वर से ही ऋक् यजु साम और छन्द उत्पन्न हुए हैं।[1]

यद्यपि वेद को नित्य सिद्ध करने के लिए मीमासकों की ओर से तथा पौरुषेय सिद्ध करने के लिए नैयायिको की ओर से अनुमान किये जाते हैं, किन्तु वे उनकी अपनी कुछ मान्यताओ पर आधारित है, एव पूर्व मान्यताओं को आधार मानकर ही किये गये अनुमान यथार्थ नही कहे जा सकते, क्योकि वे मान्यताए स्वयं साध्य है।

वेदो के प्रामाण्य के सम्बन्ध मे भी नैयायिक अनुमान का आश्रय लेते है। गौतम का कहना है कि जैसे विष आदि नाशक मन्त्र तथा आयुर्वेद आप्तवाक्य है, एव फलदर्शन के अनन्तर प्रमाण सिद्ध होते है। उसी प्रकार आप्तवाक्य होने से वेद भी प्रमाण सिद्ध होते है।[2]

चार्वाक बौद्ध और जैनदार्शनिक न तो ईश्वर की सत्ता स्वीकार करते है, और न वेदो की नित्यता को ही। उनके मत मे वेद भी अन्य लौकिक वाक्या के समान ही है।

इस प्रकार हम देखते है कि नैयायिको ने प्रत्यक्ष अनुमान उपमान तथा शब्द ये चार प्रमाण तथा इन से उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष अनुमिति उपमिति और शाब्द भेद से यथार्थ अनुभव के चार भेद स्वीकार किये है।

प्रमाण चार ही क्यों ?

प्रमाणो पर विचार करते हुए एक प्रश्न इनकी सख्या के सम्बन्ध मे उपस्थित होता है कि नैयायिको ने प्रमाणो की सख्या चार ही क्यो स्वीकार की है ? जबकि साख्यवादी तीन, वैशेषिक और बौद्ध केवल दो प्रमाणो को ही स्वीकार करते है। अथवा वेदान्त मे छ पुराणो मे आठ तथा अलकार शास्त्र मे नौ प्रमाण स्वीकार किये गये हैं, तो प्रमाण चार ही क्यो माने जाए ? इस प्रसग मे नैयायिको का कहना है कि प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और शब्द प्रमाणो मे विविध सम्प्रदायो द्वारा स्वीकृत प्रमाणो का अन्तर्भाव हो जाता है, अत प्रमाण चार से अधिक मानने की आवश्यकता नही है, तथा इन

१ यजुर्वेद ३१.७, २. न्याय सूत्र २.१.६८

स्वीकृत प्रमाणों का अन्तर्भाव किसी एक अथवा अनेक प्रमाणो मे होना सम्भव नही है, अन इन चार प्रमाणों का मानना अनिवार्य ही है। न्याय-स्वीकृत प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो की स्वतन्त्र उपादेयता की चर्चा उन उन प्रमाणो की चर्चा के समय की जा चुकी है, उनसे अतिरिक्त विविध सम्प्रदायो द्वारा स्वीकृत प्रमाणो का उन सम्प्रदायो के अनुसार परिचय तथा उनका प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो मे अन्तर्भाव निम्नलिखित रूप से होगा –

अर्थापत्तिः मीमासा और वेदान्त मे अर्थापत्ति प्रमाण स्वीकार किया गया है। अर्थापत्ति का अर्थ है उपपाद्य अर्थात् कार्य के ज्ञान से उपपादक की कल्पना।[1] यह कल्पना अर्थापत्ति प्रमा कही जाएगी। इसके साथ ही जिसके द्वारा यह कल्पना सम्भव है, उस साधन को अर्थापत्ति प्रमाण कहते है। जैसे कोई दम्भी व्यक्ति दिन मे भोजन नही करता, फिर भी उसका शरीर नित्य हृष्ट पुष्ट ही दीखता है, किन्तु भोजन के बिना इस प्रकार की पुष्टि सम्भव नही है, अत पुष्टि रूप कार्य से भोजन रूप कारण के होने की कल्पना की जाती है, किन्तु दिन मे भोजन का अभाव प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध है, परिशेषात् पुष्टिरूप कार्य के द्वारा रात्रिभोजनरूप कारण की सिद्धि अर्थापत्ति के माध्यम से होती है। यहा उपपाद्य पुष्टि रूप कार्य का ज्ञान करण तथा पुष्टि के कारण भूत उपपद्यमान कारण 'रात्रि भोजन' इसका फल है। यह अर्थापत्ति वेदान्त मे दो प्रकार की मानी जाती है. दृष्ट अर्थापत्ति और श्रुत अर्थापत्ति। अभिधान अनुपपत्ति और अभिहितानुपपत्ति भेद से श्रुत अर्थापत्ति भी दो प्रकार की है।

नैयायिको की मान्यता है कि अर्थापत्ति कोई स्वतन्त्र प्रमाण नही, अपितु अनुमान ही है। जैसे पूर्वोक्त उदाहरण मे पुष्ट कार्य को देखकर उसके कारण भोजन की कल्पना की जाती है, यह कारण से कार्य का अनुमान ही है। यहा अनुमान की प्रक्रिया निम्नलिखित रूप से हो सकती है 'देवदत्त भोजन करता है, हृष्ट पुष्ट होने से, जो भोजन नही करता वह हृष्ट पुष्ट नही होता, जैसे क्षीणकाय निराहारी यज्ञदत्त, जो क्षीणकाय नही है, वह भोजन न करने वाला नही है, अत· देवदत्त भोजन न करने वाला नही है, अर्थात् वह भोजन करता है। चू कि दिन मे भोजन का अभाव प्रत्यक्ष प्रमाण

१. वेदान्त परिभाषा पृ० २४६

से सिद्ध है अत परिशेषात् वह रात्रि मे भोजन करता है।' इस प्रकार अर्थापत्ति का समस्त क्षेत्र अनुमान के अन्तर्गत समाहित हो जाता है, अत. उसको पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता नही है ।

इस प्रसंग में स्मरणीय है कि मीमासक और वेदान्ती अनुमान के केवल-व्यतिरेकि भेद को स्वीकार नही करते, यही कारण है कि उन्हें अर्थापत्ति नाम से एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना पडता है, किन्तु नैयायिक केवलव्यतिरेकि अनुमान को स्वीकार कर एक पृथक् प्रमाण मानने के गौरव से बच जाते है। इस गौरव लाघव की चर्चा केवलव्यतिरेकि अनुमान पर विचार करते हुए की जा चुकी है ।

अभाव — वेदान्त के अनुसार ज्ञान रूप करण से उत्पन्न न होने वाले अभावानुभव के असाधारण कारण को अभाव प्रमाण कहते हैं ।[1] इसका ही दूसरा नाम अनुपलब्धि है । कार्य के अभाव को देखकर कारण के अभाव का ज्ञान तो अनुमान का विषय हो सकता है, किन्तु कार्य के अभाव का ज्ञान हुए बिना कारण के अभाव का ज्ञान सभव नही है, तथा उस कार्य के अभाव का (वृष्टि के अभाव का) ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा सभव नही है, क्योकि प्रत्यक्ष इन्द्रिय एव विषयो के सन्निकर्ष के द्वारा होता है, तथा यह सन्निकर्ष सम्बन्ध रूप है, सम्बन्ध सयोग और समवाय नाम से दो प्रकार का है, जो केवल भाव पदार्थों मे रहता है, क्योकि सयोग गुण है, जो द्रव्य मे आश्रित रहा करता है, तथा अभाव द्रव्य नही है, अत उसमे सयोग का रहना सभव नही है। समवाय सम्बन्ध केवल अयुत सिद्ध पदार्थ गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति, अवयव-अवयवी तथा विशेष और नित्यद्रव्य मे ही रहता है, अभाव चूं कि अयुतसिद्ध द्रव्य नही है, अत उसमे समवाय सम्बन्ध भी नही रह सकता । इस प्रकार सम्बन्ध के अभाव मे अभाव का अनुभव प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा संभव नही है, अत अभाव (अनुपलब्धि) नामक एक पृथक् प्रमाण मानना चाहिए ।

नैयायिक अभाव के प्रत्यक्ष के लिए विशेषण विशेष्यभाव नामक अतिरिक्त सम्बन्ध मानते है, किन्तु वेदान्त के अनुयायियो का विचार है कि विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध ही नही हो सकता; क्योकि सम्बन्ध मे तीन

---

१. वही पृ० २५८

धर्म अनिवार्यत रहते हैं, दूसरे शब्दो में कह सकते हैं कि सम्बन्ध के तीन लक्षण है : 'वह सम्बन्धियो से भिन्न हो,' 'दोनो सम्बन्धियों पर आश्रित रहता हो' तथा 'एक हो', जैसे . 'घडा और भूतल के सयोग में, सयोग न तो घडा है और न भूतल ही, अतः दोनो से सर्वथा भिन्न है। यह सयोग न केवल घडे मे रहता है और न केवल भूतल मे, अतः दोनों मे आश्रित भी सिद्ध है, दो पदार्थों मे ही आश्रित होने से वह एक है, यह भी सिद्ध हो जाता है, अत. सयोग एक सम्बन्ध है।

यही स्थिति तन्तु और पट मे रहने वाले समवाय सम्बन्ध की है। समवाय एक सम्बन्ध है, क्योंकि वह तन्तु और पट इन दो सम्बन्धियो से भिन्न है, वे दोनो द्रव्य पदार्थ है, जबकि समवाय एक स्वतन्त्र पदार्थ है, यह उभयाश्रित भी है, क्योंकि कारण तन्तु कार्य पट मे समवाय सम्बन्ध से ही रहता है। इसके अतिरिक्त दोनो कार्य और कारण में रहने वाला यह सम्बन्ध एक ही है। इस प्रकार समवाय में भी सम्बन्ध के सभी लक्षण घटित हो जाते है, अत इसे सम्बन्ध कहा जा सकता है।

विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध में सम्बन्ध का एक भी लक्षण सगत नही होता। उदाहरणार्थ सम्बन्धी को सम्बन्धियो भिन्न होना चाहिए किन्तु यह उनसे भिन्न न होकर सम्बन्धि स्वरूप है। जैसे: 'दण्डी पुरुष' इस प्रतीति मे दण्डी विशेषण है और पुरुष विशेष्य। इन दोनो मे रहने वाली विशेषणता इन दोनों से भिन्न कोई पदार्थ नही है, अपितु इनका स्वरूप ही है, फलतः विशेषणता और विशेष्यता को सम्बन्धियो से अलग नही, किन्तु सम्बन्धि-स्वरूप ही मानना होगा।

विशेषण विशेष्यभाव को सम्बन्धिस्वरूप मानना इसलिए भी आवश्यक है कि 'घटाभावयुक्त भूतल है' इस प्रतीति में घटाभाव विशेषण होता है तथा 'भूतल' विशेष्य, इसके विपरीत भूतलीय घटाभाव मे 'घटाभाव' विशेष्य है और भूतल विशेषण। इस प्रकार घटाभाव (अभाव) विशेषण और विशेष्य दोनो ही सिद्ध होता है। यदि यह विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्धि-स्वरूप न होकर उससे भिन्न माना जाएगा, तो अभाव मे रहने वाली विशेषणता और विशेष्यता भी घटाभाव (अभाव) से भिन्न कोई पदार्थ होगी। न्यायशास्त्र में अभाव सहित सात पदार्थ माने गये है, इनमें विशेष्यता और

विशेषणता का परिगणन कहीं भी नहीं किया गया है, अतः इसे इन में से ही किसी में अन्तर्भूत होना चाहिए, जैसे संयोग सम्बन्ध तो गुण है, समवाय एक स्वतन्त्र पदार्थ है । विशेषणता और विशेष्यता को द्रव्य नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें गुण और क्रिया नहीं है, इसे गुण भी नहीं कह सकते, क्योंकि गुण केवल द्रव्य के आश्रित रहता है, यह अभाव में भी आश्रित है । इसी कारण इसे कर्म भी नहीं कहा जा सकता । इसे जाति भी (सामान्य) नहीं कह सकते, क्योंकि जाति-जाति में नहीं रहती, जबकि विशेषणता और विशेष्यता जाति में भी रहती है, विशेष तो केवल नित्य द्रव्यों में ही रहता है, जबकि ये नित्य और अनित्य दोनों में रहते हैं । समवाय केवल अयुत द्रव्यों में ही रहता है, किन्तु यह अन्यत्र भी रहती है, अत यह समवाय से भी भिन्न है । इसे अभाव पदार्थ भी नहीं कह सकते, क्योंकि ये भाव पदार्थों में रहने पर प्रतियोगी के साथ साथ रहती है जब कि अभाव और उसका प्रतियोगी एक साथ नहीं रह सकते । इस प्रकार इसे सभी पदार्थों से भिन्न मानना आवश्यक हो जाएगा, किन्तु इसे अष्टम पदार्थ कहीं स्वीकार नहीं किया जाता, अत इसे सम्बन्धियों से भिन्न न मान कर अभिन्न ही मानना होगा । फलत इसे सम्बन्धिस्वरूप मानना ही उचित है, किन्तु उस स्थिति में इसमें सम्बन्ध का प्रथम लक्षण सगत नहीं होता ।

सम्बन्ध का दूसरा लक्षण 'उभयाश्रित होना' भी इनमें नहीं है, क्योंकि विशेषणता सम्बन्ध केवल विशेषण में रहता है, विशेष्य में नहीं, तथा विशेष्यता सम्बन्ध केवल विशेष्य में रहता है, विशेषण में नहीं । इस प्रकार इसमें 'उभायाश्रित होना' लक्षण भी सगत नहीं होता ।

सम्बन्ध का तृतीय क्षण 'एक होना' है । वह भी विशेष्यता और विशेषणता में सगत नहीं होता, क्योंकि दोनों परस्पर सर्वथा भिन्न है, साथ ही इनके आश्रय भी भिन्न है, जैसे: विशेष्यता विशेष्य में रहती है, विशेषण में नहीं, तथा विशेषणता विशेषण में रहती है, विशेष्य में नहीं । इस प्रकार सम्बन्ध के लक्षण विद्यमान न होने के कारण विशेषण विशेष्यभाव को सम्बन्ध नहीं माना जा सकता, फलत विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध को मान कर स्वीकृत अभाव का प्रत्यक्ष भी स्वीकार नहीं किया जा सकता । अतएव अभाव के प्रत्यक्ष के लिए अभाव अथवा अनुपलब्धि नामक स्वतन्त्र प्रमाण मानना चाहिए ।

अभाव प्रमाण की स्थापना के प्रसङ्ग में नैयायिक उपर्युक्त तर्क से सहमत

नहीं हैं। उनका कहना है कि 'प्रत्यक्ष द्वारा इन्द्रिय सम्बद्ध वस्तु का ही ज्ञान होता है' यह सिद्धान्त केवल भाव पदार्थों के प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में ही है। अभाव के सम्बन्ध मे नही। अभाव का प्रत्यक्ष तो सयोग और समवाय सबन्ध के बिना ही केवल विशेषण विशेष्यभाव के द्वारा ही हो जाएगा। एतदर्थ विशेषण विशेष्यभाव के सम्बन्ध होने की कोई आवश्यकता नही है। यहा यह आशंका की जा सकती है कि 'सम्बन्ध के अभाव मे भी प्रत्यक्ष मानने पर विश्व के समस्त पदार्थों का एक साथ ही सम्बन्ध के बिना भी प्रत्यक्ष मानना होगा, इस प्रकार असम्बद्धार्थ ग्राहकता दोष होगा'। किन्तु यह आशका तो अभाव को प्रमाण मानने पर भी दूर नही हो सकती, क्योंकि उस पक्ष मे भी यह प्रश्न होगा कि अभाव प्रमाण द्वारा अभाव का ज्ञान मानने पर भी सम्बन्ध का अभाव तो समान रूप से ही विद्यमान रहता है, इस प्रकार असम्बद्धार्थ ग्राहकता दोष तो अभाव प्रमाण को स्वीकार करने पर भी रहेगा ही।[1] किन्तु नैयायिक विशेषण विशेष्यभाव को सम्बन्ध स्वीकार करते है, अत. इस मत मे इस दोष की सम्भावना नही है।

आचार्य प्रशस्तपाद अभाव प्रमाण का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष प्रमाण मे न करके अनुमान मे करते है। उनका कहना है कि जैसे उत्पन्न कार्य को देखकर अप्रत्यक्ष कारण का भी ज्ञान अनुमान द्वारा कर लिया जाता है, इसी प्रकार अनुत्पन्न कार्य भी कारण के अभाव मे प्रमाण है।[2] अर्थात् 'कारण के अभाव मे कार्य का भी अभाव होता है, इस सिद्धान्त के अनुसार जैसे कार्य को देख कर कारण के अनुमान कर लिया जाता है, इसी प्रकार कार्य के अभाव को देख कर कारण के अभाव का भी अनुमान किया जाता है। इस प्रकार अभाव का ज्ञान अनुमान द्वारा हो जाता है। इस अनुमान का प्रकार निम्नलिखित रूप से हो सकता है . "इस भूमि पर घड़े का अभाव है, प्रतिबन्धक के बिना भी उसका प्रत्यक्ष न होने से, जो वस्तु विद्यमान होती है, प्रतिबन्धक अन्धकार आदि के अभाव मे उसका प्रत्यक्ष होता है, जैसे यही भूतल पर विद्यमान वस्त्र का प्रत्यक्ष हो रहा है, चूकि प्रतिबन्धक के बिना भी घड़े का प्रत्यक्ष नही हो रहा है अतः यहा (भूतल पर) वह (घड़ा) नही है।

---

१. तर्कभाषा पृ० १२५ २. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १११

ऐतिह्यप्रमाण—कुछ दार्शनिक ऐतिह्य को भी स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं, उनका विचार है कि ऐतिह्य द्वारा भूतकाल के विषय का ज्ञान होता है, जबकि प्रत्यक्ष द्वारा केवल वर्तमान का ही ज्ञान होता है, अत वह प्रत्यक्ष से भिन्न है। ऐतिह्य अनुमान से भी भिन्न है, क्योंकि अनुमान व्याप्ति विशिष्ट हेतु का प्रत्यक्ष द्वारा साक्षात्कार होने पर ही सभव है, किन्तु ऐतिह्य मे हेतु और व्याप्ति का सर्वथा अभाव है, अत वह अनुमान नही हो सकता। उपमान सादृश्यज्ञान पर आधारित होता है अथवा तद्रूप, जबकि ऐतिह्य का सादृश्य से कोई सम्बन्ध भी नही है, अत वह उपमान भी नही हो सकता। शब्द प्रमाण के लिए चूकि वक्ता का आप्त होना आवश्यक माना गया है, किन्तु ऐतिह्य मे प्रमाता को वक्ता का दर्शन भी नही होता, अत उसका अन्तर्भाव शब्द प्रमाण मे भी नही होता। इस प्रकार चारो प्रमाणो मे अन्तर्भाव न होने से ऐतिह्य प्रमाण को स्वतन्त्र प्रमाण मानना चाहिए।

इस प्रसग मे नैयायिको का कथन है कि ऐतिह्य कोई स्वतन्त्र प्रमाण नही है, जैसे प्रवाद परम्परा से प्राप्त वाक्य से 'इस वटवृक्ष पर यक्ष निवास करता है' यह ज्ञान ऐतिह्य का विषय कहा जाता है, किन्तु वह प्रामाणिक नही है, क्योकि उस वृक्ष मे यक्ष की सत्ता को कब किसने देखा है ? न देखने पर वह रहता भी है या नही ? इसमे सन्देह ही होगा।' चूकि अनुमान आदि सभी प्रमाणो मे प्रत्यक्ष आधार रूप मे रहता है, तथा इस प्रमाण मे प्रत्यक्ष का आधार नही है, अत वह प्रमाण नही है। यदि उस यक्ष को किसी व्यक्ति ने देखा है, तथा वह व्यक्ति स्वस्थ इन्द्रियो वाला आप्तपुरुष है, तो उसके वचन को प्रामाणिक माना जाएगा, किन्तु उस स्थिति मे वह आगम (शब्द) प्रमाण का विषय होगा, उसके लिए अतिरिक्त प्रमाण मानने की आवश्यकता नही है।

सम्भव प्रमाण—कुछ दार्शनिको ने सभव नामक एक स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार किया है। उनके अनुसार 'क्विटल' मे 'किलाग्राम' 'हजार' मे 'सौ' हो सकते है, इत्यादि ज्ञान सम्भव प्रमाण द्वारा होता है, अत उसे स्वतन्त्र प्रमाण मानना चाहिए।

किन्तु नैयायिको का विचार है कि सौ सख्याओ के बिना हजार संख्या बन ही नही सकती, अत अविनाभाव मूलक व्याप्ति से अनुमान द्वारा ही उक्त ज्ञान प्राप्त होता है, एतदर्थ सभव प्रमाण मानने की आवश्यकता नही है।[१]

---

१. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १११

इस प्रसंग में स्मरणीय है कि सम्भव प्रमाण को मानने वाले उसे व्याप्ति निरपेक्ष मानते हैं, जबकि वैशेषिक अथवा नैयायिक उसे व्याप्तिसापेक्ष स्वीकार कहते है, तथा व्याप्ति सापेक्ष ज्ञान तो निश्चित रूप से अनुमान से भिन्न नही कहा जा सकता। विरोध केवल व्याप्ति निरपेक्ष ज्ञान के सम्बन्ध मे है। एक पक्ष मे वह व्याप्ति निरपेक्ष होकर भी प्रमाण है, जबकि इसे वास्तविक रूप से प्रामाणिक नही मानना चाहिए। क्योकि ब्राह्मण मे विद्या सम्भव है, अत. ब्राह्मण विद्वान् है, क्षत्रिय में शौर्य सम्भव है, अत यह राजपुत्र शूर है, ये वचन प्रामाणिक नही माने जाते, क्योकि इनका अपवाद देखा जाता है। व्याप्ति रहने पर सभावना मे सन्देह नही रहता, तथा व्याप्ति ज्ञानपूर्वक हेतु द्वारा प्राप्त ज्ञान **अनुमान** कहा जाता है, अत. व्याप्तिपूर्वक सम्भव प्रमाण भी अनुमान ही है।

प्रमाण्यवाद

विविध दार्शनिको द्वारा स्वीकृत प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे भी अनेक मत है। नैयायिको का सिद्धान्त है कि प्रमाणो की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता दोनो परत: ग्राह्य है, अर्थात् प्रमाण द्वारा ज्ञान उत्पन्न होने पर प्रमाता की उस प्रमेय के विषय मे प्रवृत्ति होती है, तथा प्रवृत्ति के सफल होने पर पूर्व प्रमाण की प्रामाणिकता का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार उस अनुमान द्वारा प्रत्यक्ष आदि प्रमाण की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। प्रामाणिकता के समान अप्रामाणिकता को भी नैयायिक पूर्व प्रकार से ही **परत.** मानते है। इसके ठीक विपरीत साख्यवादी प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता दोनों को **स्वत** मानते है।[1] क्योकि प्रमाण की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के लिए तब तक अन्य अनुमान को कारण नहीं माना जा सकता जब तक कि उस अनुमान की प्रामाणिकता सिद्ध न हो, तथा प्रामाण्यसाधक अनुमान की प्रामाणिकता अन्य अनुमान पर आश्रित होगी किन्तु वह भी प्रामाणिकता को तब तक न सिद्ध कर सकेगा, जब तक कि स्वय उस अनुमान की प्रामाणिकता सिद्ध न हो जाए। इस प्रकार परतः प्रामाण्यपक्ष मे अनवस्था दोष होगा।

---

१ सर्वदर्शन सग्रह पृ० २७६

मीमांसकों का विचार है कि प्रमाण की प्रामाणिकता तो स्वत: सिद्ध है कि किन्तु जहा कही वह अप्रामाणिक प्रतीत होता है, वहा उस अप्रामाणिकता की प्रतीति स्वत: न होकर किसी प्रमाणान्तर के कारण होती है। प्रामाणिकता के ग्रहण की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे मीमांसको मे भी तीन सम्प्रदाय हैं।

प्रभाकर के अनुसार प्रत्येक ज्ञान के तीन अश होते हैं : **मिति मातृ और मेय अर्थात् ज्ञान, ज्ञानाश्रय और ज्ञान का विषय**। इनके अनुसार घट विषयक ज्ञान 'यह घट है' एव 'मैं घट विषयक ज्ञानवान् हूँ' इस प्रकार समूहालम्बनात्मक व्यवसायात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है; चू कि व्यवसाय स्वत प्रकाशरूप होता है, अत: उसका प्रामाण्य भी प्रकाश के समान ही स्वत गृहीत होगा। चू कि उनके मतानुसार विशिष्ट बुद्धि के प्रति विशेषण ज्ञान को कारण स्वीकार नही किया जाता, अत प्रामाण्यविशिष्ट बुद्धि के लिए ज्ञान मे प्रामाण्य विशेषण के न होने पर भी प्रामाण्य विशिष्ट बुद्धि ही होगी। इसके अतिरिक्त मीमासक चू कि वेद को ईश्वर कृत मानते हैं, अत ईश्वरीय रचना की प्रामाणिकता के लिए वे किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा स्वीकार नही करते।[1]

मुरारिमिश्र के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य उसके अपने अनुव्यवसायात्मक रूप के कारण ही ग्राह्य होता है। इनके अनुसार 'यह घट है' इस व्यवसायात्मक ज्ञान के अनन्तर 'मैं घट के रूप में घट को जानता हूँ' यह **अनुव्यवसाय रूप**, ज्ञानविषयक ज्ञान लौकिकमानसप्रत्यक्ष द्वारा उत्पन्न होता है, इस अनुव्यवसाय से व्यवसाय ज्ञानगत प्रामाण्य गृहीत होता है।

कुमारिल भट्ट के अनुसार प्रत्येक ज्ञान अतीन्द्रिय होता है, एव उसका ग्रहण ज्ञातता हेतु युक्त अनुमिति के द्वारा होता है। इनके अनुसार 'स्वतोग्राह्य' का अर्थ स्व अर्थात् स्वकीयज्ञाततालिङ्ग युक्त अनुमिति से ग्राह्य है, घट विषयक ज्ञान मे अनुमिति का प्रकार इस प्रकार होगा 'यह घट घटत्ववत् विशेष्यक घटत्वप्रकारक ज्ञान का विषय है क्योकि यह घटत्व प्रकारक ज्ञातता से युक्त है, जो घटत्व प्रकारक ज्ञातता से युक्त नही है, वह घट नही हो सकता, जैसे पट। यह ज्ञातता रूप धर्म घट के ज्ञान से उत्पन्न घट मे

१ श्लोकवार्त्तिक २. ६८

विद्यमान तथा उस से भिन्न प्रकटता रूप धर्म है, जिसका कि प्रत्यक्ष होता है। इस ज्ञातता का अनुमान भी किया जा सकता है, अनुमान प्रकार निम्नलिखित होगा .—यह ज्ञातता घटत्वयुक्त घटत्वप्रकारक ज्ञान से उत्पन्न है, क्योकि यह घट मे विद्यमान घटत्व प्रकारक ज्ञातता है ।

मीमासको के तीनो ही सम्प्रदायो मे ज्ञान दो दशाओ मे उत्पन्न होने से दो प्रकार का माना जाता है—अभ्यासदशापन्न और अनभ्यासदशापन्न। ज्ञान का यह स्वत प्रामाण्य अभ्यासदशापन्न ज्ञान में ही होता है अनभ्यासदशापन्न ज्ञान मे नहीं।

वस्तुत मीमासको का यह स्वत प्रामाण्य उनके अपने मत में भी सिद्ध नही होता। क्योकि जब ज्ञान अभ्यासदशापन्न और अनभ्यासदशापन्न दो प्रकार का है, तो दोनो के स्वत प्रामाण होने पर ही ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य कहा जा सकता है, अन्यथा नही। जब मीमासक स्वय ही अनभ्यासदशापन्न ज्ञान को स्वत प्रमाण न मानकर परत मानते हैं, तो उनके मत मे ज्ञान का स्वत प्रामाण्य कैसे कहा जा सकता है। अभ्यासदशापन्न ज्ञान मे भी अभ्यास क्या है ? क्रिया का बार-बार होना तथा अनेक बार सफल प्रवृत्ति ही तो अभ्यास है। यदि इस सफल प्रवृत्ति के रहने पर ही ज्ञान का प्रामाण्य होता है, अन्यथा नही, तो इस प्रवृत्ति साफल्य को नैयायिको के समान प्रामाण्य का कारण क्यो न माना जाए ?

इसके अतिरिक्त मुरारि मिश्र के मत मे प्रथम व्यवसायात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, तथा वह स्वय प्रामाणिक नही होता। अपितु उस ज्ञान से अनुव्य-वसायात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा व्यवसायात्मक ज्ञान की प्रामाणिकता का ग्रहण होता है, इस प्रकार इस मत मे भी ज्ञान का परत. प्रामाण्य ही सिद्ध होता है। यही स्थिति कुमारिल भट्ट के मत की है, वहा घडे के ज्ञान से ज्ञातता की उत्पत्ति होती है एव उसके द्वारा पूर्वज्ञान की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। ज्ञातता को प्रामाणिकता का कारण मानने पर सबसे बडा दोष है, भूतकालीन और भविष्यत्कालीन ज्ञान की प्रामाणिकता सिद्ध न होना है। क्योकि मीमासको के अनुसार घटविषय ज्ञातता का आश्रय घट स्वय है, किन्तु नष्ट अथवा अनुत्पन्न घट की सत्ता वर्त्तमान मे न होने के कारण आश्रय के अभाव मे आश्रित ज्ञातता का भी अभाव होगा, एवं प्रामाण्य के कारण ज्ञातता का अभाव होने से कार्य प्रामाण्य का भी अभाव होगा। इस प्रकार

ज्ञातता को प्रामाण्य का कारण मानने पर वर्तमान से भिन्न कालीन विषयों के ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध न हो सकेगा ।

ज्ञान को स्वतः प्रमाण मानने पर एक और दोष है, वह यह कि 'यदि ज्ञान का प्रामाण्य स्वत ग्राह्य होता, तो अनभ्यास दशा मे उत्पन्न ज्ञान मे 'यह ज्ञान प्रमा है या नही' इस प्रकार का सर्वजन स्वीकृत प्रामाण्य सशय न होता, क्योंकि यदि वहा विद्यमान ज्ञान स्वत ज्ञात है, तो उसका प्रामाण्य भी ज्ञात ही है, यदि ज्ञान के ज्ञात होने पर भी प्रामाण्य ज्ञात नहीं है, तो ज्ञान का स्वत प्रामाण्य असिद्ध ही रहा, यदि ज्ञान ही अज्ञात है, तो धर्मिज्ञान के अभाव मे सशय का होना भी सभव नही है; अत प्रामाण्य स्वतोग्राह्य नही है ।'[1]

इसके अतिरिक्त मीमासको को ज्ञातता नामक एक अतिरिक्त धर्म की कल्पना का गौरव भी वहन करता है । साथ ही ज्ञातता को स्वीकार करने मे अनवस्था दोष उत्पन्न होता है । क्योकि विषय के सम्बन्ध में ज्ञान के प्रामाण्य के लिए ज्ञातता आवश्यक है, ज्ञातता का ज्ञान भी प्रामाणिक है, इस ज्ञान के लिए ज्ञातता विषयक ज्ञातता का ज्ञान आवश्यक है । और उस द्वितीय ज्ञातता के ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए तृतीय ज्ञातता । इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होगा ।

मीमासक यथार्थ ज्ञान का प्रामाण्य स्वत तथा अयथार्थ ज्ञान का अप्रामाण्य परत· मानते है, ज्ञातता को स्वीकार करने पर जैसे यथार्थ ज्ञान होने पर ज्ञान से ज्ञातता उत्पन्न होती है उसी प्रकार अयथार्थ ज्ञान होने पर भी ज्ञानत्व सामान्य के कारण ज्ञातता की उत्पत्ति होगी ही, फलत ज्ञातता द्वारा पूर्व प्रकार से ही अप्रामाण्य भी स्वत ही होना चाहिए ।

इस प्रकार हम देखते है कि अनेक दोषो की सभावना के कारण ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण स्वत और अप्रामाण्य का ग्रहण परत. होता है, मीमासको का यह मत ग्राह्य नही हो सकता ।

बौद्धो का मत मीमासको से सर्वथा विपरीत है, वे प्रामाण्य को परत और अप्रामाण्य को स्वत. मानते है, किन्तु मीमासको के मत में प्रामाण्य के स्वत.

---

१ तर्क किरणावली पृ० १४५

और अप्रामाण्य को परतः होने में जो दोष पूर्व पंक्तियों में दिखाया गया है, प्रामाण्य के परतः और अप्रामाण्य के स्वतः ग्राह्य होने में भी वे दोष विद्यमान होंगे ही, अतएव नैयायिकों ने इस मत को भी स्वीकार नहीं किया है।

बौद्धों मे शान्तरक्षित अभ्यासदशापन्न ज्ञान मे प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो को ही स्वतः तथा अनभ्यासदशापन्न ज्ञान मे प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो को ही परतः ग्राह्य मानते है। यदि अभ्यासदशापन्न ज्ञान मे प्रामाण्य और अप्रामाण्य के ग्राह्यत्व का कारण अभ्यास माना जाये, तो शान्तरक्षित और नैयायिको के मत मे कोई विशेष अन्तर नही रह जाता, क्योंकि अभ्यास भी अनेक बार होने वाली प्रवृत्ति है, तथा नैयायिक सफल प्रवृत्ति को ही प्रामाण्य और अप्रामाण्य के ग्रहण मे आधारभूत कारण मानते हैं।

जैसीकि ऊपर की पंक्तियो में चर्चा हो चुकी है, नैयायिक प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो ही परतः मानते है। इस मत मे ज्ञान का ग्रहण अनुव्यवसाय के द्वारा तथा प्रामाण्य या अप्रामाण्य का ग्रहण प्रवृत्ति की सफलता और असफलतामूलक अनुमान से होता है। उदाहरणार्थ यदि जलका प्रत्यक्ष होने पर उसे लेने की प्रवृति और इसमे सफलता होती है, तो 'पूर्व ज्ञान की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे अनुमान किया जाता है कि 'पूर्व उत्पन्न जल का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमा है, क्योकि वह सफल प्रवृत्ति का उत्पादक है, जो सफल प्रवृत्ति को उत्पन्न नही करता वह ज्ञान प्रमा नही है; जैसे 'मरुमरीचिका मे जल ज्ञान' इस प्रकार व्यतिरेकि अनुमान से प्रायः सर्वत्र ज्ञान मे प्रमात्व निश्चित किया जाता है। इस प्रकार प्रवृत्ति के द्वारा जिस ज्ञान के प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य का ग्रहण किया जाता है, उस ज्ञान को अभ्यासदशापन्न ज्ञान कहते है।

अनभ्यासदशापन्न वह ज्ञान है, जिसमें अब तक प्रवृत्ति नहीं हो सकी है, अतः उसके सम्बन्ध मे सफलता और असफलता का प्रश्न भी नही है, ऐसे ज्ञान में नैयायिको के अनुसार प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य का ग्रहण सफल प्रवृत्तिजनक ज्ञान का सजातीय होने से होता है।

मीमांसक वेदों को नित्यमानकर उसे स्वतः प्रमाण मानने का प्रयत्न करते हैं, उसके उत्तर में नैयायिको का कथन है कि चूंकि शब्द आदिमान् तथा इन्द्रियग्राह्य है, अतः अनित्य है। इसके अतिरिक्त अनित्य सुख दुख के समान शब्द के लिए भी तीव्र मन्द आदि विशेषणों का प्रयोग होता है, इस

प्रकार कार्य के समान व्यवहार होने से शब्द भी अनित्य है ।[1] फलतः शब्द का नित्यत्व असिद्ध होने से शब्द रूप वेद का प्रामाण्य भी स्वत. सिद्ध नही हो सकता ।

नैयायिको के परत प्रामाण्य के सम्बन्ध मे प्रश्न होता है कि 'केवल प्रत्यक्ष ज्ञान ही परत प्रमाण है' अथवा 'अनुमान आदि प्रमाण भी' ? यदि अनुमान भी परत प्रमाण है, तो प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रामाणिकता के साधक अनुमान की प्रामाणिकता के लिए अन्य अनुमान की, तथा उसके प्रामाण्य के लिए अन्य अनुमान की आवश्यकता होगी, इस प्रकार **अनवस्था** दोष उपस्थित होगा । यदि यह माना जाए कि अनुमान के प्रामाण्य के लिए अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, तो प्रकारान्तर से ज्ञान का (अनुमान ज्ञान का) स्वत प्रामाण्य सिद्ध होने से नैयायिक पक्ष मे **प्रतिज्ञा हानि** दोष उपस्थित होता है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नैयायिको के परत प्रामाण्य वाद मे उनकी युक्तिया अधिक सबल नही है ।

वस्तुत. प्रामाण्य के प्रसंग में इन दोषों का समाधान सम्भव नही है, सभी मतो में कोई न कोई दोष रहेंगे ही । इस प्रसंग मे हम इतना ही कह सकते है कि मनुष्य की विषय विशेष के प्रति प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति विषय सम्बन्धी ज्ञान मात्र से होती रहती है, तदर्थ ज्ञान के प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य के ज्ञान की आवश्यकता नही रहती । इतना ही नही अपितु प्रवृत्ति के लिए मानव ज्ञान के प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य के ज्ञान की आवश्यकता ही नही समझता । यदि यह कहा जाए कि बहुधा उसके मानस मे 'मेरा यह ज्ञान प्रामाणिक है या नहीं' इस प्रकार के सन्देह का उदय भी नही होता, तो भी अनुचित न होगा । ज्ञान के प्रामाण्य अप्रामाण्य का ज्ञान तो प्रवृत्ति के बाद होने वाली सफलता के बाद ही होता है, पूर्व नही ।

इस प्रकार बुद्धि विवेचन के प्रसग मे हमने देखा है कि बुद्धि अर्थात् ज्ञान के सर्व प्रथम दो भेद है । अनुभव और स्मृति । अनुभव भी दो प्रकार का है यथार्थ और अयथार्थ । नैयायिको के अनुसार यथार्थ अनुभव के चार भेद हैं : प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्द । प्रत्यक्ष के प्रथम दो भेद हैं लौकिक और अलौकिक । लौकिक प्रत्यक्ष करण भेद से छ प्रकार का है : घ्राणज, रासन, चाक्षुष, स्पार्श, श्रौत्र एवं मानस । अलौकिक प्रत्यक्ष तीन प्रकार का है . सामान्यलक्षण ज्ञानलक्षण और योगज । स्वार्थ और परार्थ

भेद से अनुमान के दो प्रकार हैं। उपमिति के भेद प्रभेदो को न्यायशास्त्र में स्वीकार नहीं किया गया है। लौकिक और वैदिक शब्दों के भेद से शब्द प्रमाण भी दो प्रकार का है। अयथार्थ अनुभव के चार भेद हैं संशय, विपर्यय तर्क और अनध्यवसाय। स्मृति चूंकि अनुभव जन्य है, एव अनुभव के मूलत दो भेद किये गये हैं, अत स्मृति के भी दो भेद किये जाते है यथार्थ स्मृति और अयथार्थ स्मृति।

कुछ प्राचीन विद्वान् सिद्धदर्शन को भी प्रत्यक्ष आदि से भिन्न ज्ञान स्वीकार करते है[1], किन्तु वह उचित नही है, क्योकि प्रयत्न पूर्वक सिद्ध अञ्जन, खड्ग वत्ति और गुलिका आदि के द्वारा सिद्ध पुरुषो को जो व्यवहितसूक्ष्म अथवा सुदूरवर्त्ती पदार्थों का दर्शन होता है, वह प्रत्यक्ष ही है। इसी प्रकार ग्रह नक्षत्र आदि की गति के द्वारा दैवी ग्रहो अथवा भौतिक प्राणियों के धर्म अधर्म के परिणाम स्वरूप भावी सुख और दुख का ज्ञान कर लेना अनुमान ही है। इसी भाति धर्म आदि के प्रति इष्ट आदि का ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा आगम प्रमाण मे अन्तर्भूत हो जाएगा, उसे स्वतन्त्र ज्ञान मानने की आवश्यता नही है।

बुद्धि आत्मा मे रहनेवाला प्रधान गुण है, यही आत्मा में आश्रित अन्य सुख आदि विशेष गुणो का कारण भी है।

गुण विमर्श (शेषांश)

सुख

अनुकूल प्रतीत होनेवाला आत्मा का गुण सुख है। तर्कदीपिकाकार के अनुसार 'मैं सुखी हूँ' इस अनुव्यवसाय मे प्रतीत होनेवाला ज्ञान सुख कहा जाता है।[2] शकरमिश्र के अनुसार धर्म जिसका असाधारण कारण है, आत्मा के उस गुण को सुख कहते हैं।[3] इन सभी लक्षणो मे प्रकारान्तर से सुख का परिचय दिया गया है, तथा इन लक्षणो मे परस्पर कोई विरोध नही है। सुख के दो भेद हो सकते हैं. स्वकीय और परकीय। स्वकीय (अपने) सुख का ज्ञान केवल स्वात्म अनुभवमात्र से होता है। परकीय सुख का ज्ञान मुख के विकास आदि के द्वारा अनुमान के माध्यम से होता है।

---

१. प्रशस्तपाद विवरण पृ० १२६ २. तर्क दीपिका पृ० १५६।
३. कणाद रहस्यम् पृ० १२२

उपर्युक्त दोनो ही प्रकार के सुख के पुन दो भेद किये जा सकते हैं . सांसारिक (लौकिक) और स्वर्गीय (पारलौकिक)। प्रयत्न द्वारा प्राप्त होने वाले साधनो के आधीन सुख सांसारिक कहा जाता है, तथा इच्छामात्र से उपलब्ध होने वाले साधनो के आधीन सुख को स्वर्गीय या पारलौकिक सुख कहते हैं।[1] काव्यशास्त्र मे इन दोनो से भिन्न विभाव अनुभाव और व्यभिचारिभावो द्वारा व्यजित होने वाले रस नामक तृतीय सुख को भी स्वीकार किया गया है जो लोक मे रहते हुए ही अनुभूत होता है, फिर भी लोकोत्तर है जो लौकिक सुखो से सर्वथा भिन्न ब्रह्मास्वादसहोदर कहा जाता है।[2]

लौकिक सुख चार प्रकार के है वैषयिक मानोरथिक, आभ्यासिक और आभिमानिक। वैषयिक सुख सासारिक विषयो के भोग से उत्पन्न होता है। ज्ञानेन्द्रियो के भेद से इसके भी पाच प्रकार कहे जा सकते हैं। मानोरथिक सुख अभीष्ट विषयो के अनुस्मरण से प्राप्त होता है। अभीष्ट विषय चूकि भूत भविष्य और वर्तमान भेद से तीन प्रकार के हो सकते हैं, अत मानोरथिक सुख के भी तीन प्रकार माने जा सकते हैं, किन्तु भविष्य सम्बन्धी द्रव्यादि की सत्ता केवल कल्पना मात्र मे ही रहती है, अत तत्सम्बन्धी सुख भी केवल मन मात्र से ही अनुभूत होता है। आभ्यासिक सुख किसी क्रिया के अनवरत अभ्यास से उत्पन्न होता है। अपने वैदुष्य आदि धर्मों के आरोप से अनुभव होने वाला सुख आभिमानिक है। परीक्षा आदि मे सफलता प्राप्त होने पर जो सुख होता है वह भी आभिमानिक सुख ही है।

आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार कारण भेद से सुख चार प्रकार का है[3], अभीष्ट उपलब्ध विषयो का इन्द्रियो से सन्निकर्ष होने पर धर्मादिसापेक्ष आत्मा और मन के सयोग से उत्पन्न होनेवाला सामान्यसुख है। भूतकालीन विषयो के स्मरण से होने वाला स्मृतिज सुख है। अनागत विषयो के सकल्प से होनेवाला सुख संकल्पज कहाता है, तथा विद्वानों को विषय उनका अनुस्मरण सकल्प आदि के बिना ही विद्या शम सन्तोष आदि धर्मों से एक विशेष प्रकार का सुख होता है, वह चतुर्थ प्रकार का सुख कहा जाता है। योग

१ सप्तपदार्थी पृ० ५० २. अभिनव भारती ६ ३४
३. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १३०

दर्शन मे इस सुख को सर्वाधिक महत्व दिया गया है।[1] पारलौकिक सुख को मोक्ष या आनन्द कहते हैं। साख्यदर्शन के अनुसार पारलौकिक सुख केवल लौकिक त्रिविध दु खो की निवृत्ति ही है।

दुःख

प्रतिकूल प्रतीत होने वाला आत्मा का गुण दु ख कहा जाता है। सुख के समान ही इसके भी स्वकीय और परकीय दो भेद होते हैं, तथा कालभेद से इसके भी तीन भेद हो जाते है। वर्त्तमान काल के सुख के समान ही वर्त्तमानकालीन दुख का भी कोई विशेष नाम नही दिया जाता। भूतकालीन दुखको स्मृतिज तथा भविष्यत्कालीन दु ख को सकल्पज दुख कहा जाता है। दु ख के उपर्युक्त तीनो भेद आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेद से पुनः तीन तीन प्रकार के हो जाते है।

इच्छा

अपने लिए अथवा किसी अन्य के लिए अप्राप्त को प्राप्त करने की कामना का नाम इच्छा है। यह आत्मा का गुण है। यह इच्छा ही प्रयत्न का असाधारण कारण है। इसकी उत्पत्ति स्मृति सापेक्ष अथवा सुखादि सापेक्ष आत्ममन सयोग से होती है। इसके दो प्रकार हैं सोपाधिक और निरुपाधिक सुख के प्रति इच्छा निरुपाधिक है, तथा सुख के साधनो के प्रति होने वाली इच्छा को सोपाधिक इच्छा कहत हैं। सोपाधिक और निरुपाधिक दोनो ही प्रकार की इच्छाओ के अनेक भेद है जिन मे मुख्य निम्नलिखित हैं। काम अभिलाषा राग सकल्प कारुण्य वैराग्य उपधा (कपट) भाव स्पृहा तृष्णा लोभ इत्यादि। काम का अर्थ है, मैथुन की इच्छा। बार बार विषयो के प्रति आसक्ति का नाम राग है। भोजन करने की कामना को अभिलाषा कहते है। भविष्य मे की जाने वाली क्रिया को करने की दृढ़ इच्छा को सकल्प कहते हैं। स्वार्थ के बिना ही दूसरे के दु ख को दूर करने की इच्छा को दया कहते हैं। विषय आदि मे दोष की भावना से उनके त्याग की इच्छा को वैराग्य कहा जाता है। दूसरे को ठगने की इच्छा को उपधा या कपट

---

1 (क) योगदर्शन २ ४२ (ख) योगभाष्य पृ० २६४

कहते हैं। अन्दर छिपी हुई इच्छा को भाव कहते हैं। इसी प्रकार दूसरों के धन को लेने की इच्छा को स्पृहा, अन्याय पूर्वक दूसरे के धन को लेने की इच्छा को लोभ तथा अत्यन्त आवश्यक होने पर भी अपने धन को न छोड़ने की इच्छा को तृष्णा कहते हैं।

इच्छा से ही प्रयत्न धर्म और अधर्म उत्पन्न होते हैं। इनमें इच्छा प्रयत्न के प्रति साक्षात्कारण है, तथा प्रयत्नपूर्वक विहित और निषिद्ध कर्मों के प्रति हेतु होकर धर्म और अधर्म के प्रति परम्परा से कारण हैं।

द्वेष

द्वेष भी आत्मा का गुण है जो दु:खसापेक्ष आत्ममन: सयोग से उत्पन्न होता है। इच्छा भी द्वेष का कारण है, साथ ही यह इच्छा के कार्य प्रयत्न का साक्षात्कारण है। द्वेष होने पर प्राणी स्वय को प्रज्वलित-सा समझा है। यह द्वेष निकट मे उपस्थित शत्रु सर्प आदि दु:ख के साधनो के प्रति तथा उन साधनो से उत्पन्न दु:ख के प्रति उत्पन्न होता है। द्वेष के कारण के रूप मे दु:ख का वर्तमान रहना आवश्यक नही है, भूतकालीन दु:ख के स्मरण से भी द्वेष की उत्पत्ति होती है। यह द्वेष स्वकीय और परकीय भेद से दो प्रकार का है। स्वकीय द्वेष का मानस प्रत्यक्ष द्वारा स्वयं को ज्ञान होता है। परकीय द्वेष का अनुमान मुखविकार, नेत्रों की लालिमा आदि के द्वारा होता है।

यह द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म और स्मरण का कारण है। द्रोह क्रोध मन्यु अक्षमा अमर्ष ईर्ष्या अभ्यसूया आदि द्वेष के अनेक भेद हैं। चिरकाल से विद्यमान रहने पर भी जिसके विकार लक्षित नही होते, तथा जिसके कारण उपकारी के प्रति भी व्यक्ति अन्ततः अपकार कर बैठता है, वह द्रोह कहाता है। किसी दु:ख के तत्काल बाद उत्पन्न होने वाले तथा शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाले द्वेष को क्रोध कहते हैं, इसके द्वारा शरीर और इन्द्रिया आदि फड़कने लगती हैं। अपकारी व्यक्ति के प्रति अपकार करने में असमर्थ व्यक्ति का अन्दर ही गुप्त द्वेष मन्यु कहाता है। दूसरो के गुणो को न सह सकने की क्षमता को अक्षमा कहते है, इसका ही दूसरा नाम असहिष्णुता है। अपने गुणो के तिरस्कार की आशका मे दूसरे के गुणो के प्रति विद्वेष अमर्ष कहा जाता है। दूसरों के उत्कर्ष को देखकर उत्पन्न द्वेष ईर्ष्या कहाता है। दूसरे के अपकार को सहने में असमर्थ व्यक्ति में गुप्त रूप से चिरकाल तक रहने वाला तथा अन्ततः अपकार करने वाला द्वेष अभ्यसूया कहा जाता है।

ऊपर की पंक्तियों में द्वेष को प्रयत्न का हेतु कहा गया है, किन्तु यहाँ यह आशंका हो सकती है कि प्रयत्न तो 'यह वस्तु या कार्य इष्ट का साधक है' इस ज्ञान से होता है, तथा ज्ञान इच्छा के द्वारा ही प्रयत्न का हेतु है; किन्तु द्वेष न तो प्रयत्नमूलक इच्छा को उत्पन्न करता है, और नही ही 'इष्ट साधन होने के ज्ञान को'। फिर द्वेष को किस आधार पर प्रयत्न का हेतु माना जाए ? इस आशका का समाधान यह है कि प्रयत्न दो प्रकार का होता है प्रवृत्तिरूप और निवृत्तिरूप। इष्टसाधनता ज्ञान से प्रवृत्तिरूप प्रयत्न उत्पन्न होता है, जबकि द्वेष द्वारा निवृत्तिरूप प्रयत्न उत्पन्न होता है। शत्रुवध आदि के लिए उत्पन्न होने वाला प्रयत्न भी इष्ट साधनता ज्ञान से ही होता है, द्वेष से नही, इतना अवश्य है कि ऐसे अवसरो पर द्वेष सहकारी कारण होता है।

प्रयत्न

आरम्भ उत्साह आदि शब्द प्रयत्न के पर्यायवाची हैं, यह प्रयत्न दो प्रकार का है जीवनशक्तिमूलक और जीवन से भिन्न इच्छा-द्वेषमूलक। सोये हुए व्यक्ति की प्राण अपान आदि की क्रियाओ को प्रेरित करने वाला, धर्म और अधर्म का प्रेरक प्रयत्न जीवनशक्तिमूलक प्रयत्न है। सोकर जागने पर अन्तःकरण का इन्द्रियो से सयोग भी जीवनशक्तिमूलक प्रयत्न है। हित की प्राप्ति और अहित की निवृत्ति कराने वाली शरीर की क्रियाओं का हेतु जीवनेतर इच्छा या द्वेषमूलक प्रयत्न होता है। जीवनशक्तिमूलक प्रयत्न से उत्पन्न प्राण आदि की गति को दृष्ट से उत्पन्न मानना उचित न होगा, क्योकि जाग्रत दशा में उस गति को हम प्रयत्नमूलक पाते है। यदि उस गति को एक स्थल पर अदृष्टमूलक मानेंगे, तो अन्यत्र भी अदृष्ट मूलक मानना होगा, क्योकि जागरण और शयन दोनो ही अवसरों पर होने वाली गति समान ही है। कुछ लोग चेष्टा तथा क्रिया को भी प्रयत्न ही मानते हैं, परन्तु नैयायिकों के अनुसार चेष्टा 'प्रयत्नयुक्त आत्ममन· सयोग' का कार्य है।[1] दूसरे शब्दों मे प्रयत्नयुक्त आत्ममनः सयोग जिसका असमवायिकारण है, वह क्रिया चेष्टा कही जाती है।

धर्म

भारतीय न्यायशास्त्र में धर्म शब्द अनेक अर्थों मे प्रयुक्त होता है। किसी भी पदार्थ में विद्यमान वह तत्व, जिसके कारण उसे अन्य पदार्थ के सदृश

---

१. कणाद रहस्यम् पृ० १२७

अथवा उससे भिन्न कहा जाता है, उसे भी धर्म कहते हैं। जैसे: पृथिवी में विद्यमान पृथिवीत्व उसका धर्म कहा जाता है।[1] कणाद के अनुसार जिसके द्वारा तत्वज्ञान तथा आत्यन्तिक दुख निवृत्ति हो, वह धर्म कहा जाता है।[2] जैमिनि के अनुसार क्रिया मे प्रवृत्त कराने वाले वचनों से लक्षित होने वाले तथा उन वचनो से प्रेरित, पुरुष को नि:श्रेयस् देने वाले अर्थ को धर्म कहते हैं।[3] मनुस्मृति मे एक स्थान पर वेद स्मृति सदाचार आदि को साक्षात् धर्म तथा अन्यत्र धैर्य क्षमा दमन चोरी का त्याग हर प्रकार की पवित्रता इन्द्रियों का संयम विद्या विचारशीलता सत्य और अक्रोध इन दस को धर्म कहा गया है।[4] शास्त्रदीपिका के टीकाकार रामकृष्णने भी धृति आदि को ही धर्म मानने का समर्थन किया है।[5] उपर्युक्त सभी स्थलो पर धर्म मानवीय कर्त्तव्य के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ, तथा ये कर्तव्य ही मानव के व्यक्तित्व को सुरक्षित रखते है, इनके अभाव मे अर्थात् कर्त्तव्य से च्युत होने पर मानव पतित हो जाता है। इसी आधार पर महाभारत धर्म को प्रजाओं का धारण करने वाला भी कह लिया गया है।[6] न्याय मे पदार्थों के वैशिष्ट्य को धर्म कहने का उद्देश्य भी उसमें विद्यमान क्रिया और प्रतीति की क्षमता को ही प्रगट करना है। मीमासा आदि मे स्वीकृत धर्म के कर्त्तव्य अर्थ को आधार मान कर ही मनुस्मृति मे भी वेदो को समस्त धर्मों का मूल कहा गया है।[7]

न्यायशास्त्र के प्रस्तुत प्रसग मे धर्म शब्द उपर्युक्त अर्थ के निकट होते हुए भी उनसे भिन्न अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, प्रशस्तपाद के अनुसार यह धर्म आत्मा का अतीन्द्रिय गुण है, कर्म का सामर्थ्य नही।[8] धर्म के द्वारा ही कर्त्ता को प्रिय सुख उसके साधन तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसका नाश अन्तिम सुख के सम्यक् ज्ञान के द्वारा होता है। वेदादि द्वारा प्रत्येक वर्णों और आश्रमो के लिए बताए हुए द्रव्य गुण और कर्म धर्म के साधन हैं।[9]

---

१. तर्क किरणावली पृ० २६
२. (क) वैशेषिक सूत्र १ १.२ (ख) उपस्कार भाष्य पृ० ४
३ (क) मीमासा सूत्र १ १ २ (ख) शाबर भाष्य पृ० १२ १३
४. मनुस्मृति २.१२, ६ ९२
५. सिद्धान्तचन्द्रिका पृ० २५
६. महाभारत शान्तिपर्व
७ मनुस्मृति २.६
८. प्रशस्तपाद विवरण पृ० १३८
९. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १३८-१३९

धर्म के साधन द्रव्य आदि में कुछ सर्व सामान्य हैं, अर्थात् प्रत्येक वर्ण और आश्रम के लिए उपयोगी साधन हैं, और कुछ विशेष अर्थात् किन्ही विशिष्ट वर्णों अथवा आश्रमो के लिए उपयोगी । जैसे. धर्म मे श्रद्धा अहिंसा परोपकार सत्यभाषण अस्तेय ब्रह्मचर्य निष्कपटता इत्यादि सामान्य धर्म के साधन हैं, तथा त्रैवर्णिक के लिए यज्ञ अध्ययन और दान, ब्राह्मण के लिए अध्यापन यज्ञ कराना आदि, क्षत्रिय के लिए भली प्रकार प्रजा का पालन दुष्टों को दण्ड देना आदि विशेष धर्म के साधन हैं।

आचार्य प्रशस्तपादकृत धर्म के उपर्युक्त परिचय का तात्पर्य है कि धर्म और अधर्म क्रमश: वेद विहित तथा वेद निषिद्ध कर्मों के करने से उत्पन्न होने वाले आत्मा के विशेष गुण हैं, जिनका प्रत्यक्ष केवल मानस प्रत्यक्ष ही हो सकता है। यह गुण चिरकाल तक आत्मा मे विद्यमान रहता है, तथा इसके अनुसार ही पुरुष को कालान्तर मे विविध फलो की प्राप्ति होती है । चू कि नास्तिक दर्शनो मे आत्मा और उसके गुण धर्म अधर्म को स्वीकार नही किया गया है, अत उसकी सिद्धि के लिए नैयायिक अनुमान का आश्रय लेते हैं। केशवमिश्र के अनुसार यह अनुमान निम्नलिखित रूप से हो सकता है : 'देवदत्त का आदि शरीर देवदत्त के विशेष गुणों से प्रेरित भूतों से निर्मित है, क्योंकि वह कार्य है, साथ ही देवदत्त के सुखादि भोग का साधन है, जैसे उसके द्वारा निर्मित माला आदि । पञ्च भूतो को प्रेरित करने वाला यह धर्म भूतो के धर्म नही हो सकते, क्योकि उस स्थिति मे उन्हे प्रत्येक प्राणियो के सुख दु खों का सामान्य रूप से उत्पादक होना चाहिए, जैसे गन्ध आदि प्रत्येक प्राणियों को समान रूप से उपलब्ध होते हैं, अत: वह भूतप्रेरक धर्म ही है।'[1] चू कि प्रत्येक पुरुष मे समान सुख की प्रतीति न होकर भिन्न भिन्न प्रतीति होती है, अत धर्म भी प्रति पुरुष मे भिन्न होने से संख्या मे अनन्त हैं।

धर्म के सम्बन्ध मे एक आशका हो सकती है, धर्म को वेद विहित यज्ञ यागादि से भिन्न आत्मा का गुण क्यो स्वीकार किया जाए ? मीमांसको द्वारा स्वीकृत यज्ञ यागादि को ही धर्म क्यों न माना जाए ? यज्ञ आदि करने वाले के लिए यह धार्मिक है, इस प्रकार का लोक व्यवहार, यज्ञ आदि को ही धर्म मानकर प्रचलित होता है। नैयायिको के अनुसार इसका उत्तर यह है कि

---

१. कणादरहस्यम् पृ० १३५-३६

यज्ञ यागादि को धर्म मानने पर धर्म का फल सुख आदि यज्ञ आदि के वर्तमान रहने पर ही होना चाहिए। धर्म के नाश होने पर चिरकाल के अनन्तर सुख आदि की प्रतीति न होनी चाहिए, अत· यज्ञादि साधनो से उत्पन्न चिरकालावस्थायी धर्म आदि की सत्ता स्वीकार की जाती है। यज्ञ आदि के लिए धर्म शब्द का व्यवहार शक्ति (अभिधाशक्ति) से न होकर लक्षणा के द्वारा होता है। जैसे सुख साधन चन्दन आदि अथवा क्रीम पाउडर आदि के लिए सुख शब्द का व्यवहार होता है, उसी प्रकार धर्म के साधन यज्ञ आदि के लिए धर्म शब्द का व्यवहार होता है। यज्ञ यागादि व्यापार साध्य देवता की प्रीति को भी धर्म नहीं कहा जा सकता, क्योकि वह प्रीति भी चिरकालावस्थायी नही हुआ करती। इसके अतिरिक्त चूंकि स्नान दान श्राद्ध आदि वेद विहित कर्मों से देवता की प्रीति उत्पन्न नही होती, इसलिए भी देवता प्रीति को धर्म न कहा जा सकेगा।

याग आदि से उत्पन्न यागादि के प्रध्वंसाभाव को भी धर्म नही कहा जा सकता क्योकि ध्वसाभाव अनन्त अर्थात् अविनाशी होता है, प्रध्वसाभाव के रूप मे यदि धर्म को अनन्त कालावस्थायी माना जाएगा, तो उसके कार्य सुखादि को भी अनन्तकालावस्थायी मानना होगा, किन्तु सुखादि की विनश्वरता हम प्रत्यक्ष रूप से प्रतिदिन देखते हैं, अत उसके कारण को भी विनश्वर स्वीकार करना आवश्यक होगा।

अतएव यज्ञ यागादि साधन देवता की प्रीति तथा यागादि प्रध्वसाभाव से भिन्न धर्म की पृथक् सत्ता है। धर्म के कार्य सुख दुखादि का भोग चू कि आत्मा को ही होता है, अत धर्म को आत्माश्रित गुण स्वीकार किया जाता है।

धर्म का विनाश मुख्य रूप से भोग के द्वारा होता है, किन्तु आत्मा के मुक्त होने पर उसमे विद्यमान धर्म आदि का विनाश तत्वज्ञान के द्वारा होता है।[1] जहां धर्म का नाश स्वयं कथन आदि द्वारा कहा गया है, वहा उसका तात्पर्य केवल इतना है कि वह धर्म सुख आदि भोग का उत्पादक नही होता। यदि धर्मशास्त्रानुसार कथन आदि से धर्म का नाश माना जाएगा, तो उस स्थिति मे भोग के बिना कर्म का नाश नहीं होता' इत्यादि

१. भगवद्गीता ४.३७

प्रतिपादक श्रुतियों मे कर्म का तात्पर्य उन कर्मों से लेना होगा, जिनका कि कथन नहीं किया गया है, अथवा जिनके लिए प्रायश्चित आदि नही किया गया है।

अधर्म

धर्म के समान अधर्म भी आत्मा का गुण है, इसकी उत्पत्ति वेद विरोधी कर्मों अर्थात् हिंसा आदि के द्वारा होती है। धर्म के समान अधर्म का नाश भी मुख्य रूप से भोग के द्वारा ही होता है; साथ ही धर्म के समान ही प्रायश्चित तथा स्वमुख से कथन आदि के द्वारा भी अधर्म का नाश हो जाता है।

प्रायश्चित आदि द्वारा अधर्म के नाश के प्रसङ्ग मे तीन मत प्रचलित हैं, प्रायश्चित द्वारा कृत कर्म का नाश नही हुआ करता, किन्तु भविष्य में होने वाले अधर्म की निवृत्ति हो जाती है, फलत. उस प्रकार के एक ही अधर्म के होने के कारण उससे उत्पन्न दु खलेश की ही अनुभूति होती है, महादु:ख की नही, प्रायश्चित के अभाव मे एक अधर्म के अनन्तर अधर्म की परम्परा ही प्रारम्भ हो जाती है, जिसके फलस्वरूप दु ख की परम्परा रूप महा दु:ख की प्राप्ति होती है, इस प्रकार प्रायश्चित से कृत अधर्म का नहीं, अपितु भविष्य मे किये जानेवाले अधर्म का नाश होता है।[1]

दूसरे मत अनुसार पातक दो प्रकार का है: उपपातक और महापातक। *धर्म के उत्पन्नफल का प्रतिबन्धक पाप* उपपातक *कहा जाता है, तथा धर्म की* उत्पत्ति मे प्रतिबन्धक पाप महापातक कहाता है। प्रायश्चित द्वारा उपपातक का नाश होने से धर्मफल का भोग, तथा महापातक के नाश द्वारा धर्म के प्रतिबन्धक के प्रतिबन्ध से धर्म की परम्परा प्रारम्भ हो जाती है।[2]

तीसरे मत के अनुसार दु:ख का प्रागभाव पूर्व से विद्यमान है, अधर्म द्वारा दु.ख के कारण भूत प्रत्यवाय की उत्पत्ति होती है। प्रायश्चित द्वारा दु:ख के कारणभूत प्रत्यवाय का विघटन करके दु ख प्रागभाव का ही पालन किया जाता है।[3]

---

१. कणादरहस्यम् पृ० १४३ २. वही पृ० १४३ ३. वही १४२.

पूर्व पृष्ठों में कहा जा चुका है कि 'सुख की उत्पत्ति धर्म से एवं दुःख की उत्पत्ति अधर्म से होती है', आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार उसकी प्रक्रिया निम्नलिखित है : ज्ञान रहित व्यक्ति 'मैं ही कर्ता और भोक्ता हूँ' इस अहकार के कारण दु ख के साधनो को भी सुख का साधन मानता हुआ उन साधनों के प्रति राग करता हुआ उसके उपरोधक साधनो के प्रति द्वेष करता है। प्रवर्त्तक धर्म के कारण 'मैं इस से भी अधिक श्रेष्ठ होऊँ' इस अभिलाषा से अधिकाधिक धर्म करता है, इस प्रकार अधिक धर्म और थोड़े अधर्म के योग से मनुष्यलोक मे जन्म लेता है और अपने कर्मों के अनुसार शरीर और इन्द्रियो को प्राप्तकर उनके द्वारा विषय सुखो का भोग करता है, तथा थोड़े अधर्म के कारण उस सुख के बीच भूख प्यास आदि आशिकदु खो को भी भोगता है। इसी प्रकार अधिक अधर्म और थोडा धर्म होने पर मृत के अनन्त कर्मों के अनुसार पशु पक्षी कीट पतङ्ग आदि योनियो को प्राप्त कर इन्द्रियो द्वारा विषय सम्बन्धी दु खो को प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रवृत्ति मूलक धर्म और अधर्म के द्वारा ही इसके मिश्रण के कारण देव मनुष्य और तिर्यक् योनियो मे घूमता हुआ सासारिक बन्धन का अनुभव करता है।[1]

ज्ञानी मनुष्य निष्काम भावना से कर्म करके उनके फल के रूप मे विशुद्ध कुलो मे जन्म लेता है, वहा उसे दु ख नाश के उपायो के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है, जिसके फलस्वरूप वह उत्तम गुरुओ के पास पहुचकर न्याय आदि शास्त्रो के अध्ययन से तत्वज्ञान प्राप्त कर अज्ञान की निवृत्ति के कारण अज्ञानजन्य धर्माधर्म के संचय से भी बच जाता है, तथा पूर्व सचित धर्माधर्म का भोग समाप्त होने पर कर्मक्षय के कारण शरीर आदि से भी रहित होकर केवल निवृत्ति विषय धर्म के द्वारा मोक्ष सुख का अनुभव करता है।[2]

इस प्रकार स्वयं मे विद्यमान अज्ञानजन्य धर्म और अधर्म गुणो के कारण वह आत्मा जन्म मरण के दु ख का अनुभव करता है, तथा तत्वज्ञान से उत्पन्न धर्म के द्वारा उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

---

१. प्रशस्त पाद भाष्य पृ १४३   २. वही पृ० १४३ १४४

संस्कार

न्याय-शास्त्र में स्वीकृत गुणों मे चौबीसवां गुण संस्कार है। संस्कार की परिभाषा संस्कारत्व जाति के आधार पर ही की जाती है, अर्थात् संस्कारत्व जातिवान् को संस्कार कहते हैं। यह तीन प्रकार का है—**वेग भावना और स्थितिस्थापक।**

वेग - यह केवल मूर्त्त द्रव्यो मे अर्थात् पृथ्वी जल अग्नि वायु और मन मे ही रहता है। यह दो प्रकार का है **कर्मजन्य और वेगजन्य।** इच्छा आदि से उत्पन्न शरीर के कर्म से बाण मे भी कर्म उत्पन्न होता है और बाणगत उस कर्म से बाण मे वेग आरम्भ होता है, यह वेग **कर्मजन्य** है। कभी-कभी कारणगत वेग से कार्य में भी वेग उत्पन्न होता है। वह **वेगजन्य** वेग है। कुछ विद्वानो का विचार है कि वेग से साक्षात वेग की उत्पत्ति नही होती, अपितु वेगयुक्त द्रव्य के सयोग से अन्य सयुक्त द्रव्य मे कर्म उत्पन्न होता है, तथा उस कर्म से पुन वेग की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार वेग सदा ही **कर्मजन्य है,** और इसी लिए केवल एक प्रकार का है।

चू कि वैशेषिको के अनुसार वेग का नाश स्पर्श युक्त अन्य द्रव्य के सयोग से हो जाता है[1] अत वेगयुक्त दो कारणों मे सयोग होने पर कारणगत वेग का नाश हो जाएगा फलस्वरूप कारण मे वेग का अभाव होने से कार्य मे उत्पन्न वेग को कारण से उत्पन्न नही माना जा सकता। ऐसे स्थलों पर दो वेग युक्त कारणो का सयोग होने पर प्रथम क्षण में कारणो का सयोग, द्वितीय क्षण मे कार्य की उत्पत्ति तृतीय क्षण मे कारणगत वेग से कार्य में कर्म कारण मे विद्यमान वेग का नाश तथा कार्य मे रूप आदि गुणो के साथ वेग गुण की भी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार कार्यगत वेग भी कर्मजन्य ही है, वेगजन्य नही। यदि यहा कार्यगत वेग का कारण कर्म वेगजन्य है, इस आधार पर कार्य वेग को भी लक्षणा से वेगजन्य कहना चाहे, तो कोई आपत्ति नहीं है।

यदि विभागज कार्य मे उत्पन्न वेग को वेगज कहना चाहें, क्योकि वहाँ स्पर्शयुक्त द्रव्यसयोग जैसा वेग नाशक कोई पदार्थ विद्यमान प्रतीत नहीं होता, तो वह भी उचित न होगा, क्योकि वहां भी वेग युक्त द्रव्य के विनाश

---

१ प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १३६

का कारण स्पर्श युक्त द्रव्य का संयोग वेग नाश के कारण के रूप में अवश्य ही विद्यमान होगा। उदारणार्थं आकाश में अत्यन्त वेग से उड़ता हुआ विमान स्वय अपने ही वेग के कारण खण्डित नही होता अपितु वेग युक्त प्रतिकूल वायु के सयोग के द्वारा ही खंण्डित होता है, उसस्थिति में विमान के अवयवो में विभाग का कारण स्पर्श युक्त वायु का संयोग ही है जो कि वैशेषिको के अनुसार उसके वेग का भी नाशक होगा। फलतः विमान-रूपी कारण के विभाग से उत्पन्न विमानखण्डरूपी कार्य में वेग पूर्व प्रक्रिया के अनुसार कर्मज ही है, वेगज नहीं। इस प्रकार वेग को केवल एक प्रकार का अर्थात् कर्म जन्य ही कहा जाय, तो अधिक उचित होगा।

भावना :—देखे अथवा सुने हुए अनुभूत पदार्थ के सम्बन्ध में स्मृति और प्रत्यभिज्ञा (पहचान) का हेतु आत्मा मे विद्यमान विशेष गुण भावना है। इसका विनाश ज्ञान मद दुःख आदि के द्वारा होता है। भावना के कारण के सम्बन्ध मे प्राचीन और नवीन नैयायिको मे मत भेद है। प्राचीन नैयायिक विविध विषयो की स्मृति और संस्कार के लिए अनुभव को कारण मानते हैं,[1] ज्ञान को नहीं। उनका कहना है कि जब व्याप्यधर्म कारण हो रहा हो तो व्यापकधर्म कारण न होकर अन्यथासिद्ध कहा जाता है। प्रस्तुत प्रसग में संस्कार का नियत पूर्ववर्त्ती होने से अनुभव, जो कि ज्ञान का व्याप्य है, कारण हो रहा है, अतः व्यापकधर्म ज्ञान के नियत पूर्ववर्त्ती होने पर भी उसे अन्यथासिद्ध कह जाएगा, कारण नही। नव्य नैयायिकों का विचार है कि सस्कार के प्रति ज्ञान सामान्य कारण है, अनुभव नही। जहा अनुभव सकार का नियत पूर्ववर्त्ती प्रतीत हो रहा है वहा भी वह ज्ञान के रूप मे (ज्ञान के एक प्रकार के रूप मे) संस्कार का कारण है, अनुभव के रूप मे नही। अनुभव को ही सस्कार का कारण मानने पर अनुभव से उत्पन्न संस्कार द्वारा स्मरण उत्पन्न होने पर अपने कार्य द्वारा सस्कार का नाश होने के बाद एकबार अनुभूत विषय का एक बार ही स्मरण हो सकेगा, बार बार नही। जब कि हम देखते हैं कि एकबार अनुभव किये हुए पदार्थों का हमे बार बार स्मरण होता है। ज्ञान को संस्कार का कारण मानने पर ज्ञान के रूप में प्रथम अनुभव से संस्कार की उत्पत्ति, उससे स्मरण की उत्पत्ति; स्मृतिरूप ज्ञान से

१. तर्कसंग्रह पृ० १६१

पुनः सस्कार और उससे स्मृति की उत्पत्ति होती रहेगी। इस प्रकार सर्वानुभूत अनेकधा स्मरण मे कोई विरोध न होगा।[1]

आत्मा में विद्यमान रहने वाले अन्य गुणों की अपेक्षा यह भावना नामक सस्कार स्थिरतर है, और इसीलिए दूसरी सृष्टि अथवा दूसरे जन्म में भी स्थिर रहता है, तथा सदृश अदृष्ट तथा चिन्ता आदि के द्वारा उद्बुद्ध होकर प्रत्यभिज्ञा को उत्पन्न करता है।[2]

पूर्व पृष्ठो मे कहा गया है कि सस्कार से स्मृति और प्रत्यभिज्ञा दोनो की उत्पत्ति होती है, इस पर आपत्ति करते हुए कुछ विद्वानो का कहना है कि संस्कार से केवल स्मृति की उत्पत्ति माननी चाहिए, प्रत्यभिज्ञा की नहीं; क्योंकि दोनो को ही संस्कार से उत्पन्न मानने पर उनका परस्पर भेदक लक्षण न बन सकेगा। किन्तु यह आशका उचित नही है; क्योकि स्मृति की उत्पत्ति केवल सस्कार से होती है, जबकि प्रत्यभिज्ञा मे स्मृति और प्रत्यक्ष दोनों का होना अनिवार्य रहता है। इस प्रकार यह भावना नामक सस्कार स्मृति और प्रत्यभिज्ञा दोनो का ही कारण है, केवल स्मृति का नही।

स्थितिस्थापक संस्कार : यह स्पर्शयुक्त द्रव्यों मे विद्यमान रहता है, इस सस्कार से युक्त द्रव्य को यदि किसी अन्य प्रकार से कर दिया जाये, तो यह उस द्रव्य को पुन पूर्व अवस्था में पहुँचा देता है।[3] इस सस्कार का अन्य गुणो की भांति प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु अनुमान करना होता है। बलपूर्वक झुकाया हुआ धनुष पुन उसी अवस्था में पहुच जाता है, झुकाई हुई शाखा पुनः उसी स्थिति मे पहुच जाती है, इसे देखकर कारण के रूप मे उसमे विद्यमान स्थिति-स्थापक (संस्कार) गुण का अनुमान किया जाता है। यह परमाणुओ में नित्य तथा कार्य द्रव्यों मे कारण गुणपूर्वक अनित्य रहता है।

इस प्रकार सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि न्यायशास्त्र में रूप रस गन्ध स्पर्श सख्या परिणाम पृथक्त्व सयोग विभाग परत्व अपरत्व गुरुत्व द्रवत्व स्नेह शब्द बुद्धि सुख दु.ख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म और सस्कार चौबीस गुण स्वीकार किये जाते है। वैशेषिको के अनुसार गुणो का वर्गीकरण सामान्य

---

१. तर्ककिरणावली पृ० १६२

२ (क) कणादरहस्यम् पृ० १३३ (ख) न्यायसूत्र ३. १. १६

३. तर्क संग्रह पृ० १६१

और विशेषगुणों के रूप में किया जाता है। इस वर्गीकरण के अनुसार रूप रस गन्ध स्पर्श स्नेह सासिद्धिक द्रवत्व बुद्धि सुख दुख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म शब्द और भावना विशेषगुण अथवा वैशेषिक गुण तथा शेष सामान्य गुण कहे जाते हैं।[१]

इन चौबीस गुणों मे रूप रस गन्ध स्पर्श परत्व अपरत्व द्रवत्व स्नेह और वेगनामक सस्कार केवल मूर्त्त द्रव्यो मे रहते हैं, तथा बुद्धि सुख दुख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म शब्द और भावनानामक सस्कार केवल अमूर्त्त द्रव्यो में आश्रित रहते रहते हैं। सख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग और विभाग मूर्त्त और अमूर्त्त दोनो ही प्रकार के द्रव्यो में रहते है।[२]

सयोग विभाग द्वित्व आदि सख्या, तथा द्वि पृथक्त्व आदि अनेक द्रव्यो मे आश्रित तथा शेष एक द्रव्य मे आश्रित गुण है।[३]

रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द एक इन्द्रियों से गृहीत होते है, एव इनका ग्रहण केवल बाह्य इन्द्रियो से होता है, तथा सख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग परत्व द्रवत्व और स्नेह का ग्रहण दो दो इन्द्रियो से होता है, एवं गुरुत्व धर्म अधर्म और भावना नामक सस्कार अतीन्द्रिय हैं।[४]

विभु द्रव्यो मे विद्यमान गुण कारणगुण पूर्वक नही होते। क्योंकि इन गुणो के आश्रय द्रव्य इनके कारण नही माने जाते। अपाकज रूप रस गन्ध स्पर्श सांसिद्धिक द्रवत्व स्नेह गुरुत्व पृथक्त्व परिमाण तथा वेग और स्थितिस्थापक-सस्कार कार्यों मे कारण गुणो के समान ही होते हैं। सयोग विभाग और वेग की उत्पत्ति कर्म से होती है।

रूप रस गन्ध स्पर्श परिमाण एक पृथक्त्व स्नेह और शब्द अन्य गुणो की उत्पत्ति मे असमवायिकारण हुआ करते हैं। वैशेषिक गुण बुद्धि आदि के प्रति आत्मा को निमित्त कारण माना जाता है। उष्णस्पर्श गुरुत्व द्रवत्व सयोग विभाग तथा वेगनामक सस्कार किन्ही गुणो के प्रति असमवायिकारण होते है, और किन्ही के प्रति निमित्त कारण भी।

---

१. भाषापरिच्छेद ९०-९१ | २ वही ८६-८८
३ वही ८९-९० | ४. वही ९२-९४
५. वही ९४-९६ | ६ वही ९७-९९

उपसंहार

द्रव्य और गुण के अतिरिक्त न्याय शास्त्र मे कर्म सामान्य (जाति) विशेष समवाय और अभाव नाम से कुल सात पदार्थ स्वीकार किये थे, जिनका विवेचन पदार्थ विमर्श मे किया जा चुका है। कणाद ने इनमे से केवल छ पदार्थों का ही परिगणन किया था, अभाव नामक पदार्थ उत्तरकाल मे जोड दिया गया है।

गौतम ने न्यायशास्त्र में प्रमाण प्रमेय सशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्त अवयव तर्क निर्णय वाद जल्प वितण्डा हेत्वाभास छल जाति और निग्रहस्थान नाम से सोलह पदार्थों को स्वीकार किया था,[1] किन्तु नव्यन्याय का उदय होने पर वैशेषिक के छः पदार्थों मे अभाव की वृद्धि कर गौतम स्वीकृत सोलह पदार्थों का अन्तर्भाव उनमे ही मान लिया गया। गौतम ने प्रत्यक्ष *अनुमान उपमान और आगम चार प्रमाण माने थे,*[2] *उत्तरकाल मे न्याय*शास्त्र मे उन चारो को ही अविकल स्वीकार कर लिया गया। गौतम के अनुसार आत्मा शरीर इन्द्रिय अर्थ बुद्धि मनस् प्रवृत्ति दोष प्रेत्यभाव फल दुख और अपवर्ग ये बारह प्रमेय है।[3] उत्तर कालीन न्याय मे आत्मा और मनस् को इन्ही नाम से द्रव्य माना गया है। शरीर और इन्द्रिय भौतिक होने से पृथिवी आदि पाच भूतो मे अन्तर्भूत हो जाती है। गौतम के अनुसार गन्ध रस रूप स्पर्श शब्द ये पाचो अर्थ पृथिवी आदि के गुण ही है, स्वतन्त्र नही।[4] बुद्धि प्रवृत्ति (धर्म और अधर्म) गुण कहे जाते है। दोषों मे राग इच्छा नामक गुण है, द्वेष गुणों मे ही अन्यतम है। शरीर आदि मे आत्मत्व भ्रम रूप मोह अज्ञान होने से बुद्धि का ही एक प्रकार है। प्रेत्यभाव मरण रूप होने से ध्वसाभाव है, और जन्म शरीर और आत्मा का सयोग होने से गुण माना जा सकता है। सुख दुःख भोगात्मक फल ज्ञान का एक प्रकार होने से बुद्धि का ही एक प्रकार है। अपवर्ग अर्थात् मोक्ष चूकि आत्यन्तिक दुख-अभाव रूप है, अत वह ध्वसाभाव से भिन्न नही है। संशय ज्ञान का प्रकार होने से बुद्धि का भेद है। प्रयोजन सुखप्राप्ति सम्बन्ध होने से सयोग गुण तथा दुःखहानि ध्वस होने से अभाव का प्रकार है।

---

१. न्याय सूत्र १. १ १ २. वही १. १. ३
३ वही १. १. ६ ४. वही १.१-१४

दृष्टान्त न्यायाङ्ग होने से ज्ञान का प्रकार है, सिद्धान्त निश्चय रूप होने से प्रमाण का फल है, अवयव तर्क और निर्णय स्पष्टत ज्ञान के ही प्रकार हैं। तत्वज्ञान के लिए कथा वाद, पक्ष विपक्ष दोनो को सिद्ध करने वाली विजय कामना से की जाने वाली कथा जल्प, अपने पक्ष की स्थापना के बिना ही परपक्ष के खण्डन मात्र मे प्रवृत्त कथा वितण्डा कथा रूप है, तथा कथा पूर्व और उत्तर पक्ष प्रतिपादक वाक्य सन्दर्भ मात्र होने से शब्द गुण है स्वतन्त्र पदार्थ नहीं। अनुमिति अथवा उसके करण परामर्श मे प्रतिबन्धक हेत्वाभास भी स्वतन्त्र पदार्थ नही है, तथा अनुमान के अग हेतु के यथार्थ ज्ञान रूप होने से असद् हेतु रूप हेत्वाभास का अयथार्थ ज्ञान में अन्तर्भाव होना चाहिए। छल चूंकि शब्दात्मक है, तथा साधर्म्य वैधर्म्य आदि जातिया भी असद् उत्तर होने से शब्दात्मक ही है, अत उनका भी अन्तर्भाव गुण मे होगा। निग्रह स्थानों मे प्रतिज्ञाहानि अननुभाषण अज्ञान अप्रतिभा विक्षेप तथा पर्यनुयोज्योपेक्षण का अभाव मे तथा शेष का गुणो मे अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार न्याय दर्शन स्वीकृत सोलह पदार्थों का अन्तर्भाव इन सात मे ही हो जाता है।

मीमांसक शक्ति नामक एक स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं, नैयायिकों के अनुसार उसका अन्तर्भाव भी अभाव मे हो जाता है, इसे हम पदार्थ विमर्श मे स्पष्ट कर चुके है।[1] इस प्रकार हम कह सकते है कि सभी पदार्थों का अन्तर्भाव केवल सात पदार्थों मे ही हो जाता है, अत नैयायिको के अनुसार पदार्थ सात ही है।

---

१ इसी पुस्तक के पृ० १८-१९ द्रष्टव्य हैं ·

परिशिष्ट १

पाद टिप्पणी में संकेतित ग्रन्थों का अपेक्षित मूल पाठ

भूमिका

पृष्ठ १०

१. (क) कणादेन तु सम्प्रोक्त शास्त्र वैशेषिक महत्
गौतमेन तथा न्याय, साङ्ख्य तु कपिलेन वै ।

पद्मपुराण उत्तर खण्ड २६३

(ख) गौतम स्वेन तर्केण खण्डयन्स्तत्र तत्र हि ।

स्कन्दकलिका खण्ड अ० १६

(ग) गौतमप्रोक्तशास्त्रार्थनिरता सर्व एव हि ।

गान्धर्व तन्त्र-प्राणतोषिणी तन्त्र मे उद्धृत

(घ) मुक्तये य शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्
गौतम तमवेतैव यथा वित्थ तथैव स. ।

नैषधीय चरितम् १७ ७५

(ङ) एषा मुनिप्रवरगोतमसूत्रवृत्ति· श्री विश्वनाथकृतिना सुगमाल्पवृत्ति· ।

न्यायसूत्र वृत्ति पृ० १८५

पृष्ठ ११

१ (क) योक्षपादमृषि न्याय प्रत्यभाद्वदता वरम् ।
तस्य वात्स्यायन इद भाष्यजातमवर्त्तयत् ।

न्याय भाष्य पृ० २५८

(ख) यदक्षपाद प्रवरो मुनीना शमाय शास्त्र जगतो जगाद ।
कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतो: करिष्यते तस्य मया निबन्ध: ।

न्यायवार्तिक

(ग) अथ भगवता अक्षपादेन नि:श्रेयसहेतौ शास्त्रे प्रणीते ।

न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका:

(च) अक्षपाद प्रणीतो हि विततो न्यायपादपः।
सान्द्रामृतरसस्यन्दफलसन्दर्भनिर्भरः।

न्याय मञ्जरी पृ० १

२. भो. काश्यपगोत्रोस्मि। साङ्गोपाङ्ग वेदमधीये, मानवीय धर्मशास्त्रं, माहेश्वर योगशास्त्र, बार्हस्पत्यमर्थशास्त्र, मेधातिथेर्न्यायशास्त्र, प्राचेतस श्राद्धकल्प च। प्रतिमानाटक पृ० ७९

3. Medhatithi Gotama is more or less a mythical person, and there is no proof that he ever wrote anything.

Vātsyāyana himself refers to Akshapāda as the person to whom Nyaya (the science of logic) revealed itself Udyotkara also refers to Akshapāda as the utterer of Nyaya Shastra and so also does Vāchaspati There is therefore absolutely no reason the why original authorship of Nyaya should be attributed to Gotama as against Akshapāda

The Nyaya Shastra, therefore, can not be traced on the evidence of the earliest Nyaya authorities to any earlier Gotama, for had this been so, it would certainly have been mentioned by either Vātsyāyna, Udyotkara or Vāchaspati.

History of Indian Philosophy Vol I pp. 393-94

४. तदाह सभविष्याभि सोमशर्मा द्विजोत्तम.।
प्रभासतीर्थमासाद्य योगात्मा लोकविश्रुत।
तत्रापि मम ते पुत्रा भविष्यन्ति तपोधना.।
अक्षपाद कणादश्च उलूकी वत्स एव च।

ब्रह्माण्ड पुराण अ० २३

५. मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थितः।
विमृश्य तेन कालेन पत्न्या. संस्थाव्यतिक्रमम्।

महाभारत शान्तिपर्व २६५० ४५

पृष्ठ १४

२. नित्यमेव च भावात्, रूपादिमत्वाच्च विपर्ययादर्शनात्।

वेदान्तसूत्र २.२.१४-१५

४. न प्रवृत्ति: प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य । न्यायसूत्र ४.१.६४

५. (क) क्षीर विनाशे कारणानुपलब्धिवद्दध्युत्पत्तिः । न्यायसूत्र ३.२.१५
(ख) उपसंहार दर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि । वेदान्तसूत्र २.१.२४

६. वाक्य विभागस्य चार्थग्रहणात् । विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् । विधिः विधायक । स्तुति निन्दा परकृति पुराकल्प इत्यर्थवादः । विधिविहितस्यानुवचनमनुवाद । नानुवादपुनरुक्तयो विशेष शब्दाभ्यासोपपत्ते । शीघ्रतर गमनोपदेशवदभ्यासान्नाविशेष. ।
न्यायसूत्र २ १ ६१-६७

पृष्ठ २०

१. दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये सचक्षते : जिज्ञासा सशय शक्यप्राप्ति प्रयोजन सशयव्युदास. इति ।
न्यायभाष्य पृ० २६

पृष्ठ २१

१ वात्स्यायनो मल्लनाग, कौटिल्यश्चणकात्मज. ।
द्रामिल पक्षिलस्वामी, विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च स ।
अभिधान चिन्तामणि ।

पृष्ठ २२

१. न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपा वासदत्तां ददर्श । वासवदत्ता ।

पृष्ठ ३०

१. योगाचारविभूत्या यस्तोषयित्वा महेश्वरम् ।
चक्रे वैशेषिक शास्त्र तस्मै कणभुजे नम ।
प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १७५

पृष्ठ ३१

१ (क) अस्त्यन्यदपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवाया. प्रमेयम् ।
न्यायभाष्य पृ० १७

(ख) यद्यवयवी नास्ति सर्वस्य ग्रहणं नोपपद्यते । किंतत्सर्वम् ? द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवाया. । वही पृ० ६७

पृष्ठ १

१. सम्यग्दर्शनसम्पन्न कर्मभिर्न निबध्यते
दर्शनेन विहीनस्तु ससार प्रतिपद्यते। मनुस्मृति ६.७४

पृष्ठ ३

१ कपिलस्य कणादस्य गौतमस्य पतञ्जले.
व्यासस्य जैमिनेश्चापि शास्त्राण्याहु षडेव हि।
सर्वदर्शन सग्रह उपोद्घात पृ० १

२ वाच्या सा सर्वशब्दाना शब्दाच्च न पृथक्तत
अपृथक्त्वेऽपि सबन्धस्तयोर्जीवात्मनोरिव। वही पृ० ११६

पृष्ठ १०

१ (क) शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्। सुश्रुत सहिता।
(ख) इति धन शरीर भोगान्मत्वाऽनित्यान्सदैव यतनीयम्
मुक्तौ, सा च ज्ञानात्तच्चाभ्यासात्स च स्थिरे देहे।
गोविन्दपाद कारिका

२. ससारस्य पर पार दत्तेऽसौ पारद स्मृत
पारदो गदितो यस्मात् परार्थं साधकोत्तमै। गोविन्दपाद कारिका

पृ० १२

२ अभिमानोऽहकार तस्माद् द्विविधः प्रवर्त्तते सर्गः।
एकादशकश्च गण तन्मात्र. पञ्चकश्चैव।
उभयात्मकमत्र मन. सकल्पकमिन्द्रिय च साधर्म्यात्।
साख्यकारिका २४, २७

पृ० १४

१. द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाना पदार्थाना साधर्म्य
वैधर्म्याभ्या तत्वज्ञानान्नि श्रेयसम्। वैशेषिक सूत्र १. १. ४.

पृष्ठ १५

१. अभिधेयत्व पदार्थसामान्यलक्षणम् । तर्कदीपिका पृ० ८
२. ज्ञेयत्व प्रमितिविषयत्व हि पदार्थत्वम् । सिद्धान्त चन्द्रिका

पृष्ठ १६

१ नव्यास्तु सादृश्यमतिरिक्तमेव । नचातिरिक्तत्वे पदार्थविभाग-
व्याघात इति वाच्यम्, तस्य साक्षात् परम्परया वा तत्वज्ञानोपयोगि-
पदार्थमात्रनिरूपणपरत्वात् ।
न्याय मुक्तावली दिनकरी पृ० ६२-६३ ।
२ द्रव्यत्वजातिमत्व द्रव्यत्वम् । तर्क दीपिका पृ० १२
३ द्रव्यवृत्ति र्या समवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारण-
तात्वात्, दण्डवृति कारणतावत् । सिद्धान्त चन्द्रिका ५
४. गुणवत्व वा द्रव्यसामान्यलक्षणम् । तर्क दीपिका पृ० १२

पृष्ठ २०

१ दूषणत्रयरहितोधर्म· लक्षणम् । तर्क दीपिका पृ० १४
२. लक्ष्यतावच्छेदकसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् ।
तर्क किरणावली पृ० १३.
३. अतिव्याप्तिः लक्ष्यतावच्छेदक सामानाधिकरण्ये सति लक्ष्यतावच्छेदका-
वच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदसामानाधिकरण्यम् ।—वही पृ० १४
४ असम्भवो नाम— लक्ष्यतावच्छेदकव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वम् ।
वही पृ० १४
५. स एवासाधारणो धर्म इत्युच्यते व्यावर्त्तकस्यैव लक्षणत्वे
धर्मविशेषण देयम् । तर्क दीपिका पृ० १४-१६
६. आद्ये क्षणे द्रव्य निगुण निष्क्रिय च तिष्ठति । तर्क किरणावली पृ० १३
७. गुणसमानाधिकरणसत्ताभिन्नद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्व द्रव्य-
लक्षणम् । तर्क दीपिका पृ० १७

पृष्ठ २१

१. तमो हि न रूपवद् आलोकासहकृतचक्षुर्ग्राह्यत्वाभावात् ।···रूपिद्रव्य
चाक्षुषप्रमाया आलोकस्य कारणत्वात् । तस्मात्प्रौढप्रकाशक तेज.
सामान्याभावस्तम. । तर्क पृ० दीपिका ११. १२

पृष्ठ २२

१. गुणाश्च रूप रस गन्ध स्पर्श संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग परत्वापरत्व बुद्धि सुख दुखेच्छा द्वेष प्रयत्नाश्चेति कण्ठोक्ताः सप्तदश । च शब्दसमुचिताश्च गुरुत्वद्रत्वत्वस्नेहसस्कारादृष्टशब्दा. सप्तैवेत्येव चतुर्विशतिर्गुणा· । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ४-३

२. द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवान्गुण । गुणत्वजातिमान्वा· ।
तर्क दीपिका पृ० १८

पृष्ठ २३

१. (क) द्रव्याश्रितत्व न लक्षण कर्मादावतिव्याप्ते ।
न्यायमुक्तावली पृ० ४३६

(ख) आदिना सामान्यपरिग्रह । दिनकरी पृ० ४३६

२ द्रव्याश्रय्यगुणवान् सयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति गुण लक्षणम् ।
वैशेषिक सूत्र १.१.१६

पृष्ठ २४

१ चकारेण गुरुत्व द्रवत्व स्नेह सस्कार धर्माधर्मशब्दान् समुच्चिनोति । ते हि प्रसिद्ध गुणभावा एवेति कण्ठतो नोक्ता ।
वैशेषिक उपस्कार १.१ ६

पृ० २५

१ स्पर्शादयोऽष्टौ वेगोख्य सस्कारो मरुतो गुणा ।
कारिकावली ३०

२ अष्टौ स्पर्शादयो रूप द्रवो वेगश्च तेजसि । वही ३० ,,

३ स्पर्शादयोष्टौ वेगश्च गुरुत्व च द्रवत्वकम्
रूप रसस्तथा स्नेहो वारिण्येते चतुर्दश । वही ३१

४ स्नेहहीना गन्धयुता क्षितावेते चतुर्दश । वही ३२

५ बुद्ध्यादिषट्क सख्यादिपञ्चक भावना तथा ।
धर्माधर्मौ गुणा एते आत्मन स्यु· चतुर्दश । कारिकावली ३३

६ साख्यादिपचक कालदिशो· । वही ३३

७ शब्दश्च ते च खे । वही ३३

८. संख्यादय· पञ्च बुद्धिरिच्छायत्नोपि चेश्वरे । वही ३३४

९. परापरत्वे सख्याद्या· पञ्च वेगश्च मानसे । वही ३४

१० संख्यादिरपरत्वान्तो द्रवोऽसांसिद्धिकस्तथा ।
गुरुत्ववेगौ सामान्यगुणा एते प्रकीत्तिताः । वही ९१-९२

पृष्ठ २६

१ बुद्धयादिषट्क स्पर्शान्ता स्नेह सासिद्धिको द्रव. ।
अदृष्टभावनाशब्दा अमी वैशेषिका. गुणा. । वही ९०-९१

२. सख्यादिरपरत्वान्तो द्रवत्व स्नेह एव च ।
एते तु द्वीन्द्रियग्राह्या, अथ स्पर्शान्तशब्दका ।
बाह्यकैकेन्द्रिय ग्राह्या, गुरुत्वादृष्टभावना· । वही ९३-९४।

३. उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चन प्रसारण गमनमिति कर्माणि।
वैशेषिक सूत्र १.१७

४ न चोत्क्षेपणादीना गमनेऽन्तर्भावोऽस्त्विति शकनीय, स्वतन्त्रेच्छस्य नियोगपर्यनुयोगानर्हस्य ऋषे सम्मतत्वात् ।
तर्कदीपिकाप्रकाश नीलकण्ठकृत ।

५ एकद्रव्यमगुण सयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्म लक्षणम् ।
वैशेषिक सूत्र ११७

६ सयोगासमवायिकारण कर्म । तर्क दीपिका पृ० १९

पृष्ठ २७

१ नित्यावृत्ति सत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिमत्वम् कर्मत्वम् । चलतीति प्रत्ययासाधारणकारणतावच्छेदकजातिमत्व वा गुणान्यनिर्गुण-मात्रवृत्ति जातिमत्व वा, स्वोत्पत्यव्यवहितोत्तरक्षणवृत्ति विभाग-कारणतावच्छेदकजातिमत्व वा । उपस्कार भाष्य पृ० २४

२ सामान्यमनुवृत्ति प्रत्ययकारणम् । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ४

३. नित्यमनेकानुगतं सामान्यम् । तर्क सग्रह पृ० २०

पृष्ठ २८

१. सामान्य विशेष इतिबुद्धयपेक्षम् । वैशेषिकदर्शन १.२.७.

२. साक्षात्सम्बद्धमखण्डसामान्य जाति, परम्परया सम्बद्ध सखण्डसामान्य उपाधिः । तर्क किरणावली पृ० २२

पृष्ठ २६

१. व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्व संकरोऽथानवस्थिति
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधक संग्रहः ।

द्रव्य किरणावली

२, व्यक्तेरभेद एकव्यक्तिकत्वमाकाशादेर्जातिमत्वे बाधकम् ।

दिनकरी पृष्ठ ७७

३ तुल्यत्वं तुल्यव्यक्ति वृत्तित्व घटत्वकलशत्वादीना भेदे । वस्तुतस्तु तुल्यत्व स्वभिन्नजातिसमनियतत्वमिति यावत् । तच्च जातिबाधकमेवेति ध्येयम् । वही पृ० ७७.

४ परस्परात्यन्ताभावसामानाधिकरणयोरेकत्र समावेश भूतत्वादेर्जातिमत्वे बाधक । वही पृ० ७८

५. अनवस्थातु जातेर्जातिमत्वे । वही पृ० ७८

पृष्ठ ३०

१. रूपहानि. सामान्यधर्मलक्षणव्याघातरूपा विशेषस्य जातिमत्वे । यद्वा रूपस्य स्वतो व्यावर्त्तत्वस्य हानि । वही ७८-७९

२. असम्बन्ध प्रतियोगितानुयोगितान्यतरसम्बन्धेन समवायाभाव समवायाभावयो जातिमत्वे बाधक । वही पृ० ७९-८०

३ जातिरहितत्वे सति नित्यद्रव्यमात्रवृत्ति एकमात्रशून्यत्वे सति सामान्यशून्य, अत्यन्तव्यावृत्तिहेतुर्वा विशेष ।

Nots on Tarka Samgraha P. 94

पृष्ठ ३१

१. घटादीना कपालसमवेतत्वादिक पटादिभेदकमस्ति, परमाणूनान्तु परस्पर भेदक न किञ्चिदस्त्यतोऽनायत्या विशेष आश्रयितव्य ।

सिद्धान्तचन्द्रिका ।

२. अथान्त्यविशेषेष्विव परमाणुषु कस्मान्न स्वत प्रत्ययव्यावृत्ति-प्रत्यभिज्ञान कल्प्यत इति चेन्न, तदात्म्यात् (विशेषस्यव्यावर्त्तक-रूपत्वात्) । इह तादात्म्यनिमितप्रत्ययो भवति, यथा घटादिषु प्रदीपात् न तु प्रदीपे प्रदीपात् । यथा च श्वमांसादीना स्वत एवाशुचित्व

तद्योगाच्चान्यैषान्तथेहापि तदात्म्यादन्त्यविशेषेषु स्वत एव प्रत्ययव्या-
वृत्ति.तद्योगाच्च परमाणु आदिषु। प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १६९-७०

३. इहेदमिति यत. कार्यकारणयो स समवाय: । वैशेषिकसूत्र ७ २. २६.

पृष्ठ ३२

१. द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणा कार्यकारणभूतानामकार्यकारणभूताना वाऽयुतसिद्धानामाधार्याधारभावेनावस्थितानामिहेदमिति बुद्धिर्यतो भवति ..स समवायाख्य सम्बन्ध ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १७।

पृष्ठ ३३

१ यथा ह्यणुभ्यामत्यन्तभिन्न सद् द्व्यणुक समवायलक्षणेन सम्बन्धेन ताभ्या सबध्यते, एव समवायोऽपि समवायिभ्योऽत्यन्तभिन्न: सन्समवायलक्षणेनान्येनैव सम्बन्धेन समवायिभि. सम्बध्येत अत्यन्तभेदसाम्यात् । ततश्च तस्य तस्यान्योन्य. सम्बन्ध: कल्पयितव्य: इत्यनवस्थैव प्रसज्येत । ननु --इह प्रत्ययग्राह्य समवायो नित्यसम्बन्ध एव समवायिभि गृह्यते नासम्बन्ध सम्बन्धान्तरो वा। ततश्च न तस्यान्य सम्बन्ध कल्पयितव्यो येनानवस्था प्रसज्येतेति-नेत्युच्यते— सयोगोप्येव सति सयोगिभिर्नित्यसंबद्ध एवेति समवायवन्नान्य सम्बन्धमपेक्षेत । अथार्थान्तरत्वात्संयोग सम्बन्धान्तरमपेक्षेत, समवायोऽपि तर्ह्यर्थान्तरत्वात्सम्बन्धान्तरमपेक्षेत ......समवायान्तरमभ्युपगच्छत प्रसज्येतैवानवस्था । शाकरभाष्य— २ २ १३ ।

२. न च गुणत्वात्सयोग: सम्बन्धान्तरमपेक्षते न समवायोऽगुणत्वादिति-युज्यते वक्तुम् अपेक्षाकारणस्य तुल्यत्वात् । गुणपरिभाषायाश्चातन्त्रत्वात् । तस्मात् अर्थान्तर समवायमभ्युपगच्छत· प्रसज्येतैवानवस्था ।
वेदान्तसूत्र शाकर भाष्य २.२.१३

पृष्ठ ३४

अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदत. ।
प्रागभावस्तथा ध्वसोप्यत्यन्ताभाव एव च ।
एवं त्रैविध्यमापन्न. ससर्गाभाव इष्यते ।। कारिकावली १२-१३

पृष्ठ २५

1. An अन्योन्याभाव may be resolved in to two संसर्गाभाव S. For instance घटः पटो नास्ति is a proposition offirming the mutual negation of घट and पट, and it may be split up in to two proposition घटे पटत्व नास्ति and पटे घटत्व नास्ति, both of which are examples of ससर्गाभाव. In अन्योन्याभाव the words expressive of the two things are always in the same case, i e the nominative; while in the other case one word is usually in the locative case as denoting the अधिकरण on which the nagtion rests.

Notes on Tarkasangraha, by Bodas P 100

२ अभावत्व द्रव्यादिषट्कान्योन्याभावत्वम् ।

न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पृ० ९२

३ एते च पदार्था प्रधानतयोद्दिष्टा अभावस्तु स्वरूपवान पिनोद्दिष्ट. प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वात्, न तु तुच्छत्वात् ।

—किरणावली

पृष्ठ ३७

१ रूपरसगन्धवती पृथिवी । वैशेषिक सूत्र २ १, १ ।

२ गन्धवती पृथिवी । तर्क सग्रह पृ० २६ ।

३ पृथिवीत्वाभिसम्बन्धात्पृथिवी । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १० ।

४ ननु सुरभ्यसुरभ्यवयवारब्धे द्रव्ये परस्परविरोधेन गन्धानुत्पादादव्याप्ति. । न च तत्र गन्धप्रतीत्यनुपपत्तिरिति वाच्यम् । अवयव गन्धस्यैव तत्र भानसंभवेन चित्रगन्धानङ्गीकारात् । किञ्च उत्पन्न-विनष्टघटादावव्याप्तिरितिचेन्न गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्य-परजातिमत्वस्य विवक्षितत्वात् ।

तर्कदीपिका पृ० २७-२८

पृष्ठ ३८

१ रूप रस-गन्ध स्पर्शसख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्व-द्रवत्वसंस्कारवती । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ११

२. स्पर्शादयोष्टौ वेगश्च गुरुत्वं च द्रवत्वकम् ।
रूप रसस्तथा गन्धः क्षितावेते चतुर्दश । कारिकावली ३१

३. (क) तत्पुन पृथिव्यादिकार्यद्रव्य त्रिविध शरीरेन्द्रियविषयसञ्ज्ञकम् ।
वैशेषिक सूत्र १७०

(ख) त्रिविध चास्याः कार्यम्, शरीरेन्द्रियविषयसञ्ज्ञकम् ।
प्रशस्तपाद पृ० १२ ।

पृष्ठ ३९

१. (क) आत्मनो भोगायतन शरीरम् । न्यायमञ्जरी ४५
(ख) ,, ,, ,, तर्कदीपिका पृ० २९

२ क्रियावत् अन्त्यावयवित्वम् (शरीरत्वम्) वैशेषिक उपस्कार ४.२१

३, अवयवजन्यत्वे सति, अवयव्यजनकत्वम् । M. R. Bodos

४ चेष्टेन्द्रियार्थश्रयः शरीरम् । न्यायदर्शन १.१ ११

५ तत्रायोनिजमनपेक्ष्य शुक्रशोणित देवर्षीणा शरीर धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्योजायते । क्षुद्रजन्तूनायात नाशरीराण्यधर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायन्ते । शुक्रशोणितसन्निपातज योनिज, तद्विविध—जरायुजमण्डज च । प्रशस्तपादभाष्य पृ० १३

६ शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमन सयोगाश्रयत्वमिन्द्रियत्वम् । उपस्कार भाष्य पृ० १२४

पृष्ठ ४०

१ (क) शरीरसयुक्त ज्ञानकारणमतीन्द्रियम्' । तत्वचिन्तामणि
(ख) 'स्मृत्यजनकमनः सयोगाश्रयत्वम् इन्द्रियत्वम् ।
उपस्कार भाष्य पृ० १२४

२ घ्राणस्य गोचरो गन्धो गन्धत्वादिरपि स्मृतः ।
तथा रसो रसज्ञायाः तथा शब्दोऽपि च स्मृते ।
उद्भूतरूप नयनस्य गोचरो द्रव्याणि तद्वन्ति पृथक्त्वसख्ये ।
विभागसयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्व परिमाणयुक्तम् ।
क्रिया जाति योग्यवृत्ति समवायं च तादृशम् ।
गृह्णाति चक्षुः सम्बन्धादालोकोद्भूतरूपयोः ॥

उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यं गोचरः सोऽपि च त्वचः ।
रूपान्यच्चक्षुषो योग्यं रूपमत्रापि कारणम् ।
कारिकावली—५३-५६ ।

३. (क) भोगोपयोगित्वं विषयत्वम् ।
(ख) उपभोगसाधनं विषयः । न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पृ० १६२

४ विषयो द्व्यणुकादिश्च ब्रह्माण्डान्त उदाहृतः । कारिकावली ३८

५. (क) शरीरेन्द्रिययोः विषयत्वेऽपि प्रकारान्तरेणोपन्यासः शिष्यबुद्धि-वैशद्यार्थ । न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पृ० १६४
(ख) वस्तुतस्तु शरीरादिकमपि विषय एव, भेदेन कीर्त्तनन्तु बालधी वैशद्याय । —सिद्धान्त चन्द्रिका ।

६ चेष्टावत्त्वमिन्द्रियत्वं च नोद्भिदा स्फुटतरम् अतो न शरीर व्यवहारः । वैशेषिक उपस्कार ४ २ ५

पृष्ठ ४१

१. विषयस्तु द्व्यणुकादि क्रमेणारब्धस्त्रिविधो मृत्पाषाणस्थावर लक्षणः । ……स्थावरास्तृणौषधिवृक्षलतावतानवनस्पतय इति ।
प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १३ ।

२ अयोनिजं स्वेदजोद्भिज्जादिकम्, उद्भिज्जास्तरुगुल्माद्या । ‥ न च वृक्षादे शरीरत्वे किं मानमितिवाच्यम् । अध्यात्मिकवायु-सम्बन्धस्य प्रमाणत्वात् तत्रैव किं मानमिति चेत् भग्नक्षतसंरोहणा-दिना तदुन्नयनात् । न्याय मुक्तावली पृ० १५७-१५६ ।

३ तेन पार्थिवादिशरीरे जलादीनां निमित्तत्वमात्रं बोध्यम् ।
—वही पृ० १५८

४. जलीयतैजसवायवीयशरीराणां पार्थिवभागोपष्टम्भात् उपभोग क्षमत्वम्, जलादीनां प्राधान्याज्जलीयत्वादिकम् इति ।
वही पृ० १८६ ।

५. पार्थिवाप्यादिशरीरेषु मध्ये पार्थिवं शरीरं द्विविधम् ।…योनिज-मयोनिजं च । आप्यतैजसवायवीयशरीराणां वरुणादित्यवायुलोकेषु प्रसिद्धानामयोनिजत्वमेव । उपस्कार भाष्य ४.२.५

६. (क) कृष्णताराधिष्ठानं चक्षुः बहिर्निसृतरूपग्रहणलिङ्गम्, नासाधिष्ठान घ्राणम्, जिह्वाधिष्ठान रसन, कर्णछिद्राधिष्ठान श्रोत्रम् ।

—न्यायदर्शन वात्स्यायन भाष्य पृ० १४२

(ख) चक्षुर्हि गत्वा गृह्णाति, त्वग्देहावच्छेदेन, श्रोत्र कर्णावच्छेदेन । न्यायदर्शन विश्वनाथवृत्ति ९२

(ग) चक्षुष तेज प्रसरणात्प्राप्यकारिता ।

—न्यायमजरी प्रमेयप्रकरण पृ० ५०

पृष्ठ ४२

१ विषय सरित् समुद्रादिः । तर्क सग्रह पृ० ३३

२ विषयश्चतुर्विध भौमदिव्यौदर्याकरजभेदात् ।
भौम वह्न्यादिकम्, अबिन्धन दिव्य विद्युतादिः,
भुक्तस्य परिणामहेतुरौदर्यमाकरज सुवर्णादि ।

वही ३४

३. सुवर्ण तैजस असति प्रतिबन्धकेऽत्यन्तानलसयोगे सत्यप्यनुच्छिद्यमान द्रवत्वात्, यन्नैव तन्नैव, यथा पृथिवीति । न्याय मुक्तावली पृ० १०६

४. तत्र कार्यलक्षणश्चतुर्विधः शरीरमिन्द्रियम्प्राण. विषयश्चेति ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० २७ ।

पृष्ठ ४३

१. प्राणादिमहावायु पर्य्यन्तो विषयो मतः । कारिकावली पृ० २८६

२. शरीरान्तः संचारी वायु. प्राण । तर्क सग्रह । पृ० ३६

३. प्राणोऽन्तःशरीरे रसमलधातूनां प्रेरणादिहेतुरेकः सन् क्रियाभेदादपानादि सज्ञा लभते । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १६ ।

४. मुखनासिकाभ्या निष्क्रमणप्रवेशनात्प्राणः, मलादीनामधो नयनादपानः । आहारेषु पाकार्थं वह्नेः समुन्नयनात् समानः, ऊर्ध्वं नयनादुदानः, नाडी मुखेषु विततनाद व्यानः ।

प्रशस्तपाद भाष्य विवरण १६

५. स्पर्शाद्ययोऽष्टौ वेगाख्यः सस्कारो मरुतो गुणाः । कारिकावली पृ० १३६

पृष्ठ ४४

१. योऽयं वायौ वाति सति अनुष्णाशीतस्पर्शो भासते स. स्पर्शः क्वचिदा-श्रित', गुणत्वाद्रूपवत् । उपस्कार भाष्य २.१ १६

२. वायुः प्रत्यक्षः, प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्, यो यो द्रव्ये सति प्रत्यक्षस्पर्शाश्रय. स स प्रत्यक्षः, यथा पृथिवी, तथा चायम्, तस्माद् वायुः प्रत्यक्ष. ।
—उपस्कार भाष्य पूर्व पक्ष । २.१.९

३. साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधि । तर्क सग्रह ११४

४. सोपाधिको हेतु व्याप्यत्वासिद्धः । वही पृ० ११४

पृष्ठ ४५

१. (क) बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षमात्रे न रूप कारण प्रमाणाभावात्, किन्तु चाक्षुषप्रत्यक्षे रूप स्पार्शनप्रत्यक्षे स्पर्श कारणम् । बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे आत्माऽवृत्तिशब्दभिन्न-विशेषगुणवत्व प्रयोजकमस्तु । न्याय मुक्तावली पृ० २४३ ।
(ख) महत्वविशिष्टविभुव्यावृत्तविशेषगुण', महत्वविशिष्टोद्भूत-रूप, उद्भूतस्पर्शान्यतरद्वा कारणम् । सिद्धान्त चन्द्रिका ।

पृष्ठ ४६

१. ततः पुन प्राणिना भोगभूतये महेश्वरसिसृक्षानन्तर सर्वात्मगत-वृत्ति लब्धादृष्टापेक्षेभ्यस्तत्सयोगेभ्य पवनपरमाणुषु कर्मोत्पत्तौ तेषा परस्परसयोगेभ्यो द्व्यणुकादिक्रमेण महान्वायु. समुत्पन्नो··· तदनन्तरमाप्येभ्य परमाणुभ्यस्तेनैव क्रमेण महान्सलिलनिधिरुत्पन्नः, तदनन्तर पार्थिवेभ्यः परमाणुभ्यो महापृथिवी···तदनन्तरं तस्मि-न्नेव महोदधौ तैजसेभ्यो द्व्यणुकादिक्रमेणोत्पन्नो महांस्तेजोराशिः ।
प्रशस्तपाद भाष्य पृ० २१-२२ ।

२. उत्पत्तिक्रमस्तूत्पत्तावेव श्रुतत्वान्नाप्यये भवितुमर्हति । न चासावयोग्य-त्वादप्ययेनाकाङ्क्ष्यते । नहि कार्ये ध्रियमाणे कारणस्याप्ययो युक्तः, कारणाप्ययेकार्यस्यावस्थानानुपपत्तेः ।
ब्रह्मसूत्र शाकर भाष्य २ ३.१४

पृष्ठ ४७

१. सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । ऋग्वेद १०. १९०. ३

२. सृष्टिप्रलयसद्भावे 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादि श्रुति. प्रमाणम् । सर्वकार्यद्रव्यध्वसोऽवान्तरप्रलय: । सर्वभावकार्यध्वसो महाप्रलय इति । तर्क दीपिका । पृ० ४५

३. (क) यत्कार्यद्रव्य तत्सावयव, यच्च सावयव तत्कार्यद्रव्यं, तथा च यतोऽवयवात्कार्यत्व निवर्त्तते ततो सावयवत्वमपि इति निरवयवपरमाणुसिद्धि: । उपस्कार भाष्य ४.१ २

(ख) द्व्यणुक: सावयव: महदारम्भकत्वात् । त्रसरेणु: सावयव. चाक्षुषद्रव्यत्वाद्घटवत् । त्रसरेणोरवयवा (द्व्यणुका) सावयवा महदारम्भकत्वात्कपालवत् । मुक्तावली पृ० १५५

पृष्ठ ४८

१ न चैव क्रमेण तदवयवधारापि सिद्ध्येदिति वाच्यम्, अनवस्था भयेन तदसिद्धे. । —मुक्तावली पृ० १५५

२ अणुपरिमाण तु न कस्यापि कारण तद्धि स्वाश्रयारब्धद्रव्यपरिमाणारम्भक भवेत्, तच्च न सम्भवति । परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वनियमात् । महदारब्धस्य महत्तरत्ववदणुजन्यस्याणुतरत्वप्रसङ्गात् । वही पृ० १०५

३. कारणत्व चान्यत्र पारिमाण्डल्यादिभ्य. । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ६

पृष्ठ ५०

1 To say that the point where the end is obtend is not eternal would be to admit the production of an effect from a thing which is not in the connection of intimate relation. Therefore this point is eternal. As the continual progress from one great thing to another still greater finds its end in the assumption of the sky and other infinite substances, so there must also be ultimately a cessation of the progress from small to smaller thing Thus the necessity of atoms is proved.—Roers Trans. of B. P. Bibl. P. 16 note.

पृष्ठ ५१

1 The doctrine has been sharply criticized by शंकराचार्य and other Vedantic writers, and their criticisms have greatly tended to diminsh its popularity;but the credit of originality is none the less due to the philosopher who, first discovered it

Notes on Tarka Samgraha by Bodas P. 126

२ निष्क्रमण प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम् । कारण गुणपूर्वक कार्य गुणो दृष्ट । कार्यान्तरप्रादुर्भावाच्च शब्दः स्पर्शवतामगुण । परत्र समवायात्प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनोगुण । परिशेषाल्लिगमाकाशस्य । वैशेषिक २ १ २०,२४-२७ ।

३ आकाशकालदिशामेकैकत्वादपरजात्यभावे पारिभाषिक्यस्तिस्र. सज्ञा भवन्ति । —प्रशस्तपाद भाष्य पृ० २३

४. तत्राकाशस्य गुणा शब्दसख्यापरिमाणपृथक्त्वसयोगविभागा: ।

—वही २३-२४ ।

५. आकाशस्य तु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुण । —भाषा परिच्छेद ४४

६. शब्दगुणकमाकाशम् । — तर्क सग्रह पृ० ४५

पृष्ठ ५२

१ सयोगाजन्यविशेषगुणसमानाधिकरणविशेषाधिकरणमाकाशम् ।

सर्वदर्शन सग्रह पृ० ८५

२. (क) शब्दः पृथिव्याद्यष्टातिरिक्तद्रव्याश्रितः, अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति समवायिकारणवत्वात् । यन्नैव तन्नैव यथारूपम् ।

(ख) शब्दो द्रव्यसमवेतो गुणत्वाद्रूपवत् । शब्द आकाशद्रव्यगुणः, गुणत्वे सति पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वात् ।

प्रशस्तपाद विवरण पृ० २५

३. सर्वमूर्त द्रव्यसंयोगित्व विभुत्वम् । मूर्त्तत्व परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्व क्रियावत्व वा । तर्क दीपिका पृ० ४६

४. क्षितिः जल तथा तेजः पवनो मन एव च
परापरत्वमूर्त त्वक्रियावेगाश्रया अमी । कारिकावली २५

पृष्ठ ५३

१. (क) अपरस्मिन्नपरं युगपत् चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि ।
वैशेषिक २.२.६.

(ख) कालः परापरव्यतिकरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गम् ।
प्रशस्तपाद भाष्य पृ० २६

२ (क) अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः । तर्क संग्रह पृ० ४६
(ख) सर्वाधारः कालः सर्वकार्ये निमित्तकारणं च ।
तर्क दीपिका पृ० ४६

३ जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः ।
परापरत्वधीहेतुः क्षणादि स्यादुपाधितः । भाषापरिच्छेद ४६

४ परत्वापरत्वादिबुद्धेरसाधारणं निमित्तं काल एव । मुक्तावली पृ० १६७

पृष्ठ ५४

१. बहुतरतपनपरिस्पन्दान्तरितजन्मनि स्थविरे युवावधि कृत्वा परत्वमुत्पद्यते तच्च परत्वमसमवायिकारणसापेक्षम् । न च रूपाद्यसमवायिकारणं व्यभिचारात् त्रयाणां गन्धादीनां वायौ परत्वानुत्पादकत्वात् । स्पर्शस्याप्युष्णादिभेदेन भिन्नस्य प्रत्येकं व्यभिचारात् । न चावच्छिन्नपरिमाणं तस्य विजातीयानारम्भकत्वात्, तपनपरिस्पन्दानां च व्यधिकरणत्वात् । ... आकाशस्य तस्स्वाभाव्यकल्पने क्वचिदपि भेर्यभिघातात् सर्वभेरीषु शब्दोत्पत्तिप्रसङ्गः ······ आत्मनश्च द्रव्यान्तरधर्मेषु द्रव्यान्तरावच्छेदाय स्वप्रत्यासत्यतिरिक्तं सन्निकर्षापेक्षत्वात्, अन्यथा वाराणसीस्थेन महारजनारुणिम्ना पाटलिपुत्रेऽपि स्फटिकमणेरारुण्यप्रसङ्गात् । ········· तस्मादेतादृशविशिष्टप्रत्ययान्यथानुपपत्त्या विशेषणप्रापकं यद् द्रव्यं स कालः ।
वैशेषिक उपस्कार भाष्य २. २-६

पृष्ठ ५५

१. इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिङ्गम् । वैशेषिक २.२.१०

३. दिक्पूर्वापरादि प्रत्ययलिङ्गा । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० २८

४. दूरान्तिकादिधीहेतुरेका नित्या दिगुच्यते ।
उपाधिभेदादेकापि प्राच्यादि व्यपदेशभाक् । कारिकावली ४६

५. प्राच्यादि व्यवहारहेतुर्दिक् । तर्क संग्रह पृ० ४७

६. अकालत्वे सति अविशेषगुणा महती दिक् । सर्वदर्शनसंग्रह पृ० ८५

पृष्ठ ५६

१. अन्यमात्र क्रियामात्र वा कालोपाधि:, मूर्तमात्र दिगुपाधि: ।
सिद्धान्त चन्द्रोदय ।

२. नियतोपाध्युन्नायक: काल:, अनियतोपाध्युन्नायिका दिक् ।
वैशेषिक उपस्कार २.२ १०

पृष्ठ ५७

१. अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्त्तिता
कारणत्व भवेत्तस्य··· ······ · ·· । कारिकावली १६

२. अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव यस्य यत्कार्य प्रति पूर्ववृत्तित्व गृह्यते तस्य तत्कार्यं प्रत्यन्यथासिद्धत्वम् । यथा घटादिकं प्रत्याकाशस्य । तस्य हि घटादिक प्रति कारणत्वमाकाशत्वेनैव स्यात्तद्धि शब्दस्य समवायिकारणत्वम्, एव च तस्य शब्द प्रति कारणत्व गृहीत्वैव घटादिक प्रति जनकत्व ग्राह्यमतस्तदन्यथासिद्धम् ।
न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पृ० ११८

३. इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदु खज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ।
न्यायसूत्र १ १. ६

पृष्ठ ५८

१. प्राणापाननिमिषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तर्विकारा:
सुखदु.खेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ।
वैशेषिक सूत्र ३. २ ४

२ आत्मत्वाभिसम्बन्धादात्मा । प्रशस्तपाद भाष्य ३०

३ आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करण हि सकर्त्तृकम् । कारिकावली ४७

४ सद्विविध. परमात्मा जीवात्मा चेति । तत्रेश्वर: सर्वज्ञ परमात्मैकएव । जीवात्मा प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च । तर्क संग्रह ४८

५. आत्मत्वजातिस्तु सुखदु खादिसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिध्यति । · ·······परे तु ईश्वरे सा जाति:नास्त्येव प्रमाणाभावात् । न च दशमद्रव्यत्वापत्ति. ज्ञानवत्वेन विभजनात् ।
न्यायमुक्तावली पृ० २०७

६. वास्यादीना भिदादिकरणाना कर्त्तारमन्तरेण फलानुपधानं दृष्टम्, एव चक्षुरादीना ज्ञानकरणानामपि फलोपधानं कर्त्तारमन्तरेण नोपपद्यते इत्यतिरिक्त. कर्त्ता कल्प्यते । वही पृ० २०६

७. इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः ।

वैशेषिकसूत्र ३.१ २

पृष्ठ ५६

१. क्षित्यङ्कुरादिक कर्तृजन्यं कार्यत्वाद् घटवत् ।

तर्क दीपिका पृ० ५०

२ बुद्ध्यादय पृथिव्याद्यतिरिक्तद्रव्याश्रिताः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात् । यन्नैव तन्नैवं यथा रूपादि ।

पृ० ६१

१. उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्वम् कर्तृत्वम् ।

तर्कदीपिका पृ० ५०

पृष्ठ ६२

१ कार्यायोजनधृत्यादे. पदात्प्रत्ययत· श्रुते·
वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्यय· ।

कुसुमाञ्जलि ५. १ ।

पृष्ठ ६३

१. अधिष्ठानं च कर्त्ता च करण च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा. दैव चैवात्र पञ्चमम् ।
तत्रैव सति कर्त्तारमात्मान केवल तु यः ।
मन्यतेऽकृतबुद्धित्वान्नस पश्यति दुर्मतिः । मूढात्मा स तु उच्यते ।

भगवद्गीता १८.१४ ।

६४

१. संख्यादिपञ्चक बुद्धिरिच्छायत्नोऽपि चेश्वरे । कारिकावली ३४

२. पाञ्चभौतिको देहः । चातुर्भौतिकमित्येके । ऐक भौतिकमित्यपरे ।

सांख्यदर्शन ३.१७,१८ २६ ।

३. (क) मदशक्तिवच्चेत् । सांख्यदर्शन ३ २२,
(ख) किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् । बृहस्पतिसूत्र ।

पृष्ठ ६५

१ जडभूतविकारेषु चैतन्य यत्तु दृश्यते ।
ताम्बूलपूगचूर्णाना योगाद्राग इवोत्थितम् ।
सर्वसिद्धान्त सग्रह ।

२ ननु चाश्रितमिच्छादि देह एव भविष्यति ।
भूतानामेव चैतन्यमितिप्राह बृहस्पति ।
न्यायमञ्जरी से उद्धृत पृ० १०

३ (क) शरीरदाहे पातकाभावात् । न्यायसूत्र ३ १,४
(ख) पापपुण्यादीना शरीरनाशे नाशप्रसगान्न शरीरमात्मा ।

४ न च संस्काराभावे प्राणिना सुखदुःखप्राप्ति सम्भव जन्मावस्थायाम् । न्यायकुसुमाञ्जलि पृ० ६५

५ शरीरस्य न चैतन्य मृतेषु व्यभिचारत, । कारिकावली ४८

६ शरीरस्यात्मत्वे करपादादिनाशे सति शरीरनाशादात्मनोऽपि नाशापत्तेः ।
तर्क दीपिका पृ० ५१

७ (क) शरीरस्य चैतन्ये बाल्यदशायामनुभूतस्य यौवने स्मरण न स्यात्, चैत्रदृष्टस्य मैत्रेण स्मरणमिव । न्याय कुसुमाञ्जलि । पृ० ६५
(ख) शरीरस्य प्रतिक्षणपरिणामित्वान्न बाल्ये दृष्टस्य वृद्धत्वेस्मरणसभव ।
तर्कदीपिका ५१
(ग) शरीरस्य चैतन्ये बाल्ये विलोकितस्य स्थविरे स्मरणानुत्पत्ते, शरीरावयवाना प्रतिक्षणमुपचयापचयैरुत्पादविनाशशालित्वात् ।
न्यायसिद्धान्तमुक्तावली २१०

८ एव च सति यो देहादिसघातभूतः हिसा करोति नासौ हिंसाफलेन सबध्यते, यश्च सम्बध्यते न तेन हिसाकृता ।
वात्स्यायन भाष्य पृ० ११७

पृष्ठ ६५

१. न च बाल्ययौवनयोरेक शरीरम् । अपक्रमात्, पूर्वशरीरविनाशात्,

परिमाणभेदेन द्रव्यभेदात्... ...। न च कारणमातुभूतस्य कार्येण स्मरणं स्यादिति वाच्यम्......मात्रानुभूतस्य गर्भस्थेन स्मरणापत्तेः।

न्यायकुसुमाञ्जलि पृ० ६५

२. अपि च पयसः तृप्तिहेतुकमनुस्मरन्बालकः स्तन्याभिलाषेण मातुः स्तनतटे दृष्टिं निदधाति, न चाद्य तेन तस्य तत्साधनत्वमवगतम्।

न्यायमञ्जरी प्रमेयप्रकरण पृ० ४२

३. तस्मान्मुखविकासस्य हर्षो हर्षस्य च स्मृति.।
स्मृतेरनुभवो हेतुः स च जन्मान्तरे शिशोः।

—न्यायमञ्जरी प्रमेयप्रकरण पृ० ४२

पृष्ठ ६६

१ न च परमाणूना चैतन्य तेषाञ्च स्थिरत्वात्स्मरण स्यादिति वाच्यम् तथा सति स्मरणस्यातीन्द्रियत्वप्रसङ्गात्, तन्निष्ठरूपादिवत्। करपरमाण्वनुभूतस्य विच्छिन्नकरपरमाण्वसन्निधावस्मरणप्रसङ्गात्।

—न्यायकुसुमाञ्जलि पृ० ६६

३ नापीन्द्रियाणामात्मत्व तथात्वे योऽहं घटमद्राक्षं सोऽहमिदानी त्वचा स्पृशामि इत्यनुसन्धानाभावप्रसङ्गात्, अन्यानुभूतेऽन्यस्यानुसन्धानायोगात्। —तर्कदीपिका पृ० ५१

पृष्ठ ६७

१. वास्यादिछिदादिकरणाना कर्त्तारमन्तरेण फलानुपधान दृष्टम्। एव चक्षुरादीना ज्ञानकरणानामपि फलोपधान (करणातिरिक्त) कर्त्तारमन्तरेण नोपपद्यते इत्यतिरिक्तः कर्त्ता कल्प्यते।

न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पृ० २०६

२. (क) तथात्व चेन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः।

भाषापरिच्छेद ४८

(ख) पूर्वं चक्षुषा साक्षात्कृतानां चक्षुरभावे स्मरणं न स्यात् अनुभवितुरभावात्। अन्येनानुभूतस्यान्येन स्मरणासभवात्।

मुक्तावली २१२।

३. (क) मनोऽपि न तथा ज्ञानाद्यनध्यक्ष तदाभवेत्।

भाषापरिच्छेद ४९।

(ख) मनसोऽणुत्वात्प्रत्यक्षे महत्त्वस्य हेतुत्वात्
मनसि ज्ञानसुखादिसत्वे तत्प्रत्यक्षानुपपत्ति ।

न्याय मुक्तावली पृ० २१४।

४. ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम् । न्यायदर्शन ३ १.१७

पृष्ठ ६८

१ नन्वस्तु विज्ञानमेवात्मा तस्य स्वत. प्रकाशरूपत्वाच्चेतनत्वम् । ··· · · पूर्वविज्ञानस्योत्तरविज्ञानहेतुत्वात् सुषुप्त्यवस्थायामप्यालयविज्ञानधारा निराबाधैव मृगमदवासनावासितवसन इव पूर्व पूर्वविज्ञानजनितमस्काराणामुत्तरोत्तरविज्ञाने सक्रान्तत्वान्नानुपपत्ति स्मरणादे, इति चेन्न तस्य जगद्विषयत्वे सर्वज्ञत्वापत्ति । सुषुप्तावपि विषयावभासप्रसङ्गाच्च ज्ञानस्य सविषयत्वात् ।··· नवा वासना सक्रम सभवति मातृपुत्रयोरपि वासनासक्रमप्रसङ्गात् ।

न्यायसिद्धान्त मुक्तावली २१४—२१७

२ तस्य स विषयत्वासभवात् ।··· ···अतो विज्ञानादिभिन्नो नित्य आत्मेति सिद्धम् । वही पृ० २२०

पृष्ठ ६९

१ इद सुखमिति ज्ञान दृश्यते न घटादिवत् ।
अह सुखीति तु ज्ञप्तिरात्मनोऽपि प्रकाशिका ।

न्यायमञ्जरी प्रमेयप्रकरण पृ० ७

२ नवानुमानतः पूर्व ज्ञात्वात्मान विशेषणम् ।
तद्विशिष्टार्थबुद्धि स्यात् स्मरणानवधारणात् ।
तस्मात्प्रत्यक्ष आत्मा । ··· ··
ज्ञाते तत्राफल लिङ्गमज्ञाते तु न लिङ्गता ।
तस्मात्प्रत्यक्ष एवात्मा वरमभ्युपगम्यताम् ।

वही पृ० ६८ ।

३ योगश्चित्तवृत्तिनिरोध , तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम् ।

योगदर्शन १. २-३

४. (क) अनुमेयत्वमेवास्तु लिङ्गे नेच्छाऽऽदिनाऽऽत्मन ।

न्यायमजरी प्रमेयप्रकरण पृ० ८

(ख) प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकारा सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि।

वैशेषिक सूत्र ३. २. ४

(ग) सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नैश्चगुणै गुण्यमनुमीयते।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ३३-३४।

पृष्ठ ७०

१ साक्षात्कारे सुखादीना करण मन उच्यते। भाषापरिच्छेद ८५

२ सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रिय मनः। तर्क संग्रह पृ० ५२

३. स्पर्शरहितत्वे सति क्रियावत्व मनसो लक्षणम्। तर्क दीपिका पृ० ५२

पृष्ठ ७१

१ युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्। न्याय सूत्र १.१ १६
ज्ञानयौगपद्यादेकम्मन.। वही ३ २ ५६।

२ आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसोलिङ्गम्।

वैशेषिक सूत्र ३ २ १

३ सत्यप्यात्मेन्द्रियार्थसान्निध्ये ज्ञानसुखादीनामभूत्वोत्पत्ति-
दर्शनात्करणान्तरमनुमीयते। प्रशस्तपादभाष्य पृ० ३५

४ सुखादि साक्षात्कार. सकरणकः जन्यसाक्षात्कारत्वात्
चाक्षुषसाक्षात्कारवत् इत्यनुमानेन मनस करणत्वसिद्धि।
— न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पृ० ४३३

५ तच्च प्रत्यात्मनियतत्वादनन्तम्। तर्क संग्रह ५२

६ अत्र समवेतकारणत्वे सति असमवेतभोगकारणत्वं नियतत्व-
शब्दार्थ.। —वाक्यवृत्ति

पृष्ठ ७२

१. (किञ्च मनोविभु) स्पर्शात्यन्ताभाववत्वादाकाशवत्।

वैशेषिक उपस्कार १०२

२. विशेषगुणशून्यद्रव्यत्वात्कालवत्। वही १०२

३. ज्ञानासमवायिकारणसंयोगाधारत्वादात्मवत्। वही १०२

४ (क) अयौगपद्याज्ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहोच्यते । भाषापरिच्छेद ८५

(ख) अलातचक्रदर्शनवत्तदुपलब्धिः आशुसञ्चारात् ।

न्यायसूत्र ३.२.६१

(ग) उत्पलशतपत्रभेदाविव यौगपद्यप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वम् ।

न्याय मुक्तावली पृष्ठ ४३४

पृष्ठ ७३

१. तदभावादणुमन । वैशेषिक ७ १.२३

२. सुषुप्तिकाले त्वच त्यक्त्वा पुरीतति वर्त्तमानेन मनसा ज्ञानाजननम् ।

न्याय मुक्तावली पृ० २४६

३. त्वङ्मन सयोगो ज्ञानसामान्ये कारणम् । वही पृ० २४६

पृष्ठ ७४

१ सुषुप्त्यनुकूलमन क्रियया मनसा आत्मनो विभागस्तत आत्ममन सयोगनाशस्तत पुरीततिरुपांतरदेशेन मन सयोग रूपा सुषुप्ति-रुत्पद्यते । दिनकरी (न्या० सि० मुक्तावली) पृष्ठ २४८

२ अथ यदा सुषुप्तो भवति, तदा न कस्यचन, हिता नामनाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते. ताभि प्रत्यवसृत्य पुरीतति शेते । बृहदारण्यकोपनिषद् २.१ १९

पृष्ठ ७५

१ चेष्टेन्द्रियार्थाश्रय. शरीरम् । न्याय दर्शन १.१ ११

२ घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः । वही १ १-१२

३ स्वविषयग्रहणलक्षणानीन्द्रियाणीति ।

वात्स्यायन भाष्य १ १ १२

४. उभयात्मकमत्र मन , सकल्पकमिन्द्रिय च साधर्म्यात् ।
(गुणपरिणामविशेषान्नानात्व बाह्यभेदाश्च) साङ्ख्यकारिका २७

५ इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मक प्रत्यक्षम् । न्याय सूत्र १.१.४

६. सुखदुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रिय मन । तर्क सग्रह ५२

७ (क) आत्मान रथिनं विद्धि शरीर रथमेव तु।
बुद्धि तु सारथि विद्धि मन. प्रग्रहमेव च
इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयास्तेषु गोचरान्। कठोपनिषद् १.३.३-४

(ख) इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था: अर्थेभ्यश्च पर मनः।
मनसश्च पराबुद्धि· बुद्धेरात्मा महान्परः। वही १ ३.१०

(ग) इन्द्रियेभ्यः पर मनो मनसः सत्वमुत्तमम्। वही २.३.७

(घ) एतस्माज्जायते प्राणो मन· सर्वेन्द्रियाणि च। मुण्डक २.१.३.

(८) बुद्धीन्द्रियमनसा क्रम विचारयति। (वेदान्त सूत्र) भामती २ ३ १५

पृष्ठ ७७

१. चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्। तर्क सग्रह पृ० ५४

२ तत्र रूपं चक्षुर्ग्राह्यम्। प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ४४

३ चक्षुर्ग्राह्य भवेद्रूपम्। भाषा परिच्छेद १००

४ चक्षुर्ग्राह्यविशेषगुणमित्यर्थ। न्याय मुक्तावली पृ० ४४५

५ प्रभाघटसयोगेऽतिव्याप्तिवारणाय 'चक्षुर्मात्रग्राह्यजातिमत्व
वाच्यम्। तर्क दीपिका पृ० ५५

पृ० ७८

१ त्वगग्राह्यचक्षुर्ग्राह्यगुणविभाजकधर्मवत्त्व गुणत्वावान्तर
जातिमत्व वा रूपत्वम्। —वाक्यवृत्ति रूपप्रकरण

२ तथाच परमाणोर्महत्वादनुपलब्धिर्भवति।.........
नन्वेव परमाणोर्द्व्यणुकस्य च रूप गृह्यत इत्यत उक्तमनेकद्रव्य-
समवायात्। उद्भूतत्वमनभिभूतत्वरूपत्वञ्च तस्माद् ...
उपलब्धि। वैशेषिक उपस्कार ४ १.६,८।

पृष्ठ ७९

१. नीलपीताद्यवयवारब्धोऽवयवी न तावन्नीरूपो अप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्।
नापि व्याप्यवृत्तिनीलादिकमुत्पद्यते पीतावच्छेदेनापि नीलोपलब्धि-
प्रसङ्गात्। तस्मान्नानाजातीयै रूपैरवयविनि विजातीय चित्ररूप-
मारभ्यते। अतएवैक चित्ररूपमित्यनुभवोऽपि नानारूपकल्पने
गौरवात्। —न्याय सिद्धान्त मुक्तावली ४४६

२. लोहितोयस्तु वर्णेन मुखे पुच्छे च पाण्डुरः ।
श्वेतःखुरविषाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते । इत्यादि शास्त्रमप्युपपद्यते ।
वही ४४८

४. नव्यास्तु तत्राव्याप्यवृत्त्येव नानारूप नीलादेः पीतादिप्रतिबन्धकत्व-
कल्पने गौरवात् । · ··· नच व्याप्याव्याप्यवृत्तिजातीययोर्द्वयो-
र्विरोध मानाभावात् । न च लाघवादेक रूपमनुभवविरोधात् ।
पृ० ४४७—४४८

पृष्ठ ८०

१ (क) रसो रसनग्राह्यः । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ४५
(ख) रसस्तु रसनाग्राह्यो मधुरादिरनेकधा । भाषा परिच्छेद १०१

२ जीवन पुष्टिबलारोग्य निमित्तम् । रसनसहकारी मधुराम्ललवण
तिक्तकटुकषायभेदभिन्न । प्रशस्तपाद भाष्य ४५

३ (क) अलौकिक एवाय चर्वणोपयोगी विभावादि व्यवहारः । क्वान्य-
त्रेत्थ दृष्टमिति चेत्, भूषणमेतदस्माकमलौकिकत्वसिद्धौ,
पानकरसास्वादोऽपि कि गुडमरिचादिषु दृष्ट इति समानमेतत् ।
अभिनव भारती

(ख) ·········चर्व्यमाणतैकप्राणो विभावादि जीवितावधि
पानकरसन्यायेन चर्व्यमाण ······शृङ्गारादिको रसः ।
काव्यप्रकाश पृ० ७७

पृष्ठ ८१

१ गन्धो घ्राणग्राह्य , पृथिवीवृत्ति घ्राणसहकारी सुरभिरसुरभिश्च ।
प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ४५

२. स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्य. ।··· शीतोष्णानुष्णाशीतभेदात् त्रिविधः ।
वही ४६

३. कठिनसुकुमार स्पर्शौ पृथिव्यामेव । कठिनत्वादिक तु न संयोगगतो
जातिविशेष· चक्षुर्ग्राह्यत्वापत्ते ।— न्यायसिद्धान्त मुक्तावली ४४६

पृष्ठ ८२

१ (क) शुक्लाद्यनेकप्रकारं सलिलादिपरमाणुषु नित्य पार्थिवपर-
माणुष्वग्निसंयोगविरोधि सर्वकार्यद्रव्येषु कारणगुणपूर्वक-

माश्रयविनाशादेव विनश्यतीति । —प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ४४

(ख) ···जलादि परमाणौ तन्नित्यमन्यत्सहेतुकम् ।

भाषापरिच्छेद १०१

पृष्ठ ८३

१. घटादेरामद्रव्यस्याग्निना सम्बद्धस्याग्न्यभिघातान्नोदनाद्वा तदारम्भकेष्वणुषु कर्माण्युत्पद्यन्ते, तेभ्यो विभागाः, विभागेभ्यः संयोग-विनाशाः, संयोगविनाशेभ्यश्च कार्यद्रव्य विनश्यति···· · ···तदनन्तर भोगिनामदृष्टापेक्षादात्माणुसंयोगादुत्पन्नपाकजेष्वणुषु कर्मोत्पत्तौ तेषा परस्परसंयोगात् द्व्यणुकादिक्रमेण कार्यद्रव्यमुत्पद्यते ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ४६-४७

२. परमाणुष्वेव पाको न द्वयणुकादौ । ग्रामपाकनिक्षिप्तेषु परमाणुषु रूपान्तरोत्पत्तौ श्यामघटनाशे पुनर्द्वयणुकादिक्रमेण रक्तघटोत्पत्तिः । · ···इति पीलुपाकवादिनोवैशेषिका । पूर्वघटनाश विनैव अवयविनि अवयवेषु परमाणुपर्यन्तेषु च युगपद्रूपान्तरोत्पत्तिरिति पिठरपाकवादिनो नैयायिकाः ।

तर्कदीपिका पृ० ६०-६१

३ पूर्वरूपरसादिपरावृत्तिजनको विजातीयतेजः संयोगः पाकः ।

— तर्क किरणावली (दीपिका टीका) पृ० ५६ ।

पृष्ठ ८४-८५

१ अथ नवक्षणा तथाहि वह्निसंयोगात्कर्म तत.परमाण्वन्तरेषु विभागः, तत आरम्भकसंयोगनाश ततो द्वयणुकनाशः २, ततः परमाणौ श्यामादिनाशः, ३, ततो रक्ताद्युत्पत्तिः ४ ततो द्रव्यारम्भानुगुणा क्रिया ५, ततो विभाग. ६, तत. पूर्वसंयोगनाशः ७, तत आरम्भकसंयोग ८, ततोद्वयणुकोत्पत्तिः ६, ततो रक्ताद्युत्पत्तिः इति नवक्षणा ।

—न्याय मुक्तावली पृ० ४५२-५३ ।

२. (क) तत्र यदि द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशविशिष्ट कालमपेक्ष्य विभागजविभागः स्यात्तदा दशक्षणा । ··· सा चारम्भक संयोगविनाशविशिष्टकालमपेक्ष्य विभागेन विभागजनने स्यात् ।

वही पृ० ४५३-५३

(ख) यदि तु पूर्वक्रिया निवृत्यन्तरकाले क्रियान्तरमुत्पद्यते तदा दशक्षणा ।

वैशेषिक उपस्कार पृ० १६३

पृष्ठ ८५

१ वह्निना नोदनात् द्वयणुकारम्भके परमाणौ कर्म, ततो विभागः, ततो द्रव्यारम्भक सयोगनाशस्ततोद्वयणुकनाश १, नष्टे द्वयणुके केवले परमाणावग्निसयोगाच्छ्यामादिनिवृत्ति २. श्यामादौ निवृत्तेऽन्यस्मा-दग्निसयोगाद्रक्ताद्युत्पत्ति ३ रक्तादावुत्पन्ने परमाणुक्रियानिवृत्तिः तदनन्तरमदृष्टवदात्मसयोगात्परमाणौ कर्म ४ ततो विभाग ५ ततः पूर्व सयोगनिवृत्ति, ६ तत. परमाण्वन्तरेण द्रव्यारम्भक सयोग, ७ ततो द्वयणुकोत्पत्ति, ८ उत्पन्ने द्वयणुके कारणगुण क्रमेण रक्ताद्युत्पत्तिरिति नवक्षणा ।...

द्वयणुकनाशविभागजविभागावित्येक काल. १ तत पूर्व-सयोगनाशश्यामादिनिवृत्ती, २ उत्तरसयोगरक्ताद्युत्पत्ती, ३ उत्तर-सयोगेन विभागजविभागक्रियानिवृत्ती ४ ततो द्रव्यारम्भा-नुगुणा परमाणुक्रिया ५ क्रियातो विभाग ६. विभागात् पूर्व सयोगनिवृत्ति ७ ततो द्रव्यारम्भक सयोग', ८ ततो द्रव्योत्पत्तिः ९. उत्पन्ने द्रव्ये रक्ताद्युत्पत्तिः १०. इति दशक्षणा ।

वैशेषिक. उपस्कार १६३-६४

२ यदा तु द्रव्यनाशविशिष्ट कालमपेक्ष्य विभागेन विभागो जन्यते तदा एक क्षणवृद्धया एकादशक्षणा । तथाहि—द्रव्यविनाश. १ ततो विभागजविभागश्यामादिनिवृत्ती २ ततः पूर्वसंयोगनाश. ३ तत उत्तरसयोगाद्युत्पत्ती ४ ततो विभागजविभागकर्मणोः निवृत्ति. ५ तत· परमाणौ द्रव्यारम्भानुगुणा क्रिया ६. ततो विभाग. ७. पूर्वसयोगनिवृत्ति. ८ द्रव्यारम्भक सयोगोत्पत्तिः ९. द्वयणुकोत्पत्ति. १० रक्ताद्युत्पत्तिश्च ११ इत्येकादश क्षणः ।

वैशेषिक उपस्कार १६३-६४

३. एकत्र परमाणौकर्म, ततोविभागः, तत आरम्भकसंयोगनाश: परमाण्वन्त र कर्मणी ततो द्वयणुकनाश: परमाण्वन्तरकर्मजन्यविभाग: इत्येक: काला १ तत. श्यामादिनाशो विभागाच्च पूर्वसयोगनाशश्चेत्येक' २, ततो

रक्तोत्पत्तिर्द्व्यारम्भकसंयोग इत्येकः कालः ३, अथ द्व्यणुकोत्पत्तिः, ततो रक्तोत्पत्तिरित्ति पञ्चक्षणाः ।   न्याय मुक्तावली पृ० ४५६

पृष्ठ ८६

१ द्रव्यनाशसमकाल परमाण्वन्तरकर्मचिन्तनात् षष्ठेगुणोपत्ति. ।
वही ४५७

२ श्यामनाशक्षणे परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनात् सप्तक्षणा ।
वही पृ० ४५७

३. रक्तोत्पत्तिसमकाल परमाण्वन्तरे कर्म चिन्तनादष्टक्षणा. । तथाहि परमाणौ कर्म ततः परमाण्वन्तर विभागः तत आरम्भकसंयोगनाशः ततोद्व्यणुकनाश १, तत श्यामनाश २, ततोरक्तोत्पत्ति-परमाण्वन्तरकर्मणी ३, तत परमाण्वन्तरकर्मणा विभाग, ततः सयोग नाश ५, तत परमाण्वन्तरसयोग:, ६, ततोद्व्यणुकोत्पत्ति ७, अथ रक्तोत्पत्तिरित्यष्टक्षणा ।   वही ४५७—४५८

पृष्ठ ८८

१ द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागेच विभागजे ।
यस्य न स्खलिता बुद्धि तं वै वैशेषिक विदु ।
सर्वदर्शन सग्रह पृ० ८६

२ एकत्वादिव्यवहार हेतुः सख्या ।
प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ४८

३. (क) साख्या परिमाण पृथक्त्व सयोग विभाग परत्वा-
परत्व गुरुत्व नैमित्तिकद्रवत्ववेगाः सामान्यगुणः ।
(ख) संख्यादिरपरत्वान्तो द्रवोऽसांसिद्धिकस्तथा ।
गुरुत्ववेगौ सामान्यगुणा एते प्रकीर्तिताः ।
भाषा परिच्छेद ९१

४. (क) वयं तु ब्रूमः त्रित्वादिसमानाधिकरणं संख्यान्तरमेव बहुत्वं त्रित्वादिजनकापेक्षाबुद्धिजन्यप्रागभावभेदादेवं भावः ।
वैशेषिक उपस्कार पृ० १८०

(ख) यत्रानियतैकत्वज्ञानं तत्र त्रित्वादिभिन्ना बहुत्वसंख्योत्पद्यते यथा सेनावनादावित्ति कन्दलीकारः ।

न्यायसिद्धान्त मुक्तावली ४६६

पृष्ठ ८९

१. अनेकैकत्वबुद्धिर्या सापेक्षा बुद्धिरिष्यते । भाषापरिच्छेद १०९

२. तत्र प्रथममिन्द्रियार्थ सन्निकर्ष, तस्मादेकत्वसामान्यज्ञानम्, ततो अपेक्षाबुद्धिः, ततो द्वित्वोत्पत्ति, ततो द्वित्वत्वसामान्यज्ञानम्, तस्माद् द्वित्वगुणज्ञानम्, ततो द्वे द्रव्ये इति धीः, ततः सस्कारः ।

न्यायमुक्तावली पृ० ४६७

३ आदाविन्द्रियसन्निकर्षघटनादेकत्वसामान्यधीः,
एकत्वोभयगोचरा मतिरतो द्वित्वं ततो जायते, ।।
द्वित्वत्वप्रमितिस्ततो न परतो द्वित्वप्रमाऽनन्तरम्
द्वे द्रव्ये इति धीरिय निगदिता द्वित्वोदय प्रक्रिया ।

सर्वदर्शन संग्रह पृ० ८६

४. द्वित्वादेरपेक्षाबुद्धिजन्यत्वे किं प्रमाणम् । अत्राहुराचार्या.- अपेक्षाबुद्धि द्वित्वादेरुत्पादिका, व्यञ्जकत्वानुपपत्तौ तेनानुविधीयमानत्वात् । शब्द प्रति सयोगवत् । सर्वदर्शन सग्रह पृ० ८६

पृष्ठ ९०

१. द्वित्वादिकमेकत्वद्वयविषयानित्यबुद्धिव्यग्य न भवति, अनेकाश्रित-गुणत्वात्पृथक्त्वादिवत् ।

सर्वदर्शन सग्रह पृ० ८६

२. अपेक्षाबुद्धिनाशाच्च नाशस्तेषा निरूपितः । भाषापरिच्छेद १०८

२ विनाशक्रमस्तु-एकत्वसामान्यापेक्षाबुद्धेर्विनाशः, द्वित्वत्वसामान्यज्ञानस्य च द्वित्वगुणबुद्धितोविनाश., द्वित्वगुणबुद्धेश्च द्वित्वविशिष्टद्रव्य-ज्ञानात्, तस्य च सस्काराद् विषयान्तरज्ञानाद्वेति ।

वैशेषिक उपस्कार पृ० १७७ (७.२.८)

४ क्वचिदाश्रयनाशादपि नश्यति यत्र द्वित्वाधारावयवकर्मसमकालमे-कत्वसामान्यज्ञानम् । यथा अवयवकर्म सामान्यज्ञाने, विभागा-

' पेक्षाबुद्धौ, संयोगनाशगुणोत्पत्तौ, द्रव्यनाशद्वित्वसामान्यज्ञाने तत्र द्रव्यनाशाद् द्वित्वनाशः, सामान्यज्ञानादपेक्षाबुद्धिनाशः ।

वैशेषिक उपस्कारभाष्य पृ० १७८

पृष्ठ ६१

१. यदा तु द्वित्वाधारावयवकर्मापेक्षाबुद्धयो यौगपद्यं तदा द्वाभ्यामाश्रयनाशापेक्षाबुद्धिनाशाभ्यां द्वित्वनाशः । तद्यथा—अवयवकर्मापेक्षाबुद्धी, विभागोत्पत्तिद्वित्वोत्पत्ती, संयोगनाशद्वित्वसामान्यज्ञाने, द्रव्यनाशापेक्षाबुद्धिनाशौ ताभ्यां द्वित्वनाशः । इयञ्च प्रक्रिया ज्ञानयो. बध्यघातकपक्षे (सहानवस्थान पक्षे) परमुत्पद्यते ।

वैशेषिक उपस्कार पृ० १७६

२ यथा तुल्यया सामग्र्या पाकजानां रूपरसगन्धस्पर्शानाम्—यद्वा शुद्धयाऽपेक्षाबुद्धया द्वित्व द्वित्वसहितया त्रित्वमिति नेयम् । शत पिपीलिकाना मया हतमित्यादौ समवायिकारणाभावे द्वित्व तावन्नोत्पद्यते तथा च गौणस्तत्र सङ्ख्याव्यवहारो द्रष्टव्य' ।

—वैशेषिक उपस्कार पृ० १७६

पृष्ठ ६२

१ प्रचयः शिथिलाख्यो य. सयोग''' । भाषापरिच्छेद ११२

पृष्ठ ६३

१. तत्रास्ति महत्वदीर्घत्वयो: परस्परतो विशेषः महत्सु दीर्घमानीयताम् दीर्घेषु च महदानीयतामिति विशिष्टव्यवहारदर्शनात् इति । अणुत्वह्रस्वत्वयोस्तु परस्परतो विशेषस्तद्दर्शिनाम्प्रत्यक्ष इति ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ५६

२. परमाणु विश्लेषे हि द्वयणुकस्य नाशोवश्यमभ्युपेयः तन्नाशे च त्र्यणुकनाशः एव क्रमेण महावयविनो नाशस्यापलपितुमशक्यत्वात् । शरीरादात्रवयवोपचये समवायिकारणनाशस्यावश्यकत्वादवयविनाश आवश्यकः ।''''''तत्रापि वेगवदभिघातेनासमवायिकारणतन्तुसयोगनाशात्पटनाशस्यावश्यकत्वात् । ' ''' तस्मात्तत्र तन्त्वन्तरसंयोगे सति पूर्व

पटनाशस्ततः पटान्तरोत्पत्तिरित्यवश्य स्वीकार्यम् । अवयविनः प्रत्यभिज्ञान तु साजात्येन दीपकलिकादिवत् ।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पृ० ४६७-६८

पृष्ठ ६४

१. ननु पृथक्त्वबुद्धिरितरेतराभावेनैवान्यथासिद्धेर्न्न तद्गुणान्तरम् इति चेन्न पृथक्त्वस्यावधिनिरूप्यत्वादन्योन्याभावस्य च प्रतियोगि-निरूप्यत्वात्, इदमस्मात्पृथगिद न भवतीति प्रतीतिभेददर्शनात् ।

कणादरहस्यम् पृ० ७६

२ न च वैधर्म्यमेव पृथक्त्व श्यामाद्रक्तो विधर्मा न तु पृथगिति प्रतीते । न च सामान्यविशेष एव पृथक्त्व पदार्थत्रयवृत्तित्वे सत्ताया द्रव्यमात्र-वृत्तित्वे द्रव्यत्वेन सहान्यूनानतिरिक्तवृत्तित्वात् ।

वही पृ० ७६

३ यदि पृथक्त्व गुण कथ गुणकर्मादौ तत्प्रतीतिरिति चेत् न तत्र तद्व्यवहारस्य गौणत्वात् । वही पृ० ७६

४ (क) एकत्वादिवदेकपृथक्त्वादिष्वपरसामान्याभाव सख्यया तु विशिष्यते तद्विशिष्टव्यवहार दर्शनात् ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ६०

(ख) द्विपृथक्त्वादौ पृथक्त्वजातेरन्याऽवान्तरजाति र्नास्ति, प्रतीति वैलक्षण्य द्वित्वादिघटितमेवेति भाष्यस्वरसः ।

प्रशस्तपाद विवरण पृ० ६१

पृष्ठ ६५

१ (क) द्विपृथक्त्वादावबान्तरजातिर्वर्तत एव द्वित्वत्वादिजातिस्तु न वर्तते तद्विशिष्टबुद्धे द्वित्वादिगुणाधीनतयैवोपपत्ते-रित्याचार्या. । —प्रशस्तपाद विवरण पृ० ६१

(ख) सख्यात्वमेकानेकवृत्तिगुणत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिसमानाधिकरणा-त्यन्ताभावप्रतियोगिगुणत्वव्याप्यजातित्वात् रूपत्ववदिति एक-पृथक्त्वसाधकमनुमानमप्याहुः ।

किरणावली प्रकाश पृ० ६७

२. द्रव्यासमवायिकारणवृत्ति गुणत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्वम् पार्थिव-परमाणुरूपासमवायिकारणवृत्तिगुणत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्व वा (सयोगत्वम्)। —कणादरहस्यम् ७८

पृष्ठ ९६

१ अवयवसयोगे उपलभ्यमाने एवावयविसयोग उपलभ्यते, यत्रावयवे सयोगाभावस्तस्मिन्नुपलभ्यमानेऽपि नोपलभ्यत इत्यव्याप्यवृत्तिरर्थ ।

कणादरहस्यम् पृ० ८०

२ नास्त्यज सयोगो नित्यपरिमण्डलवत् पृथगनभिधानात्। यथा चतुर्विधपरिमाणमुत्पाद्यमुक्त्वाऽऽह नित्य परिमण्डलमित्येवमन्यतर-कर्मजादिसयोगमुत्पाद्यमुक्त्वा पृथङ् नित्य ब्रूयान्नत्वेवमब्रवीत्, तस्मान्नास्त्यज सयोग ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ६५

पृष्ठ ९७

१ प्राप्तिपूर्बिकाऽप्राप्तिर्बिभाग । स च त्रिविधोऽन्यतरकर्मज उभय-कर्मजो विभागजश्च बिभाग इति ·· विभागजस्तु द्विविध कारणविभागात् कारणाकारणविभागाच्च ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ६७

पृष्ठ ९८

१. सयोगनाशको गुणो विभाग ।

तर्क सग्रह पृ० ६४

पृष्ठ ९९

२ अपेक्षाबुद्धिसयोगद्रव्यसयोगनाशनात्
पृथग्द्वाभ्या च सर्वेभ्यो विनाश सप्तधाऽनयो ।

कणादरहस्यम् पृ० ८८

पृष्ठ १०१

१ यदा परत्वमुत्पद्यते तदा परत्वाधारे कर्म ततो यस्मिन्नेव काले परत्वसामान्यबुद्धिरुत्पद्यते तस्मिन्नेव काले पिण्डकर्मणा विपिण्ड-विभाग: क्रियते तत सामान्यबुद्धितोऽपेक्षाबुद्धिविनाशो विभागाच्च

दिक्पिण्डसंयोगविनाश इत्येकः काल' । ततः संयोगापेक्षाबुद्धि-विनाशात्परत्वस्य विनाश. ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ८२

२ (क) सयोगाभावे गुरुत्वात्पतनम् । १८७ ।
संस्काराभावे गुरुत्वात्पतनम् । १९८
अपा सयोगाभावे गुरुत्वात्पतनम् । २०१

वैशेषिक सूत्र

(ख) गुरुत्वजलभूम्यो: पतनकर्मधारणम् ।

प्रशस्तपाद भाष्य १३०

३. पतनाख्य इति आद्यपतने इत्यर्थ ।

न्यायसिद्धान्त मुक्तावली ५२७

पृष्ठ १०२

१ ननु यावदेवावयवाना गुरुत्व तावदेवावयविन्यपि कथ स्यात् अवयव-गुरुत्वापेक्षया तदाधिक्यसम्भवात् । अवयविनि तदाधिक्यमस्त्येवेति चेत्, अवनमनविशेषोपलम्भप्रसगात् इति चेत्, न अवनमन विशेषस्य तत्र सत्वात् ।

कणादरहस्यम् पृ० १२८ ।

पृष्ठ १०३

१ सुवर्णं (द्रवत्व विशिष्ट) तैजसं असति प्रतिबन्धकेऽत्यन्तानल सयोगे सत्यप्यनुच्छिद्यमानद्रवत्वात् ।

—न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पृ० १७९

पृष्ठ १०४

१ तैलादौ कथ सांसिद्धिकद्रवत्वमितिचेत् न विष्टम्भकपाथस्सक्त-द्रवत्वोपलम्भात् । कथ तर्हि दहनानुकूलता स्नेहोत्कर्षात्, जलान्तरे तु न तथा स्नेहोत्कर्ष इति विशेषात् ।

कणादरहस्यम् पृ० १२८-१२९

२ (क) स्नेहोऽप् विशेषगुणः संग्रहमृजादिहेतुः ।

प्रशस्तपाद भाष्ये पृ० १३५

(ख) पिण्डीभावहेतुः संयोगविशेषः संग्रहः । मृजा परिशुद्धिः मृदुत्वमादिपदेन ग्राह्यम् । —प्रशस्तपाद विवरण पृ० १३५

(ग) चूर्णादिपिण्डीभावहेतु गुणः स्नेहः ।

तर्क संग्रह ६७

पृष्ठ १०५

१. घृतादौ पार्थिवे स्नेह कथमिति चेत् तत्रोपष्टम्भकं जलभागो स्नेहस्योपलम्भात् । स्निग्ध घृतमिति प्रतीतिस्तु परम्पराभिसम्बन्धात् । —कणादरहस्यम् पृ० १३०

२, (क) शब्दोऽम्बरगुण श्रोत्रग्राह्य क्षणिक कार्यकारणोभयविरोधी.......... । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १४४

(ख) तस्मादनित्या एवेति वर्णाः सर्वे मत हितः ।

भाषा परिच्छेद १६८

३. शब्दोऽनित्य कृतकत्वात् यत्कृतक तदनित्य यथा घट । अनित्यत्वव्याप्यकृतकत्ववाश्चाय तस्मादनित्य. । कणाद रहस्यम् पृ० १४६

४. अनादिनिधन ब्रह्म शब्दतत्व यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत. । वाक्यपदीयम् १. १.

५. अक्षर न क्षर विद्यात् । व्याकरण महाभाष्य १.१.६.

६ अबाधितप्रत्यभिज्ञाबलाद् वर्णस्य नित्यता ।
उच्चारण प्रयत्नेन व्यज्यतेऽसौ न जन्यते ।
जैमिनीय न्यायमाला १.१ ५१

७ (क) सत्कार्यसिद्धान्तश्चेत्सिद्धसाधनम् । सांख्य सूत्र ५. ६०

(ख) अभिव्यक्तिर्यद्यनागतावस्थात्यागेन वर्त्तमानावस्थालाभ इत्युच्यते तदा सत्कार्यसिद्धान्तः । सांख्यप्रवचनभाष्य ५ ६०

पृष्ठ १०६

१. प्रथमादि शब्दाना च स्वकार्यशब्देनैव नाशः चरमस्यतूपान्त्यशब्देनोपान्त्यशब्दनाशेन वा नाश. । दिनकरी पृ० ५३६ ।

२. आत्माबुद्धया समेत्यर्थान्मनोयुङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।
मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम् । पाणिनीय शिक्षा ६-७ ।

३. आत्ममनसोः संयोगात्स्मृत्यपेक्षाद् वर्णोच्चारणेच्छा तदनन्तरं प्रयत्नस्तमपेक्षमाणादात्मवायु संयोगाद् वायौ कर्म जायते स चोर्ध्वं गच्छन् कण्ठादीनभिहन्ति, ततः स्थानवायुसंयोगापेक्षमाणात् स्थानाकाशसंयोगात् वर्णोत्पत्ति. ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १४५

पृष्ठ १०७

१. तत्राद्यः शब्द कार्येणैव नश्यते मध्यमास्तु शब्दा उभयतः कार्येणैव वा । ··· ·· · तदुक्त न्यायवार्तिक टीकायाम् आद्यस्तु कार्येणैव मध्यमानान्त्वनियमः ।

कणाद रहस्यम् १५१

२. कदम्बमुकुलन्यायेन दश शब्दाः जायन्ते तैरप्यन्ये यावत् कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभोभागमासाद्य जायन्ते ते च गृह्यन्ते ।

— कणाद रहस्यम् । पृ० १४६

पृष्ठ १०९

१. बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् । न्याय सूत्र १.१ १५

पृष्ठ ११०

१. सुखदुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रिय मन । तर्क संग्रह ५२

२. सान्तः करणा बुद्धि. सर्वं विषयमवगाहते । साख्यकारिका ३५

३ युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् । न्याय सूत्र १ १.१६

४ (क) बुबोधयिषापूर्वकवाक्यप्रयोगो व्यवहार । वाक्यवृत्ति बुद्धिखण्ड ।
(ख) व्यवहार. शब्दप्रयोग । न्याय बोधिनी पृ० २२

५ तादृशव्यवहारजनकतावच्छेदकजातिमत्वम् । वाक्यवृत्ति

६. जानामीत्यनुव्यवसायगम्यज्ञानत्वम् (बुद्धि) तर्क दीपिका पृ० ६८

पृष्ठ १११

१. अज्ञानान्धकारतिरस्कारकारकसकलपदार्थस्यार्थप्रकाशक: प्रदीप इव देदीप्यमानो य. प्रकाश: सा बुद्धि· ।

सप्तपदार्थी जिनवर्द्धनी टीका

२ (क) ज्ञानानधिकरणानधिकरणजातिमत्वम् आत्मा ।

कणाद रहस्यम् । पृ० ३६

(ख) ज्ञानाधिकरणमात्मा । तर्क संग्रह पृ० ४८

पृष्ठ ११२

१. बुद्धिरुपलब्धिः ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् । न्याय सूत्र १.१.१५

२ (क) तस्याः सत्यप्यनेकविधत्वे समासतो द्वे विधे विद्या चाविद्या चेति। तत्राविद्या चतुर्विधा संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्नलक्षणा।

पृ० ८४-८५

विद्या हि चतुर्विधा प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ९४

(ख) सा च द्विविधा विद्याऽविद्या च। ····तत्र विद्या चतुर्विधा प्रत्यक्ष-लैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा (पृ० ८९) ।··· अथाविद्या सा च सशय विपर्यय स्वप्नानध्यवसायभेदाच्चतुर्धा ।

कणाद रहस्यम् पृ० ८९, ११५ ।

पृष्ठ ११३

१. प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि । न्याय सूत्र १ १.३.

पृष्ठ ११४

१. सस्कारमात्रजन्य ज्ञान स्मृति. । तर्कसंग्रह पृ० ६८

२. लिङ्गदर्शनेच्छानुस्मरणाद्यपेक्षादात्ममनसोः सयोगविशेषात् पट्वभ्या-सादरप्रत्ययजनिताच्च सस्काराद् दृष्टश्रुतानुभूतेष्वर्थेषु शेषानुव्य-वसायेच्छानुस्मरणद्वेषहेतुरतीतविषया स्मृतिः ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १२८ ।

पृष्ठ ११५

१. सस्कारोद्भवा प्रतिज्ञा इति सूत्रमिति राधामोहन ।

न्याय सूत्रोद्धार टिप्पणी पृ० १

पृष्ठ ११६

४. उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरो द्रव्याणि तद्वन्ति पृथक्त्व सख्ये । विभागसयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्व परिमाणयुक्तम् ।

उद्भूतस्पर्शवद् द्रव्यं गोचरः सोऽपि च त्वचः ।
रूपान्यच्चक्षुषो रूपं रूपमत्रापि कारणम् ।

भाषापरिच्छेद ५४, ५६

पृष्ठ ११७

२. तद्वन्निष्ठविशेष्यतानिरूपित तन्निष्ठप्रकारताशालित्वम् (यथार्थानुभवत्वम्) । न्यायबोधिनी पृ० २४

३ तदभाववन्निष्ठविशेष्यतानिरूपित तन्निष्ठप्रकारता—शालि ज्ञानत्व-मयथार्थानुभवत्वम् । न्यायबोधिनी पृ० २४

पृष्ठ ११८

२. तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थ सैव प्रमा इत्युच्यते । तर्कसग्रह पृ० ७०

३ (क) तद्वति इत्यत्र सप्तम्यर्थो विशेषणम् । वाक्यवृत्ति ।

(ख) तच्छून्ये तन्मति या स्यादप्रमा सा निरूपिता ।

—भाषापरिच्छेद १२७

४ (क) तदभाववति तत्प्रकारक ज्ञान भ्रम इत्यर्थ ।

न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पृ० ४७६

(ख) तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः, सैवाप्रमेत्युच्यते ।

तर्कसग्रह पृ० ७१

पृष्ठ ११६

२ तद्वति इति'''यत्र यत्सम्बन्धोऽस्ति तत्र तत्सम्बन्धानुभवः ।

तर्कदीपिका पृ० ७०

पृष्ठ १२०

१ (क) इन्द्रियार्थसन्निकर्षादिना जायमानोऽय घट इत्यादि बौद्धोबोधः प्रमाणम्, तदनूपजायमानो घटमह जानामीत्यादि पौरुषेयो बोधश्च प्रमा । —विद्वत्तोषिणी ५

(ख) यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहस्तत्फल प्रमाबोधः । तत्व कौमुदी ५

२ प्रमात्वम् अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वम् ।

वेदान्त परिभाषा–पृ० १०

३ प्रत्यक्षप्रमा चात्र चैतन्यमेव 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ० उप० ३.४. १)इति श्रुतेः। वही पृ० १५-१६

४ प्रसिद्धानेकविशेषयोः सादृश्यमात्रदर्शनादुभयविशेषानुस्मरणाच्च किस्विदित्युभयावलम्बी विमर्शः सशय'। प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ८६

५. एकस्मिन्धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहि ज्ञान सशय.। तर्कसग्रह पृ० १५६

६, समानानेकधर्मोपपत्ते र्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्श सशय। न्यायदर्शन १.१ २३

पृष्ठ १२१

१ पूर्वः समानोऽनेकश्च धर्मो ज्ञेयस्थ, उपलब्ध्यनुपलब्धी पुनर्ज्ञातृस्थे। वात्स्यायन भाष्य १ १ २३

२ स च द्विविधः अन्तर्बहिश्च। अन्तस्तावत् आदेशिकस्य सम्यक् मिथ्या चोद्दिश्य पुनरादिशतस्त्रिषु कालेषु सशयो भवति, किन्तु सम्यङ् मिथ्यावेति। स हि द्विविध —प्रत्यक्षविषये चाप्रत्यक्षविषये चेति। प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ८६।

पृष्ठ १२२

१. स चाय समानधर्मजन्मा विप्रतिपत्तिधर्मजन्मा च।······द्विविध एवाय न त्रिविध, पञ्चविधो वा। — कणादरहस्यम् ११५-१६।

२. मानस एव सर्वत्र सशयो विद्युत्सपाते धर्मिणि दृष्टे सत्यन्धकारेऽपि कोटिस्मृतिमत सशयदर्शनात्। वही पृ० ११६।

३ स सशयो मतिर्या स्यादेकत्राभावभावयो.।
साधारणादिधर्मस्य ज्ञान सशयकारणम्।

भाषापरिच्छेद १३०

४. विप्रतिपतिस्तु शब्दो नित्यो न वेत्यादि शब्दात्मिका न सशयकारणम्। शब्दव्याप्तिज्ञानादीना निश्चयमात्रजनकत्वरवाव्यात्।

—न्यायमुक्तावली पृ० ४७८

५. प्रमाण प्रमेय सशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्त अवयव तर्क निर्णय वाद जल्प वितण्डा हेत्वाभासच्छल जाति निग्रहस्थानाना तत्त्वज्ञानान्निः श्रेयसाधिगम'। न्यायदर्शन १.१.१-

पृष्ठ १२३

१. मिथ्याज्ञान विपर्यय । तर्कसंग्रह पृ० १५७

२ तदभाववति तत्प्रकारको निश्चय इत्यर्थ । तर्कदीपिका पृ० १५७

३. विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् । योगदर्शन १ ८.

४. न तद्रूपो न स्वसमानाकारो यो विषयस्तत्प्रतिष्ठ तद्विशेष्यकमित्यर्थ । भ्रमस्थले ज्ञानाकारस्यैव विषये समारोप इति भाव, संशयस्याप्यत्रै-वान्तर्भाव । अत्र च शास्त्रेऽन्यथाख्यातिसिद्धान्तो न तु साख्यवद-विवेकमात्रम् । योगवार्तिक पृ० ३३

पृष्ठ १२४

१ अन्यत्र शुक्त्यादौ अन्यस्य कार्यत्वेन पारतन्त्र्याद्धर्मस्य रजता-देरध्यासस्तादात्म्यधीर्देशान्तरगत हि रजतादिदोषात्पुरोवर्त्यात्मना भाति ....। न्यायनिर्णय पृ० २२

२. न शून्यमितिवक्तव्यमशून्यमिति वा भवेत् ।
उभय नोभय चेति प्रज्ञप्त्यर्थ तु कथ्यते ।। माध्यमिककारिका

३ नात्यन्तमसतोऽर्थस्य सामर्थ्यमवकल्पते ।
व्यवहारधुर वोढुमियतीमनुपप्लुताम् । न्यायमञ्जरी पृ० १६४

४. विज्ञानमेवखल्वेतद् गृह्णात्यात्मानमात्मना ।
बहिर्निरूप्यमाणस्य ग्राह्यस्यानुपपत्तित ।
बुद्धि प्रकाशमाना च तेन तेनात्मना बहि ।
तद्वहत्यर्थशून्यापि लोकयात्रामिहेदृशीम् । न्यायमञ्जरी पृ० १६४

पृष्ठ १२५

१. न चेदमत्यन्तमसन्निरस्तसमस्तस्वरूपमलीकमेवास्तु, तस्यानु-भवगोचरत्वानुपपत्ते । ...तस्मान्न सत्, नापि सदसत् परस्पर-विरोधात् इत्यनिर्वाच्यमेवारोपणीय मरीचिषु तोयमास्थेय तदनेन क्रमेणाध्यस्त तोय परमार्थतोयमिव, अत एव पूर्वदृष्टमिव । तत्वत. तु न तोय न च पूर्वदृष्ट, किन्त्वनृतमनिर्वाच्यम् । भामती पृ० २१

२. न स्यात् (अनिर्वचनीयख्याति) भ्रमदशाया रजतत्वेन बाधदशाया शुक्तित्वेन निर्वचनात् । कणाद रहस्यम् पृ० ११८

३. अख्यातिस्त्वर्थं स्तु नहि शुक्तौ रजतत्वं रजताभेदो वा भासते कारणा-
भावात्। भ्रमरूपविशिष्टज्ञानकल्पने कल्पनागौरवात्, प्रवृत्तेरन्यथै-
वोपपत्तेः। पुरोवर्त्तिज्ञाने रजतस्मरण दोषवशात्। प्रमुष्टतत्ता
सज्ञानयोः तद्विषययोश्च भेदाग्रह प्रवृत्तिकारणम्।

कणाद रहस्यम् पृ० ११८

पृष्ठ १२७

१ आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्याति ख्यातिरन्यथा।
तथा निर्वचनख्यातिरित्येतत्ख्यातिपञ्चकम्।

सर्वदर्शन सग्रह

२ स चाय विपर्ययो द्विरूपः स्मर्यमाणारोपोऽनुभूयमानारोपश्च। स्मर्यमाणा-
रोपे त्वारोपस्यापकतया सारूप्यग्रहस्तन्त्रमित्याचार्या.। अनुभूयमाना-
रोपेऽपि तिक्तो गुडः पीतः शख इत्यादौ सारूप्यससर्गग्रहोस्त्येव,
अत्र हि रसनगतपित्तद्रव्यस्य तैक्त्य नयनगतपित्तद्रव्यस्य पीतिमा-
चारोप्येते। तत्र निम्बे तैक्त्यस्य चिरबिल्वे पीतिम्नश्चाससर्गाग्रह-
सत्वात्। इति न्यायाचार्या।

कणादरहस्यम्। पृ० ११९-१२०

पृष्ठ १२८

१ अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूह तर्क।

न्यायदर्शन ११४०

२ कथ पुनरय तत्त्वज्ञानार्थो न तत्वज्ञानमेवेति? अनवधारणात्।
अनुजानात्ययमेकतर धर्म कारणोपपत्त्या, नत्ववधारयति।

वात्स्यायनभाष्य पृ० ३५

३ ·······व्याप्तिग्रहे तर्कः क्वचिच्छकानिवर्तक'। भाषापरिच्छेद १३७

४. व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः। तर्कसंग्रह पृ० १५८

५ तत्राविद्या सशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्नलक्षणा। (पृ० ८४)
··· अनध्यवसायोऽपि प्रत्यक्षानुमानविषय एव सजायते।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ८४, ९०

६. अथाविद्या । सा च संशयविपर्ययस्वप्नानध्यवसायभेदाच्चतुर्धा । (पृ० ११५) अनध्यवसायोऽपि किस्विदिदमितिज्ञानम् ।

कणाद रहस्यम् पृ० ११५, १२१ ।

७. अनध्यवसायोऽपि प्रत्यक्षानुमानविषय एव सञ्जायते । तत्र प्रत्यक्षविषये तावत्……यथा वाहीकस्य पनसादिष्वनध्यवसायो भवति । तत्र सत्ता द्रव्यत्व पृथिवीत्व वृक्षत्व रूपवत्वादिशाखाद्यपेक्षोऽध्यवसायो भवति। पनसत्वमपि पनसेत्वनुवृत्तमाम्रादिभ्यो व्यावृत्त प्रत्यक्षमेव केवल तूपदेशाभावाद्विशेषसज्ञा प्रतिपत्ति र्न भवति । अनुमानविषयेऽपि—नारिकेलद्वीपवासिनः सास्नामात्रदर्शनात् को नु खल्वय प्राणी स्यादित्यनध्यवसायो भवति । —प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ६०-६१ ।

पृष्ठ १२६

१ सचाय पञ्चविध. आत्माश्रयान्योन्याश्रयचक्रकानवस्थातदन्यबाधितार्थप्रसङ्गभेदात् । स्वस्य स्वापेक्षित्वेऽनिष्टप्रसङ्ग आत्पाश्रय, सचोत्पत्तिस्थितिज्ञप्तिद्वारा त्रेधा । ·· ··

२. तदपेक्ष्यापेक्षित्वनिबन्धनोऽनिष्टप्रसङ्गोऽन्योन्याश्रय । सोऽपि पूर्ववत्त्रेधा । तदपेक्ष्यापेक्ष्यपेक्षित्वनिन्धनोऽनिष्टप्रसङ्गो चक्रकम् …… अस्यापि पूर्ववत्त्रैविध्यम् । अव्यवस्थितपरम्परारोपाधीनानिष्टप्रसङ्गोऽनवस्था ।…… · तदन्यवाधितार्थप्रसगस्तु धूमा यदि वह्नि व्यभिचारी स्याद् वह्निजन्या न स्यात् इत्यादि ।

न्यायदर्शन विश्वनाथवृत्ति पृ० २१,२२

पृ० १३१

१ (क) तत्राविद्या चतुर्विधा सशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्न लक्षणा ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ८५

(ख) अथाविद्या, सा च सशयविपर्ययस्वप्नानध्यवसायभेदाच्चतुर्धा ।

कणाद रहस्यम् पृ० ११५

२. उपरतेन्द्रियग्रामस्य प्रलीनमनस्कस्येन्द्रियद्वारेणैव यदनुभवन मानस तत् स्वप्नज्ञानम् । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ६१

पृष्ठ १३२

१. (क) स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बन वा । योगदर्शन २.३८

(ख) स्वाप्नज्ञानालम्बन···तदाकार योगिन चित्त स्थितिपदं लभते।
—योग भाष्य पृ० १०५

२ (क) उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानीति समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद् बोद्धव्यम्। प्रमीयतेऽनेनेतिकरणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्द·।
न्याय भाष्य पृ० ११

(ख) 'प्र' शब्द विशिष्टेन 'मा'धातुना प्रत्याय्यते तत्करणत्व प्रमाणत्वम्।
न्याय सूत्रवृत्ति पृ० ६

पृ० १३३

२. साधनाश्रयाव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमाव्याप्त प्रमाणम्।
सर्वदर्शन सग्रह पृ० ६०

पृष्ठ १३४

१. असाधारण कारण करणम्। तर्क सग्रह पृ० ७४

२ (क) एव सति सामान्यभूताक्रिया वर्त्तते। तस्याः निवर्त्तक कारकम्।
पातञ्जलमहाभाष्य २ ४ ३ ३३ भाग २ पृ० २४६

(ख) क्रियान्वयित्वरूपस्य कारकत्वस्य कारकलक्षणत्वेनाभ्युपमात्।
विभक्त्यर्थ निर्णय पृ० ८

(ग) विभक्त्यर्थद्वारात्रियान्वयिसत्क्रिया निमित्तम् कारकम्।
व्याकरण सुधानिधि १.४ २२

३. साधकतम करणम्। अष्टाध्यायी १ ४ ४२

४ असाधारणमिति। व्यापारवदसाधारण कारण करणमित्यर्थः।
न्यायबोधिनी पृ० २५

पृष्ठ १३५

१. व्यापारत्वञ्च तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम्। भाषारत्न पृ० २५

२. फलायोगव्यवच्छिन्नत्वमेव करणत्वम्। तच्च येन येन फलमुत्पद्यते तत्रैव तिष्ठति इति मीमासका। भाषारत्न पृ० ७२

३. कार्य प्रागभावप्रतियोगि। तर्क सग्रह पृ० ७७।

पृष्ठ १३६

१. अनादि: सान्तः प्रागभाव, उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य।
सादिरनन्त प्रध्वस, उत्पत्त्यनन्तर कार्यस्य। तर्क सग्रह पृ० १६६

पृष्ठ १३७

१. इह कार्यकारणभावे चतुर्धा विप्रतिपत्तिः प्रसरति, असत सज्जायते इति बौद्धा सङ्गिरन्ते, नैयायिकादय सतोऽसज्जायते इति, वेदान्तिन सतो विवर्त्त कार्यजात न तु वस्तुसदिति, साख्या पुन सत.सज्जायते इति। सर्वदर्शन सग्रह पृ० ११८

पृष्ठ १३८

१ (क) असदकरणात् उपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम्।

सांख्यकारिका ६

(ख) असदकरणात् सत्कार्य कारणव्यापारात्प्रागपीति शेष। यद्यपि बीजमृत्पिण्डादि प्रध्वंसानन्तरमङ्कुराद्युपलभ्यते, तथापि न प्रध्वसस्य कारणत्वम्, अपितु भावस्यैव बीजाद्यवयवस्य। अभावात्तु भावोत्पत्तौ तस्य सर्वत्र सुलभत्वात् सर्वदा कार्योत्पत्ति-प्रसगः।··· ···असच्चेत् कारणव्यापारात्पूर्वं नास्य सत्व कर्त्तुं केनापि शक्यम्। नहि नीलं शिल्पिसहस्रेणापि पीत कर्त्तुं शक्यम्। ··· इतश्च कारणव्यापारात्प्राक् सदेव कार्यम् 'उपादानग्रहणात्' ·· उपादानं कार्यस्य सम्बन्धात्। ··· ·····'सर्वसभवाभावात्' असबद्धस्य जन्यत्वेऽसबद्धत्वा-विशेषेण सर्वं कार्यजात सर्वस्माद् भवेत्···· ····। शक्तस्य शक्यकरणात् इति। 'कारणभावाच्च' कार्यस्य कारणात्म-कत्वात्। नहि कारणाद्भिन्न कार्यम्, कारण च सदिति कथ तदभिन्न कार्यमसद् भवेत्।

साख्यतत्वकौमुदी पृ० ६७-७३।

पृष्ठ १४४

१. कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्। तर्क संग्रह पृ० ७५

२ (क) अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता ।
कारणत्व भवेत् ······· भाषा परिच्छेद १६

(ख) कार्यं प्रति नियतत्वे सति पूर्ववृत्तित्व कारणत्वम् । · ··
न्यायबोधिनी पृ० २६

(ग) नियतान्यथासिद्धभिन्नत्वे सति कार्याव्यवहितपूर्वक्षणा-
वच्छिन्न - कार्याधिकरणदेशनिरूपिताधेयतावदभाव
प्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत् कारणम् ।
वाक्यवृत्ति कारण प्रकरण

३. नियतवर्त्तिनो दण्डरूपादेरपि कारणत्व स्यादतोऽन्यथासिद्धपदमपि
कारणलक्षणे निवेशनीयम् । न्याय बोधिनी पृ० २६

पृष्ठ १४५

१ अन्यथासिद्धि त्रिविधा, येन सहैव यस्य य प्रति पूर्ववृत्तित्वमव-
गम्यते त प्रति तेन तदन्यथासिद्धम् । यथा तन्तुना तन्तुरूपत्व च पट
प्रति । अन्य प्रति पूर्ववृत्तित्वे ज्ञाते एव यस्य य प्रति पूर्ववृत्तित्वमव
गम्यते त प्रति तदन्यथासिद्धम् । यथा शब्द प्रति पूर्ववृत्तित्वे ज्ञाते
एव पट प्रति आकाशस्य । अन्यत्र क्लृप्तस्य नियतपूर्ववर्त्तिन एव
कार्यसभवे तत्सहभूतमन्यथासिद्धम्, यथा पाकस्थले गन्ध प्रति रूप-
प्रागभावस्य । एव च अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तित्वं कारणम् ।
तर्क दीपिका पृ० ७७

२ येन सह पूर्वभाव कारणमादाय वा यस्य
अन्य प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम्
जनक प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते
अतिरिक्तमथापि यद् भवेन्नियतावश्यकपूर्ववर्त्तिन ।
एते पञ्चान्यथा सिद्धा । भाषापरिच्छेद १९-२१

पृष्ठ १४८

१. (क) कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं कारणमसमवायि-
कारणम् । तर्क सग्रह पृ० ७९

(ख) समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता या समवाय-स्वसम-

वायिसमवेतत्वान्यतरसम्बन्धावच्छिन्ना कारणता तच्छालित्वम् ।

तर्क किरणावली पृ० ७९

(ग) समवाय–स्वसमवायिसमवायान्यतरसम्बन्धेन कार्येण सहैकस्मिन्नर्थे समवायेन प्रत्यासन्नत्वे सति आत्मविशेषगुणान्यत्वे सति कारणमसमवायिकारणम् ।

सिद्धान्तचन्द्रिका कारण खण्ड

(घ) कार्यैकार्थकारणैकार्थान्यतरप्रत्यासत्त्या समवायिकारणे प्रत्यासन्न कारण ज्ञानादिभिन्नमसमवायिकारणमिति सामान्यलक्षण पर्यवसितम् । —न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पृ० ११४-११५ ।

पृष्ठ १५०

१. अधिष्ठानं च कर्त्ता च करण च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा: दैव चैवात्र पञ्चमम् ।
तत्रैव सति कर्त्तारमात्मान केवल तु य ।

गीता १८. १४

पृष्ठ १५२

१. तत्रानुभूतिः प्रत्यक्षात्मिकैवेति चार्वाका', अनुमितिरपीति कणादसुगतौ, शाब्दोऽपीति साख्या., उपमितिरपीति केचिन्नैयायिकैकदेशिनः, अर्थापत्तिरपीति प्राभाकरा', अनुपलब्धिरपीति भाट्टा. वेदान्तिनश्च, सम्भवैतिह्यरूपे अपीति पौराणिका ।

दिनकरी पृ० २३३

पृष्ठ १५३

१ (क) इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मक प्रत्यक्षम् । न्याय सूत्र १.१.४

(ख) इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्षम् ।··· अथवा ज्ञानाकरणक ज्ञान प्रत्यक्षम् । न्यायमुक्तावली पृ० २३३, २३५ ।

(ग) इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान प्रत्यक्षम् । तर्क सग्रह पृ० ८०

२. अक्षमक्षम्प्रतीत्योत्पद्यते तत्प्रत्यक्षम् । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ९४

३. प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम् । सांख्यकारिका ५

४. ज्ञान चैतन्य ब्रह्मेत्यनर्थान्तरम् । वेदान्त परिभाषा टिप्पणी पृ० १५

५. अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषय वृत्तिः प्रत्यक्षम् । वात्स्यायन भाष्य पृ० १०

६. आत्मा मनसा सयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेनेति ।
वात्स्यायन भाष्य पृ० १२

पृष्ठ १५४

१ इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मक प्रत्यक्षम् । न्याय सूत्र १ १ ४

पृष्ठ १५५

१ प्रमाण प्रमेय सशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्तावयव तर्क निर्णय वाद-जल्प वितण्डा हेत्वाभासच्छल जाति निग्रहस्थानाना तत्वज्ञानान्नि श्रेयसाधिगम । न्यायसूत्र १.१.१

२ (क) अक्षमक्ष प्रतीत्योत्पद्यते इति प्रत्यक्षम् । अक्षाणीन्द्रियाणि ।
प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ९४

(ख) इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्षम् । न्यायमुक्तावली पृ० २३३

पृष्ठ १५७

१. सामान्यलक्षणमित्यत्र लक्षणशब्दस्य विषयोऽर्थः, तेन सामान्यविषयक ज्ञान प्रत्यासत्तिरित्यर्थो लभ्यते । न्यायमुक्तावली पृ० २७७

पृष्ठ १५८

१ एव सन्निकर्षषट्कजन्य ज्ञान प्रत्यक्षम्, तत्करणमिन्द्रियम्, तस्मा-दिन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाणमिति । तर्कसग्रह पृ० ८६

पृष्ठ १५९

१ तत्राद्य (निर्विकल्पक) वैशिष्ट्याविषयक निष्प्रकारक वा ।
कणादरहस्यम् पृ० ६१ ।

२ नामजात्यादिविशेषणविशेष्यसम्बन्धावगाहि ज्ञानम् (सविकल्पकम्) ।
तर्कदीपिका पृ० ८२ ।

पृष्ठ १६०

१. न तत्र (निष्प्रकारकज्ञाने) प्रमाणमिति चेत् न विशिष्टज्ञानस्यैव

तत्र प्रमाणत्वात् । नहि विशेषणज्ञानमन्तरेण विशिष्टज्ञानमुत्पद्यते अनुमित्यादौ तथा दर्शनात् । कणादरहस्यम् पृ० ६१

२. (क) गौरिति प्रत्यक्षं विशेषणज्ञानजन्य विशिष्टज्ञानत्वादनुमितिवत् । कणादरहस्यम् पृ० ६१

(ख) ननु निर्विकल्पके कि प्रमाणमिति चेत् । न 'गौ' रिति विशिष्ट-ज्ञान विशेषणज्ञानजन्य, विशिष्टज्ञानत्वात् दण्डीति ज्ञानवत्' इत्यनुमानस्य प्रमाणत्वात् । विशेषणज्ञानस्यापि सविकल्पकत्वे अनवस्थाप्रसङ्गात् निर्विकल्पकत्वसिद्धिः । तर्कदीपिका पृ० ८१

पृष्ठ १६३

2. Sensation properly expresses that change in the state of the mind which is producted by on impression upon an organ of sense . perception on the other-hand expresses the knowledge or intination we obtain by means of our sensations concerning the qualities of mat

Fleming . Vacabulary of philosophy Page 443

पृष्ठ १६४

१ यदा निविकल्पानन्तर सविकल्पक नामजात्यादियोजनात्मक डित्थोऽय, ब्राह्मणोऽय, श्यामोऽयमिति विशेषणविशेष्यावगाहि ज्ञानमुत्पद्यते, तदेन्द्रियार्थसन्निकर्ष कारणम् । निर्विकल्पक ज्ञानमवान्तरव्यापार सविकल्पक ज्ञान फलम् । तर्कभाषा पृ० २०

पृष्ठ १६५

१. सन्निकर्षषट्कजन्य ज्ञान प्रत्यक्षम् । तत्करणमिन्द्रियम्, तस्मादिन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाणमिति । तर्कसग्रह ८६

२ सन्निकर्षश्चैषा सयोग. सयुक्तसमवाय: सयुक्तसमवेतसमवाय: समवाय समवेतसमवाय विशेषणविशेष्यभावश्चेति । कणादरहस्यम् पृ० ८६

पृष्ठ १६६

१ येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते तेनेन्द्रियेण तद्गतं सामान्यं तत्समवाय: तद-भावश्च गृह्यते । तर्ककौमुदी पृ० १०

२. कर्णविवरवर्त्याकाशस्य श्रोत्रत्वात् । तर्कसंग्रह पृ० ८४

पृष्ठ १६८

१ (क) उद्भूतस्पर्शवद् द्रव्य गोचर सोऽपि च त्वच·
रूपान्यच्चक्षुषो रूप रूपमत्रापि कारणम् ।—भाषापरिच्छेद ५६

(ख) त्वगिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षेपि रूप कारणम् । तथा च बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे रूप कारणम् । नवीनास्तु बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे न रूप कारण प्रमाणाभावात्, किन्तु चाक्षुषप्रत्यक्षमात्रे रूप स्पार्शनप्रत्यक्षे स्पर्श कारणम्, अन्वयव्यतिरेकात् । न्यायमुक्तावली पृ० २४३

पृष्ठ १६९

१ नवीनास्तु बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे न रूप कारण, प्रमाणाभावात्, किन्तु चाक्षुषप्रत्यक्षे रूप स्पार्शनप्रत्यक्षे स्पर्शः कारणमन्वयव्यतिरेकात् । वही पृ० २४३

२. (क) एवमात्मापि मनोग्राह्यः । वही पृ० २५१

(ख) अहकारास्याश्रयोऽय मनोमात्रस्यगोचरः । भाषापरिच्छेद ५०

पृष्ठ १७२

१ तर्कितप्रतियोगिसत्वविरोध्यनुपलब्धिः । तर्कदीपिका पृ० ८५

पृष्ठ १७३

१. तर्कितमारोपित यत्प्रतियोगिसत्व तद्विरोधिनी'''अनुपलब्धि ।
तर्कदीपिका प्रकाश पृ० २४४-४५

२. तर्किता आपादिता प्रतियोगिनो घटादे. सत्वस्य सत्वप्रसक्ते. विरोधिनी या उपलब्धिः तत्प्रतियोगिकोऽभावोऽनुपलब्धि ।
तर्कदीपिका प्रकाश पृ० २४४

पृष्ठ १७४

१. विशेषणता विशेषणात्मिका; विशेष्यता विशेष्यात्मिका, नत्वतिरिक्तेत्यतो न गौरवमितिभावः । तर्क किरणावली पृ० ८६

२. नहि फलीभूतज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वे तत्करणस्य प्रत्यक्ष-प्रमाणतानियत्व-

मस्ति। दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्य वाक्यस्य प्रत्यक्षप्रमाणाभिन्नप्रमाणत्वाभ्युपगमात् ।

वेदान्तपरिभाषा पृ० २५

पृष्ठ १७५

I. "First Our senses conversant about particular sensible objects, do convey into the mind several distinct perceptions of things, according to those various ways wherein those objects do affect them, and thus we come by those ideas we have of yellow white, heat, cold, soft, hard, bitter sweet, and all those which we call sensible qualities, which when I say that the senses convey into the mind, I mean, they from external objects convey into the mind what produces there those perceptions This great source of most of the ideas we have, depending wholly upon our senses, and derived by them to the understanding, I call, sensation

"Secondly The other fountain from which experience furnisheth the understanding with ideas, is the perception of the operations of our own minds within us as it is employed about the ideas it has got, which operations when the soul comes to reflect on and consider, do furnish the understanding with another set of ideas which could not be had from things without, and such are perception, thinking, doubting, believing, reasoning, knowing willing, and all the different actings of our own minds, which we being conscious of and observing in our selves, do from these receive into our understanding as distinct ideas, as we do from bodies affecting our senses," ... ... "The understanding seems to me not to have the least glimmering of any ideas which it doth not receive from one of these two External objects furnish the mind with the ideas of sensible qualities, wihch are all those differnt perceptions they produce in us; and the mind furnishes the understanding with ideas of its own operations."

Locke · Essay on Human Understanding, Bk II ch. 1, sec 3, 4

२. प्रत्यक्षपरिकल्पितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः ।
तत्वचिन्तामणि भाग २. पृ० १८

पृष्ठ १७६

१. उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधन हेतुः । न्यायदर्शन १ १ ३४

२. साहचर्यनियमो व्याप्तिः । तर्कसंग्रह पृ० ६१

पृष्ठ १७७

१. व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान परामर्श. । तर्कसग्रह पृ० ६०

पृष्ठ १७६

१ येन हि अनुमीयते तदनुमानम् । लिङ्गपरामर्शेनानुमीयतेऽतो लिङ्ग-परामर्शोऽनुमानम् । तर्कभाषा पृ० ७१

२ स्वयमेव भूयो दर्शनेन यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निरिति महानसादौ-व्याप्ति गृहीत्वा पर्वतसमीप गत तद्गते चाग्नौ सन्दिहान पर्वते धूम पश्यन् व्याप्ति स्मरति 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्नि.' इति, तदनन्तर वह्निव्याप्यधूमवानय पर्वत इति ज्ञानमुत्पद्यते । अयमेव लिङ्गपरामर्श इत्युच्यते । तर्कसग्रह पृ० ६३

३ मितेन लिङ्गे नार्थस्य (लिङ्गिनः) पश्चान्मानमनुमानम् ।
न्यायदर्शन वात्स्यायनभाष्य १,१,३

४. व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता ज्ञान परामर्श ।
परामर्शजन्य ज्ञान अनुमितिः ।

तर्कसग्रह पृ० ६०

पृष्ठ १८०

१. (क) सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभाव पक्षता ।
न्याय मुक्तावली ३०६

(ख) सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभाव. पक्षता ।
तर्कदीपिका पृ० ८६

पृष्ठ १८१

१. सिसाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्ध्यभाव' पक्षता ।
न्यायमुक्तावली पृ० ३०६

२. उपाध्यायास्तु सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धिप्रत्यक्षसामग्र्योरन्यतरस्याभाव. पक्षता । तेन सिद्धिकाले समानविषयकप्रत्यक्षसामग्रीकालेऽपि नानुमित्यापत्तिरित्याहुः । दिनकरी पृ० ३१६

पृष्ठ १८२

१ नवीनैरनुमित्युद्देश्यत्व पक्षत्वमिति स्थिरीकृतम् ।
न्यायबोधिनी पृ० ४३

२ यादृश यादृश सिषाधयिषासत्वे सिद्धिसत्वे यल्लिङ्गकानुमितिस्तादृशतादृशसिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावस्तल्लिङ्गकानुमितौ पक्षता ।
न्यायमुक्तावली पृ० ३११-३१२

३ सन्दिग्धसाध्यवान् पक्ष । तर्कसग्रह पृ० १०५

४ व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्व पक्षधर्मता । तर्कसग्रह पृ० ९२

पृष्ठ १८३

१. व्याप्त्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपितपक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविशेष्यताशालिनिश्चय परामर्श: । तर्कदीपिका प्रकाश पृ० २५५

२. यत्र यत्र धूमस्तत्रतत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्ति ।
तर्कसंग्रह: पृ० ९१

३ हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्य व्याप्ति.।
तर्कदीपिका पृ० ९२,

पृष्ठ १८४

१ प्रतियोगिताया साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्व निवेशनीयम् ।
तर्कदीपिका प्रकाश पृ० २५८

२ व्याप्तिः साध्यवदन्यस्मिन्नसम्बन्ध उदाहृत. ।
अथवा हेतुमन्निष्ठविरहाप्रतियोगिना
साध्येन हेतोरेकाधिकरण्य व्याप्तिरुच्यते ।
भाषापरिच्छेद ६८-६९ ।

३ साधनसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगि साध्यसामानाधिकरण्य व्याप्तिः । उपस्कारभाष्य पृ० ९२

४. अनौपाधिक: सम्बन्धो व्याप्ति. । वही पृ० ९२

पृष्ठ १८६

१. अथ तत्पूर्वक त्रिविधमनुमान पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टञ्च ।
न्यायदर्शन १,१,५ ।

२. तत्सामान्यतो लक्षितमनुमान विशेषतस्त्रिविधम्: पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टञ्च । तत्र प्रथम तावत् द्विविध वीतमवीतञ्च ।
सांख्यतत्वकौमुदी पृ० २१

३ यत्तु स्वय धूमादग्निमनुमाय परप्रतिपत्त्यर्थं पञ्चावयववाक्य प्रयुक्ते तत्परार्थानुमानम् । तर्कसग्रह पृ० ६५

पृष्ठ १८७

१ पञ्चावयवेन वाक्येन सशयितविपर्यस्ताऽयुत्पन्नाना परेषा स्वनिश्चितार्थप्रतिपादन परार्थानुमान विज्ञेयम् । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ११३

२ न्यायाप्रयोज्यानुमान नाम स्वार्थानुमानम् । तत्प्रयोज्यानुमान परार्थानुमानम् । न्यायबोधिनी पृ० ३८

३ परार्थानुमान शब्दात्मक स्वार्थानुमान तु ज्ञानात्मकमेव ।
न्यायबिन्दु पृ० २१

४ पञ्चावयवेन वाक्येन'''स्वनिश्चितार्थप्रतिपादन परार्थानुमानम् ।
प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ११३

पृष्ठ १८८

१ परार्थानुमानस्य परम्य मध्यस्थस्यार्थ. प्रयोजन साध्यानुमिति रूप यस्मादितिव्युत्पत्त्या परसमवेतानुमितिकरणलिङ्गपरामर्शोर्थः । अतएव स्वार्थानुमितिपरार्थानुमित्योलिङ्गपरामर्श एव करणमित्यग्रिममूलमपिसङ्गच्छते । तथापि परार्थानुमानप्रयोजके पञ्चावयववाक्ये परार्थानुमानशब्दस्यौपचारिक. प्रयोग इति ।
तर्कदीपिका प्रकाश २६५-२६८

पृष्ठ १८९

१. स्वार्थं स्वानुमितिहेतुः । तथाहि–स्वयमेव भूयो दर्शनेन यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति महानसादौ व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीप गतः, तद्गते चाग्नौ सन्दिहानः पर्वते धूम पश्यन् व्याप्तिं स्मरति–यत्र यत्र

धूमस्तत्र तत्राग्नि इति तदनन्तरं 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत' इति ज्ञानमुत्पद्यते । अयमेव लिङ्गपरामर्श इत्युच्यते । तर्कसंग्रह पृ० ६३

२ अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टं च ।
न्यायदर्शन १,१,५

३ पूर्वं—कारणम् तद्वत्=तल्लिङ्गकम्पूर्ववत्, यथा मेघोन्नत्या विशेषेण वृष्ट्यनुमानम् शेषं=कार्यं तद्वत्—तल्लिंगकं शेषवत्, यथा नदीवृद्ध्या वृष्ट्यनुमानम् । सामान्यतोदृष्टं=कार्यकारणभिन्नलिंगकम् ।
विश्वनाथवृत्ति पृ० ७

पृष्ठ १९०

१ पूर्ववदिति यत्र यथापूर्वं प्रत्यक्षभूतयोरन्यतरदर्शनेनान्यतरस्याप्रत्यक्षस्यानुमानम्, यथा धूमेनाग्निरिति । शेषवन्नाम परिशेषः स च प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः, यथा सदनित्यमेवमादिना द्रव्यगुणकर्मणामविशेषेण सामान्यविशेषसमवायेभ्यो विभक्तस्य शब्दस्य, तस्मिन्द्रव्यगुणकर्मसंशये, न द्रव्यम् एकद्रव्यत्वात् न कर्म शब्दान्तरहेतुत्वात् यस्तु शिष्यते सोऽयमिति शब्दस्य गुणत्वप्रतिपत्तिः । सामान्यतोदृष्टं नाम यत्राप्रत्यक्षे लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धे केनचिदर्थेन लिङ्गस्य सामान्यादप्रत्यक्षो लिङ्गी गम्यते, यथेच्छादिभिरात्मा इच्छादयो गुणाः गुणाश्च द्रव्यसंस्थानाः तद्यदेषां स्थानं स आत्मेति । वात्स्यायन भाष्य पृ० १५

२ तत्र प्रथमं तावत् द्विविधं वीतमवीतञ्च । अन्वयमुखेन प्रवर्तमानं विधायकं वीतम् । व्यतिरेकमुखेन प्रवर्तमानं निषेधकमवीतम् । तत्रावीतं शेषवत् । वीतं द्वेधा—पूर्ववत् सामान्यतो दृष्टञ्च । तत्रैकं दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयं यत् तत्पूर्ववत् । पूर्वं प्रसिद्धं दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयमिति यावत् । तदस्य विषयत्वेनास्त्यनुमानज्ञानस्येति पूर्ववत् ।... अपरं चावीतं सामान्यतोदृष्टं अदृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयम् । सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ० २२ २३

पृष्ठ १९२

१ तत्तु द्विविधम्=दृष्टं सामान्यतोदृष्टञ्च । तत्र प्रसिद्धसाध्ययोरत्यन्तजात्यभेदेऽनुमानम् । यथा गव्येव सास्नामात्रमुपलभ्य देशान्तरे

ऽपिसास्नामात्रदर्शनाद् गवि प्रतिपत्ति । प्रसिद्धसाध्ययोरत्यन्तजाति-भेदे लिङ्गानुमेयधर्मसामान्यानुवृत्तितोऽनुमान सामान्यतोदृष्टम् ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १०४-१०५

पृष्ठ १६३

१. स्वयमेव भूयो दर्शनेन यत्र धूमस्तत्राग्निरिति महानसादौ व्याप्ति गृहीत्वा पर्वतसमीप गत, तद्गते चाग्नौ सन्दिहान पर्वते धूम पश्यन्व्याप्ति स्मरति यत्र धूमस्तत्राग्निरिति । तर्कसग्रह पृ० ६३ ।

१ व्यभिचारज्ञानविरहसहकृतसहचारज्ञानस्य व्याप्तिग्राहकत्वात् ।

तर्कदीपिका पृ० ६२

पृष्ठ १६६

१ उपाध्यभावग्रहणजनितसस्कारसहकृतेन साहचर्यग्राहिणा प्रत्यक्षेणैव धूमाग्न्योर्व्याप्तिरवधार्यते । तर्क भाषा पृ० ७६

पृष्ठ १६७

१. नहि युक्तिमनवगच्छन्कश्चिद विपश्चिद वचनमात्रेण सम्प्रत्ययभाग् भवति । -व्यक्ति विवेक पृ० २२

२ अनुमितिचरमकारणलिङ्गपरामर्शप्रयोजकशाब्दज्ञानजनकवाक्यत्वम वयवत्वम् । तत्वचिन्तामणि पृ० १४६६

पृष्ठ १६८

१. (क) साध्यनिर्देश प्रतिज्ञा । तर्क सग्रह पृ० ६६

(ख) प्रतिज्ञा उद्देश्यानुमित्यन्यूनानतिरिक्तविषयकशाब्दज्ञानजनक न्यायावयववाक्यम् । वैशेषिक उपस्कार पृ० २१६

२. हेतुश्च प्रकृतसाधनपञ्चम्यन्तो न्यायावयव ।

वैशेषिक उपस्कार पृ० २१६

पृष्ठ १६६

१. उदाहरणन्तु प्रकृतसाध्यसाधनाविनाभावप्रतिपादको न्यायावयव ।

वही पृ० २२०

२. उपनयस्त्वाविनाभावविशिष्टस्य हेतोः पक्षवैशिष्ट्यप्रतिपादको न्यायावयव । वही पृ० २२०

३. उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः ।
न्याय दर्शन १.१.३८

४. नियमनन्तु पक्षे प्रकृतसाध्यवैशिष्ट्यप्रतिपादको न्यायावयव. ।
वैशेषिक उपस्कार पृ० २२०

५. हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञाया पुनर्वचन निगमनम् । न्याय सूत्र १ १ ३९

६. निगम्यन्ते अनेन प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनया एकत्रेति निगमनम् ।
वात्स्यायन भाष्य पृ० ३२

पृष्ठ २०१

१ कथायामाकाङ्क्षाक्रमेणाभिधानमिति प्रथम साध्याभिधान विना 'कुत.'
इत्याकारक हेत्वाद्याकाङ्क्षाभावात् प्राथम्येन प्रतिज्ञाप्रयोग. ।
तत्व चिन्तामणि पृ० १४७०

पृष्ठ २०३

1. In a legitimate syllogism it is essential that there should be three and no more than three propositions, namely· the conclusion and the two (Major and minor) premises
Mill System of logic People's Ed. P. 108

२. प्रतिज्ञाया· पुनर्वचन निगमनम् । न्याय दर्शन १ २ ३९

पृष्ठ २०४

१. तच्च पञ्चतय केचिद्, द्वयमन्ये वय त्रयम् ।
उदाहरणपर्यन्तम्, यद्वोदाहरणादिकम् ।
शास्त्र दीपिका १ १ ५ पृ० ६४

२. तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिन· ।
ख्याप्येते, विदुषा वाच्यो हेतुरेव च केवल. ।
व्यक्ति विवेक पृ० ६५

३ न्यायो नाम अवयवसमुदाय । अवयवाश्च त्रय. एव प्रसिद्धा·
प्रतिज्ञाहेतूदाहरणरूपा उदाहरणोपनयनिगमनरूपाः वा,
न तु पञ्चावयवरूपा । वेदान्त परिभाषा पृ० १५१

पृष्ठ २०५

१ अङ्ग च द्वयमेव, व्याप्तिः पक्षधर्मताचेति । तच्चोभयमुदाहरणो
पनयाभ्यामेवाभिहितमिति ।
चित्सुखाचार्यकृता तत्वदीपिका पृ० ४०१

२. · ····एतान्येव त्रयोऽवयवा इ न्याय प्रवेश पृ० २

पृष्ठ २०६

1. A matter of rhetorical convenience, designed to bring to the recollection of heaver examples, in regard to which all parties are unanimous, and which are such as should constrain him to admit the universality of principal from which the conclusion follows.

   Ballantyne : Lectures on Nyaya Philosophy P. 36

2. But if we inquire more carefully we find that instance in Gotama's syllogism has its own distinct office, not to be strengthen or to limit the the universal proposition, but to indicate, if I may say so, its modality. Every Vyāpti must be course admit at least one instance. These instances may be either positive only, or negative only, or both positive and negative

   Thomson's Laws of thought, Appendix P. 296

पृष्ठ २०७

१ साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् ।

न्याय दर्शन १.१.३५

२ उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसहारो न तथेति वा साध्यस्योपनय. ।

वही १.२ ३८

३ व्याप्तिप्रतिपादक वचनमुदाहरणम् । तर्क दीपिका पृ० ९७

पृष्ठ २०९

१. लिङ्गमेवानुमितिकरण न तु तस्य परामर्शः, तस्य निर्व्यापारत्वेनाकरणत्वात्, लिङ्गस्य तु स एव व्यापार. ।

वैशेषिक उपस्कार पृ० २१६

पृष्ठ २१०

१ ननु व्याप्यत्वावच्छेदकप्रकारेण व्याप्तिस्मरण पक्षधर्मताज्ञानं तथा लाघवात्····· ···एवञ्च धूमो वह्निव्याप्यो धूमवांश्चा यमिति ज्ञानद्वयादेवानुमितिरस्तु ।

तत्त्वचिन्तामणि पृ० ६८९-९०

पृष्ठ २११

१. परामर्शस्य संस्कारो व्यापारः । तत्वचिन्तामणि पृ० ७८३

२ फलायोगव्यवच्छिन्नत्वमेव करणम् । भाषारत्न पृ० ७२

३. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्य प्रत्यक्षम् । न्यायसूत्र १,१,४

४. फलायोगव्यवच्छिन्नकारणत्वस्य व्यापारवदसाधारणकारणत्वापेक्षया गुरुत्वेन स्पष्टत्वाच्च । न्यायचन्द्रिका (नारायणतीर्थकृता) पृ० ८४

५ हेतुरपदेशो लिङ्ग प्रमाण करणमित्यनर्थान्तरम् । वैशेषिकसूत्र ६ २ ४

६ पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव स
अविनाभावनियमात, हेत्वाभासास्तथापरे । प्रमाणवार्तिक पृ० ८

पृष्ठ २१२

१ व्यावृत्त चाविपक्षेभ्य सपक्षेषु कृतान्वयम
व्याप्त्या पक्ष त्वसाध्य सा तदन्वयव्यतिरेकिवत् ।

तर्कभाषा प्रकाशिका पृ० १४४

२ असपक्ष विपक्षेभ्यो व्यावृत्त पक्षधर्मि तु ।
गतान्वय तु साध्येन तत् केवलव्यतिरेकि तत् । वही पृ० १४५

पृष्ठ २१३

१ सर्वेषु हेतुभिन्नेऽपि सपक्षेषु समन्वितम् ।
विपक्षशून्य पक्षस्य व्यापक केवलान्वयि । वही पृ० १४७

पृष्ठ २१४

१ ईश्वरप्रमाविषयत्व सर्वपदाभिधेयत्व च सर्वत्रास्तीति व्यतिरेकाभाव ।

तर्कदीपिका पृ० १०२

२. तत्कालीनतत्पुरुषीयतत्साध्यहेतुकानुमित्यौपयिकान्वयव्यतिरेकोभय-
व्याप्तिमत्त्वमेव तत्कालीनतत्पुरुष प्रति तत्साध्यककेवलान्वयि-
व्यतिरेकिहेतुत्वमित्यवश्य विलक्षणीयम् ।

रामरुद्रीयम् (तर्कदीपिका टीका) पृ० २८१

पृष्ठ २१५

१. जलादि त्रयोदशान्योन्याभावाना त्रयोदशसु प्रत्येक प्रसिद्धाना मेलन पृथिव्या साध्यते । तत्र त्रयोदशत्वावच्छिन्नभेदस्यैकाधिकरणवृत्तित्वाभावान्नान्वयित्वासाधारण्ये । प्रत्येकाधिकरणे प्रसिद्धया साध्य-

विशिष्टानुमितिर्व्यतिरेकव्याप्तिनिरूपणञ्चेति ।

तर्कदीपिका पृ० १०३-१०४

२ उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधन हेतु । तथावैधर्म्यात् ।

न्यायदर्शन १,१,३४-३५

पृष्ठ २१६

१ तच्चानुमानमन्वयिरूपमेकमेव न तु केवलान्वयि सर्वस्यापि धर्मस्य तन्मते (अद्वैतमते) ब्रह्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन अत्यन्ताभावप्रतियोगिसाध्यकत्वरूपकेवलान्वयित्वस्यासिद्धे । नाप्यनुमानस्य व्यतिरेकिरूपत्व साध्याभावे साधनाभावनिरूपितव्याप्तिज्ञानस्य साधनेन साध्यनुमितावनुपयोगात् । कथ तर्हि धूमादावन्वयव्याप्तिमविदुषोऽपि व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानादनुमिति, अर्थापत्तिप्रमाणादितिवक्ष्याम: । अतएवानुमानस्य नान्वयव्यतिरेकिरूपत्वम् - व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानस्यानुमित्यहेतुत्वात् । वेदान्तपरिभाषा पृ० १४८-५०

पृष्ठ २१७

१. साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वेन साधनस्य पक्षवृत्तित्वं सहकारि । सिद्धान्तचन्द्रोदय अनुमिति प्रकरण

२ (क) एतेषा च··· त्रयाणा मध्ये यो हेतुरन्वयव्यतिरेकी स पञ्चरूपोपपन्न एव स्वसाध्य साधयितु क्षमते । नत्वेकेनापि रूपेण हीन । तानि पञ्च रूपाणि पक्षसत्व, सपक्षसत्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व, असत्प्रतिपक्षत्वञ्चेति ।

तर्कभाषा पृ० ४२

(ख) त्रयाणा मध्ये योन्वयव्यतिरेकी स पञ्चरूपोपपन्न एव स्वसाध्य साधयति । तानि पञ्चरूपाणि पक्षधर्मत्वम् सपक्षसत्वम् विपक्षाद् व्यावृत्ति., अबाधितविषयत्वम् असत्प्रतिपक्षत्व चेति ।

तर्ककौमुदी पृ० १२

पृष्ठ २१८

१. साध्यविपरीतसाधक हेत्वन्तर प्रतिपक्ष इत्युच्यते । वही पृ० ४३

२. त्रैरूप्य पुनर्लिङ्गस्यानुमये (पक्ष) सत्वमेव, सपक्ष एव सत्वम्, असपक्षे (विपक्षे) चासत्वमेव निश्चितम् । न्यायबि

पृष्ठ २१९

१. (क) असिद्धत्वं निसितु पक्षधर्मत्वमुद्दिष्टम् । ततो विरुद्धं व्युदसितुं सपक्षे सत्वम् । अनन्तरमनैकान्तिकता निराकर्त्तुं पश्चाद् व्यावृत्ति.। समनन्तर कालात्ययापदिष्टता प्रत्यादेष्टुमबाधितविषयत्वम् । पश्चात् प्रकरणसमता प्रतिक्षेप्तुमसत्प्रतिपक्षत्वम् । तदनेन रूपेण हेत्वाभासपञ्चक निरस्तं वेदितव्यम् ।

तर्कभाषा प्रकाशिका पृ० १४८

२. केवलान्वयी चतूरूपोपपन्न एव स्व साध्य साधयति । तस्य हि विपक्षाद् व्यावृत्तिर्नास्ति विपक्षाभावात् । केवलव्यतिरेकी चतूरूपोपयुक्त. तस्य सपक्षे सत्व नास्ति सपक्षाभावात् । तर्कभाषा पृ० ४३-४४

पृष्ठ २२०

१. एषा पक्षहेतुदृष्टान्ताभासाना वचनानि साधनाभासम् ।

न्यायप्रवेश पृ० ७

२. साधयितुमिष्टोऽपि प्रत्यक्षादिविरुद्ध पक्षाभास । तद्यथा प्रत्यक्षविरुद्धः, अनुमानविरुद्ध, आगमविरुद्ध, लोकविरुद्ध, स्ववचनविरुद्ध, अप्रसिद्ध-विशेषण., अप्रसिद्धविशेष्य, अप्रसिद्धोभय., प्रसिद्धसम्बन्धश्चेति ।

वही पृ० २

३. असिद्धानैकान्तिकविरुद्धा हेत्वाभासाः । तत्रासिद्धश्चतु प्रकारः । तद्यथा—उभयासिद्धः अन्यतरासिद्ध, सन्दिग्धासिद्ध, आश्रयासिद्ध-श्चेति । वही पृ० ३

४. अनैकान्तिक षट् प्रकार-साधारण., असाधारण, सपक्षैकदेशवृत्ति-विपक्षव्यापी, विपक्षैकदेशवृत्तिः सपक्षव्यापी, उभयपक्षैकदेशवृत्ति, विरुद्धाव्यभिचारी चेति । वही पृ० ३

५. विरुद्धश्चतु प्रकार । तद्यथा धर्मस्वरूपविपरीतसाधन धर्मविशेष-विपरीतसाधनः, धर्मिस्वरूपविपरीतसाधन, धर्मिविशेषविपरीत-साधनश्चेति । वही पृ० ५

६. दृष्टान्ताभासो द्विविध. साधर्म्येण वैधर्म्येण च । तत्र साधर्म्येण तावद् दृष्टान्ताभासः पञ्चप्रकार । तद्यथा साधनधर्मासिद्धः, साध्यधर्मासिद्धः, उभयधर्मासिद्धः, अनन्वयः, विपरीतान्वयश्च । ...

वैधर्म्येणापि दृष्टान्ताभास. पञ्चप्रकार । तद्यथा—साध्याव्यावृत्त:, साधनाव्यावृत्त:, उभयाव्यावृत्त, प्रव्यतिरेक:, विपरीतव्यतिरेकश्चेति ।
वही पृ० ५-६

७ (क) साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्ति-प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुपपत्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्यु-पलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमा: ।
न्यायदर्शन ५-१-१

(ख) प्रतिज्ञाहानि: प्रतिज्ञान्तर प्रतिज्ञाविरोध प्रतिज्ञासन्यासो हेत्वन्तम्·········निग्रहस्थानानि । वही पृ० ५-२-१

८ यदा प्रतिवादी वादिना प्रयुक्त स्थापनाहेतु साध्विति मन्यते, लाभ-पूजाख्यातिकामस्तु जाति प्रयुङ्क्ते—कदाचिदय जात्युत्तरेणाकुली-कृतो नोत्तर प्रतिपद्यते उत्तराप्रतिपत्त्या च निगृह्यते, ततश्च मे विजय एव स्यात्, जातेरनभिधाने तु मम पराजय एव स्यात् । पराजयाच्च-वरमस्तु सन्देहोपीति' युक्त एव जाते प्रयोग' । न्यायखद्योत पृ० ८२८

पृष्ठ २२१

१ हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतु सामान्याद् हेतुवदाभासमाना. ।
न्यायभाष्य पृ० ३६

पृष्ठ २२२

१ (क) हेतुवदाभासमानत्वाद्धेत्वाभासा इति सिद्ध लक्षणम् ।
व्योमवती (प्रशस्तपाद भाष्यटीका) पृ० ६०४

(ख) हेतो केनापि रूपेण रहिता: कैश्चिदन्विता:
हेत्वाभासा: पञ्चविधा: गौतमेन प्रपञ्चिता: ।
तर्कभाषा प्रकाशिका पृ० १५३

२. हेतोराभास इति व्युत्पत्त्या हेत्वाभासपद हेतुदोषपरम् ।
हेतोराभासो यत्र इति व्युत्पत्त्या तत्पद (हेत्वाभासपद) दुष्टहेतु परम् ।
—भाषारत्न पृ० १८०

३. सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता: हेत्वाभासा: ।
न्यायसूत्र १.२.४

४. एकस्यैव स्नेहस्य अनैकान्तिक: विरुद्ध: इत्यादि पञ्चत्वव्यवहारकयम्

इत्यादि शंकायामुत्तरम्—उपधेयसंकरेऽप्युपाध्यसंकर इति न्यायाद्-दोषगतसख्यामादाय दुष्टहेतौ पञ्चत्वादि संख्याव्यवहार: ।

दीधिति हेत्वाभास प्रकरण

पृष्ठ २२३

१. (क) 'यद्विषयत्वेन लिङ्गज्ञानस्यानुमितिप्रतिबन्धकत्व, ज्ञायमान सदनुमितिप्रतिबन्धक यत्तत्व वा हेत्वाभासत्वम् ।

तत्वचिन्तामणि १५८०

(ख) यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वं हेत्वाभासत्वम् । तथाहि व्यभिचारादिविषयत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वात् दोषा' । न्यायमुक्तावली पृ० ३१८

२. अनुमिति प्रतिबन्धकयथार्थज्ञानविषयत्व हेत्वाभासत्वम् ।

तर्कदीपिका पृ० १०६

३ हेत्वाभासत्व तु ज्ञायमानत्वे सत्यनुमिति प्रतिबन्धकत्वम् ।

न्यायलीलावती प्रकाश पृ० ६०६

पृष्ठ २२४

१ अत्रानुमितिपदमजहल्लक्षणया अनुमितितत्करणान्यतरपरम् । तेन व्यभिचारादिज्ञानस्य परामर्शप्रतिबन्धकतयैवनिर्वाहादनुमित्य-प्रतिबन्धकत्वेऽपि व्यभिचारादिषु नाव्याप्ति । नीलकण्ठी पृ० २६१

२ तेनानुमितितत्करणज्ञानान्यतरविरोधित्व पर्यवस्यति ।

न्यायसूत्र वृत्ति १,२,४

३ यस्य हेतोर्यावन्ति रूपाणि गमकतौपयिकानि तदन्यतररूपहीनः स हेतुराभास' । वैशेषिक उपस्कारभाष्य पृ० ६७

४. अतोऽन्ये हेत्वाभासा । तर्कभाषा पृ० ४४

पृष्ठ २२५

१. अप्रसिद्धोनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेश । वैशेषिक सूत्र ३,१,१५

२ एतेनासिद्धविरुद्ध सन्दिग्धानध्यवसितवचनानामनपदेशत्वमुक्त भवति ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ११६

३. विपरीतमतो यत्स्यादेकेन द्वितयेन वा ।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्ग काश्यपोऽब्रवीत् । वही पृ० १००

४. वृत्तिकारस्तु 'अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः' इति सूत्रस्य चकारस्य बाधितसत्प्रतिपक्षसमुच्चयार्थतामाह । तेन "सव्यभिचार-विरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमातीतकाला पञ्चहेत्वाभासाः" इति गौतमीयमेवमतमनुधावति । परन्तु 'विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत्' इत्याद्यभिधानात् सूत्रकारस्वरसो हेत्वाभासत्रित्वे । चकारस्तूक्तसमुच्चयार्थं इति तत्वम् । वैशेषिक उपस्कार पृ० ६६

पृष्ठ २२६

१ (क) ते च सव्यभिचारविरुद्ध सत्प्रतिपक्षासिद्धबाधिता पञ्च ।

तत्वचिन्तामणि पृ० १०, ३६

(ख) तत्र हेतुदोषा पंच व्यभिचारविरोधसत्प्रतिपक्षासिद्धि-बाध भेदात् । भाषारत्न पृ० १८०

(ग) सव्यभिचारविरोधासिद्धबाधाः पञ्च हेत्वाभासा. ।

तर्कसंग्रह पृ० १०६

पृष्ठ २२७

१. यत्र प्रत्यक्षानुमानागमविरोध ·········सर्वः प्रमाणतो विपरीत-निर्णयेन सन्देहविशिष्ट कालमतिपतति इति सोऽयं कालात्ययेनापदि-श्यमान कालातीत । न्यायखद्योत पृ० १८६ १८७

२ विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत् ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १००

३. तदाभासास्तु चत्वार —असिद्धविरुद्धसव्यभिचारानध्यवसिता. ।

न्यायलीलावती पृ० ६०६

४. हेत्वाभासास्तु विरुद्धासिद्धसन्दिग्धास्त्रय एव न तु पञ्च षड् वा ।

कणादरहस्यम् पृ० १००

पृष्ठ २२८

1. Many Europian logicians regard material fallacies as being out of the provence of logic,

Notes on Torkasaṁgraha P. 217

२ उभयोः व्याप्तिग्रहपक्षधर्मतापहारेणैवानुमानदूषकत्वात्, । (न हेत्वा-भासत्वम्) सिद्धसाधनवत् । न्यायलीलावती पृ० ६०६

पृष्ठ २२९

१. अनैकान्तिक: सव्यभिचारः । न्यायसूत्र १. २. ५.

पृष्ठ २३०

१. नित्यत्वमेकोऽन्त. । अनित्यत्वमप्येकोऽन्त., एकस्मिन्नन्ते विद्यते इति ऐकान्तिको विपर्ययादनैकान्तिक , उभयान्तव्यापकत्वात् ।
वात्स्यायन भाष्य पृ० ४०

२ उभयकोट्युपस्थापकतावच्छेदकरूपवत्व तत्वम् । तच्च साधारणत्वादि।
तत्वचिन्तामणि पृ० १०६३

३ (क) आद्य साधारणोनैकान्तिक , द्वितीयस्त्वसाधारण:, तृतीयोऽनुपसहारी ।
उपस्कार भाष्य पृ० ९६

(ख) आद्य साधारणस्तु स्यादसाधारणकोऽपर ।
तथैवानुपसहारी त्रिधाऽनैकान्तिको भवेत् ।
कारिकावली ७२

(ग) सव्यभिचारोऽनैकान्तिक , स त्रिविध: साधारण असाधारण अनुपसहारिभेदात् ।
तर्कसग्रह पृ०

४ साधारणाद्यन्यतमत्वमनैकान्तिकत्वम् । न्याय मुक्तावली पृ० ३३०

५ (क) पक्षान्यसाध्यवत्तदन्यवृत्तित्व साधारणत्वम् ।
तत्वचिन्तामणि पृ० १०७६

(ख) पक्षसपक्षविपक्षवृत्ति. साधारण: । तर्क भाषा पृ० ९४

६ साध्याभाववद्वृत्ति साधारणः । तर्क सग्रह पृ० ११०

पृष्ठ २३१

१ (क) सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्त: पक्षमात्रवृत्तिरसाधारण: ।
तर्क सग्रह पृ० १११

(ख) सपक्षाद् विपक्षाद् व्यावृत्तो य पक्ष एव वर्त्तते सोऽसाधारणोऽनैकान्तिक ।
तर्क भाषा पृ० ९४

२ लक्षणन्तु सर्वसपक्षव्यावृत्तत्वम् । नतु विपक्षव्यावृत्तत्वमपि । व्यर्थविशेषणत्वात् ।
तत्वचिन्तामणि पृ १०९४

पृष्ठ १११

१. अन्वयव्यतिरेकदृष्टान्तरहितोऽनुपसहारि । तर्क संग्रह पृ० १११

२. अनुपसंहारी च अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यकादिः ।

न्याय मुक्तावली ३३१

३. केवलान्वयिधर्मावच्छिन्नपक्षको वा (अनुपसहारी) ।

तत्वचिन्तामणि पृ० ११०६

पृष्ठ २३३

१. उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसहारो न तथेति वा साध्यस्योपनननय: ।

न्यायसूत्र १. १. ३७

पृष्ठ २३५

१. स द्विविध· साधारणानैकान्तिकोऽसाधारणानैकान्तिकश्चेति ।

तर्क दीपिका पृ० ६४

२ अनैकान्तिक· षट् प्रकार साधारण:, असाधारण:, सपक्षैकदेशवृत्ति-विपक्षव्यापी, विपक्षैकदेशवृत्ति, सपक्षव्यापी, उभयपक्षैकदेशवृत्ति, विरुद्धाव्यभिचारी चेति । न्याय प्रवेश पृ० ३

पृ० २३६

१ (क) अनैकान्तिकभेदास्तु : पक्षत्रयव्यापको यथा अनित्यः शब्द. प्रमेयत्वात्, पक्षव्यापको विपक्षसपक्षैकदेशवृत्ति ····, पक्षसपक्षव्यापको विपक्षैकदेशवृत्ति ··· ··, पक्षविपक्षव्यापक: सपक्षैकदेशवृत्ति· · ··, पक्षत्रयैकदेशवृत्ति ··· · ,पक्षसपक्षैकदेशवृत्ति-विपक्षव्यापक ······पक्ष विपक्षैकदेशवृत्तिः सपक्ष व्यापक.··· ··।

न्यायसार पृ० १०

(ग) ········इत्यष्टावनैकान्तिकभेदानभिधाय··· ····· ।

न्यायतात्पर्यदीपिका पृ० १२६

२. सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद् विरोधी विरुद्धः । न्यायसूत्र १ २ ६

३. सोऽय हेतु· य सिद्धान्तमाश्रित्य प्रवर्त्तते तमेव व्याहन्तीति ।

वात्स्यायन भाष्य पृ० ४०

पृष्ठ २३७

१. एतेन व्याप्यत्वासिद्धिविरुद्धयो सग्रह । उपस्कार भाष्य पृ० ६५

२. साध्यानवगत सहचारः । तत्वचिन्तामणि पृ० १७४

३. य· साध्यवति नैवास्ति विरुद्ध उदाहृत· । कारिकावली ७४

४ (क) साध्याभावव्याप्तो हेतुः विरुद्धः । कणाद रहस्यम् १०१
(ख) साध्याभावव्याप्तो हेतु विरुद्ध । तर्क संग्रह पृ०
(ग) साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतु विरुद्ध । तर्क भाषा पृ० ६४

५. साध्यव्यापकाभाव प्रतियोगित्व विरुद्धत्वम् ।
तत्वचिन्तामणि पृ० १७७६

६. योह्यनुमेयेऽविद्यमानोऽपि तत्समानजातीये सर्वस्मिन्नास्ति तद्विपरीते-चास्ति स विपरीतसाधनाद्विरुद्ध. । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ११७

७ पक्षविपक्षयोरेव वर्त्तमानो हेतु विरुद्ध । न्यायसार पृ० ७

पृष्ठ २३८

१. विरुद्धश्चतु प्रकार तद्यथा धर्मस्वरूपविपरीत साधनः, धर्मविशेष-विपरीतसाधन., धर्मिस्वरूपविपरीतसाधन धर्मिविशेषविपरीत-साधनः । न्याय प्रवेश पृ० ५

२ विरुद्धभेदास्तु सति पक्षे चत्वारो विरुद्धा पक्षविपक्षव्यापको यथा नित्य शब्द. सामान्यवत्वे सति अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्, पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा नित्य शब्द प्रयत्न नान्तरीयकत्वात्, पक्षैकदेशवृत्तिविपक्षव्यापको यथा नित्या पृथिवी कृतकत्वात् ।

असति सपक्षेचत्वारो विरुद्धाः—पक्षविपक्षव्यापको यथा आकाश-विशेषगुण. शब्द. प्रयत्ननान्तरीयकत्वात् । पक्षव्यापको विपक्षैक देशवृत्ति यथा आकाशविशेषगुण शब्दो बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् । विपक्षव्यापक पक्षैकदेशवृत्तिः यथा आकाशविशेषगुणः शब्दः अपदात्मकत्वात् । न्यायसार पृ० ६

पृष्ठ २४०

१. यस्मात्प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्ट प्रकरणसमः ।
न्याय सूत्र १.२ ७

पृष्ठ २४१

१. सत्प्रतिपक्ष is classed by Vaisheshikas under बाधित.
Notes on Tarka Sangrah P. 404

२. अप्रसिद्धोऽनपदेश इति विरुद्धावरोध. · · · ···कालात्ययापदिष्ट-प्रकरणसमयोश्चाप्रसिद्धपदेनैवावरोध: तयोरबाधितविषयत्वा-

त्सत्प्रतिपक्षत्वेनाप्रसिद्धत्वात् । समानतन्त्र न्यायेन वा सग्रह ।
जगदीशतर्कालंकार कृता प्रशस्तपाद सूक्ति पृ० ५६६

३. सत्प्रतिपक्षो विरोधिव्याप्त्यादिमत्तया परामृष्यमाणो हेतुः विरोधि-
परामर्शो वा यस्य परामृश्यमाणस्य हेतोरसौ सत्प्रतिपक्ष ।
दीधिति पृ० १७८७

४ (क) साध्यविरोध्युपस्थापनसमर्थसमानबलोपस्थित्या प्रतिरुद्ध-
कार्यलिङ्गत्वम् । तत्वचिन्तामणि पृ० ११४१

(ख) साध्यविरोधी साध्यवत्ताज्ञानप्रतिबन्धकज्ञानविषयो बाध. साध्या-
भावादि तदुपस्थितेर्वा जननयोग्यया समानया बलोपस्थित्या
तथाविध व्याप्त्यादि बुद्धया प्रतिरुद्ध कार्यं यस्य तादृश-
लिङ्गत्वमित्यर्थ । अनुमान गदाधरी पृ० १७८८

पृष्ठ २४३

१. हेतुद्वयसमूहालम्बनाद्युगपदुभयव्याप्तिस्मृतौ उभयपरामर्शरूप
ज्ञानमुत्पद्यते । तत्वचिन्तामणि पृ० ११६७

२. सत्प्रतिपक्षत्व साध्याभावव्याप्यवत्पक्षत्वम् । अस्ति च ह्रदो वह्नि-
मान्ह्रदत्वात् इत्यादौ ह्रदत्वात् इति हेतोस्तथात्वम् ।
भाषारत्न पृ० १८३

४ (क) एतेनासिद्धविरुद्धसन्दिग्धानध्यवसितवचनानामपदेशत्वम ।
प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १६

(ख) सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासा. ।
न्याय सूत्र १. २. ४

५. साध्याविशिष्ट' साध्यत्वात् साध्यसम । न्याय सूत्र १ २ ८

पृष्ठ २४४

१. ये व्याप्तिविरहपक्षधर्मताविरहरूपास्तेऽसिद्धिभेदमध्यासते,
तदन्ये च व्यभिचारादय । तत्वचिन्तामणि पृ० ११८०

२. तत्रासिद्धश्चतुर्विध :- उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धस्तद्भावासिद्धोऽनु-
मेयासिद्धश्चेति । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ११६

पृष्ठ २४५

१. तत्रासिद्ध चतु: प्रकार: उभयासिद्ध:, सन्दिग्धासिद्ध:, आश्रयासिद्धश्च ।
न्याय प्रवेश पृ० ३

२. असिद्धभेदास्तावत् स्वरूपासिद्ध, व्यधिकरणासिद्ध,.........
विशेष्यासिद्ध, .. विशेषणासिद्ध, .. भागासिद्ध.........
आश्रयासिद्ध, ...आश्रयैकदेशासिद्ध,......व्यर्थविशेष्यासिद्ध,
... सन्दिग्धविशेषणासिद्ध. विरुद्धविशेष्यासिद्ध,... ...
एतेऽसिद्धभेदा यदोभयवाद्यसिद्धत्वेन विवक्षितास्तदोभयासिद्धा
भवन्ति । यदात्वन्यतरवाद्यसिद्धत्वेन विवक्षितास्तदान्यतरासिद्धा:
भवन्ति । न्यायसार पृ० ७-९

३ लिङ्गत्वेनानिश्चितो हेतुरसिद्ध । न्यायलीलावती पृ० ६११

४ लिङ्गत्वेनेति—व्याप्तिपक्षधर्मतावत्वेन अनिश्चितोऽप्रमित इत्यर्थ ।
न्यायलीलावती प्रकाश ६११

५ व्याप्तिपक्षधर्मताभ्या निश्चय सिद्धि: तदभावोऽसिद्धि.... ......
मैवम् एव सव्यभिचारादेरप्यत्रैवान्तर्भावप्रसङ्गात् ।

तत्वचिन्तामणि पृ० १८४५

६. तत्र निश्चितपक्षवृत्तिरसिद्ध: । न्याय सार पृ० ७

पृष्ठ २४६

१. साधारण्यकथितासाधारण्यानुपसंहारित्वभिन्न ज्ञानस्य विषयतया
परामर्शविरोधितावच्छेदक रूपमसिद्धि । दीधिति पृ० १८५३-५४

२. आश्रयासिद्धि स्वरूपासिद्धि व्याप्यत्वासिद्धिश्च प्रत्येकमेव दोष: ।
प्रत्येकस्य ज्ञानादुद्भावनाच्चानुमितिप्रतिबन्धात् ।
तत्वचिन्तामणि पृ०१९५२

पृष्ठ २४७

१. अथ स्वरूपासिद्ध: शुद्धासिद्धो भागासिद्धो विशेषणासिद्धो
विशेष्यासिद्धश्चेति । तर्क किरणावली पृ० ११३

२. सोपाधिको हेतु: व्याप्यत्वासिद्ध: । तर्क सग्रह पृ० ११४

३. साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधि: । वही पृ० ११४

पृष्ठ २५०

१. नीलधूमत्वादिक गुरुतया न हेतुतावच्छेदक स्वासमानाधिकरण-व्याप्यतावच्छेदकधर्मान्तराटितस्यैव व्याप्यतावच्छेदकत्वात्।

न्याय मुक्तावली पृ० ३४७-४८

२ न च नीलधूमत्वस्यापि तादृशधर्मान्तराघटितत्वमस्त्येव धूमत्वस्य नीलधूमत्वभिन्नत्वाभावादिति वाच्यम् ....शुद्ध धूमत्वपर्याप्तावच्छेदकताकप्रकारकनीलत्वादिविशिष्टधूमत्वपर्याप्तावच्छेदकताकप्रकारत्वयोर्भेदात्।

दिनकरी पृ० ३४८

३ सोपाधिको हेतुव्याप्यत्वासिद्ध.। तर्क संग्रह पृ० ११४

४ व्याप्यत्वासिद्धस्तु द्विविध। एको व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात्। अपरस्तूपाधिसाङ्कर्यात्। तर्क भाषा पृ० ४४-४५

पृष्ठ २५१

१ अवयवविपर्यासवचन न सूत्रार्थ। न्याय भाष्य पृ० ४२

२ यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थेनापि तेन स। अर्थतो ह्यसमानानामानन्तर्यमकारणम्। न्याय भाष्य पृ० ४२

पृष्ठ २५२

२. अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम्। न्याय सूत्र ५ २.१०

३ (क) शब्दोऽप्यवस्थितोभेरीदण्डसयोगेन व्यज्यते, दारुपरशुसयोगेन वा। तस्मात्सयोगव्यंग्यत्वान्नित्य शब्द इत्ययमहेतु कालात्ययापदेशात्। न्याय भाष्य पृ० ४२

(ख) शब्द नित्य सयोगव्यग्यत्वात् इत्यत्र शब्दस्योपलब्धिकाले सयोगो नास्ति इति भवत्ययं कालात्ययापदिष्ट इति।

न्याय खद्योत पृ० १८६

४ व्यञ्जकस्य सयोगस्य कालं न व्यंग्यस्य कालं न व्यग्यस्य रूपस्य व्यक्तिरत्येति। सति प्रदीपघटसयोगे रूप गृह्यते। निवृत्ते दारुपरशुसयोगे दूरस्थेन शब्द: श्रूयते विभागकाले, सेय शब्दस्य व्यक्ति सयोगकालमत्येतीति न सयोगनिमिता भवति कस्मात्? कारणाभावात् हि कार्याभावः इति। न्याय भाष्य पृ० ४२

पृष्ठ २५३

१. प्रमाणान्तरेणावधृतसाध्याभावो हेतुर्बाधितविषयः कालात्य-
यापदिष्ट इति चोच्यते । तर्क भाषा पृ० ४६

२ (क) बाध· ······ साध्याभाववत्त्वप्रमाविषयत्वप्रकाराभावप्रतियोगि-
साध्यकत्वं वेति । तत्वचिन्तामणि पृ० ११६५

(ख) यस्य साध्याभाव· प्रमाणान्तरेण निश्चितः स बाधितः।
तर्क सग्रह पृ० ११६

३ अथ पक्षे साध्याभावप्रमैव साध्याभावहेतुविषया व्यभिचारज्ञानत्वेन
दोषो न तु तस्या प्रमात्वज्ञानमपीतिचेत्, तर्हि प्रमाया अप्रमात्व-
ज्ञाने · ···न स्याञ्च पक्षे साध्याभावज्ञानप्रमात्वभ्रमादनुमिति
प्रतिबन्ध । तत्वचिन्तामणि पृ० १२१२-१३

४ साध्याभाववत्पक्षादिज्ञानप्रमात्व तु न बाध, तज्ज्ञानस्य पक्षादौ
साध्याभावादेरनवगाहित्वे विरोधिविषयत्वाभावात् ।
दीधिति पृ० १२०८

पृष्ठ २५४

१. कालात्ययापदिष्टभेदास्तु प्रत्यक्षविरुद्धः ····अनुमानविरुद्ध ··
आगमविरुद्ध··· प्रत्यक्षैकदेशविरुद्ध ·········अनुमानैकदेशविरुद्ध
न्याय सार पृ० ११

पृष्ठ २५७

१ प्रतिज्ञाहानि प्रतिज्ञान्तर प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासन्यासो हेत्वन्तर-
मर्थान्तर निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकाल न्यूनमधिक
पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञापर्यनुयोज्योपेक्षण
निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि ।
न्यायसूत्र ५ २. १

२. साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्प साध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्ग
प्रतिदृष्टान्तसिद्धान्तानुपपत्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपल-
ब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्य कार्यसमाः । वही ५. १. १.

पृष्ठ २५८

१. व्याप्तिनिरपेक्षतयायत्किञ्चित्पदार्थसाधर्म्यवैधर्म्याभ्याम् प्रत्यवस्थानम्

अनिष्टप्रदर्शनेन दूषणाभिधानं जातिः । यद्यपि साधर्म्यवैधर्म्य-प्रदर्शनं सर्वत्र जातौ नास्ति तथापि व्याप्तिनिरपेक्षतया दूषणाभिधाने तात्पर्यमिति विवरणकारा । न्यायखद्योत पृ० २००—२०१ ।

पृष्ठ २५६

१. वचनविघातोऽर्थ विकल्पोपपत्त्या छलम् ।
तत्त्रिविधम् वाक्छल सामान्यच्छलमुपचारच्छलं च ।
न्यायसूत्र १. २. १०—११

२. अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम् ।
वही १ २ १२.

३. सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पनासामान्यछलम् ।
वही १. २. १३

४ धर्मविकल्पनिर्देशे अर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारछलम् ।
वही १-२-१४

पृष्ठ २६०

१ प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् । न्यायसूत्र १ १ ६

पृष्ठ २६१

१. प्रज्ञातेन सामान्यात्प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानम्·········समाख्या-सम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः । यथा गौरेव गवय इत्युपमाने प्रयुक्ते गवा समानधर्ममर्थमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुपलभमानोऽस्य गवयशब्दः सञ्ज्ञेति सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यते इति । न्याय भाष्य पृ० १५

२. न केवल सादृश्यरूपसाधर्म्यज्ञानजन्यैवोपमितिः, वैधर्म्यज्ञानजन्योप-मितेरपि सत्वात् । भाषारत्न पृ० १८७

३ (क) सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्ध प्रतीतिरुपमिति । तर्क भाषा पृ० ४०

(ख) सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः । तर्क संग्रह पृ० ११६

(ग) पदपदार्थयोः तादृशसम्बन्धनिश्चय एवोपमिति .
तर्क किरणावली पृ० १२०

४. उपमानं त्रिविधम् : सादृश्यविशिष्टपिण्डदर्शनम्, असाधारणधर्म-विशिष्टपिण्डदर्शनम्, वैधर्म्यविशिष्टपिण्डदर्शनञ्चेति ।
तर्क किरणावली पृ० १२१.

५. ग्रामीणेन क्वचिदरण्यादौ गवयो दृष्ट' तत्र गोसादृश्यदर्शन यज्ज्ञातं तदुपमितिकरणम् । न्यायमुक्तावली पृ० ३५१

पृष्ठ २६२

१ गवयो गवयपदवाच्य इति ज्ञान यज्ज्ञायते तदुपमिति नत्वय गवय-पदवाच्य इत्युपमितिः गवयान्तरे शक्तिग्रहाभावप्रसङ्गात् ।
न्याय मुक्तावली पृ० ३५१— ३५३

२ (क) तत्र सादृश्यप्रमाकरणमुपमानम् । .... तदनन्तर भवति निश्चय' 'अनेन सदृशी मदीया गौरिति' तत्रान्वयव्यतिरेकाभ्या गवय निष्ठगोसादृश्यज्ञान करण गोनिष्ठगवयसादृश्यज्ञान फलम् ।
वेदान्त परिभाषा पृ० १६३

(ख) गा गवय सादृश्यविशिष्टामुपमिनोति । शास्त्रदीपिका पृ० ७६

पृ० २६३

१. तत्रोपमान तावदनुमानमेव शब्दद्वारा । उपस्कार भाष्य पृ० २४५

२ आप्तेनाप्रसिद्धस्य गवयस्य गवा गवय प्रतिपदिनादुपमानमाप्तवचनमेव ।
प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १०६ -११०

३. उपमानमस्तु प्रमाणान्तरमितिचेत् न शब्दादेव तत्र सज्ञासज्ञिसम्बन्ध-परिच्छेदात् । शब्दस्य चानुमानेऽन्तर्भूतत्वात् ।
कणादरहस्यम् पृ० १०६

४. यत्तु गवयस्य चक्षुः सन्निकृष्टस्य गोसादृश्यज्ञान तत्प्रत्यक्षम्, अतएव स्मर्यमाणाया गवि गवयसादृश्यज्ञानमपि प्रत्यक्षमेव ।
सांख्यतत्वकौमुदी पृ० २७—२८

५ गवयशब्दो गवयवाचकः वृत्यन्तरे शिष्टैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वात्, असतिवृत्यन्तरे य: शब्दो यत्र शिष्टै' प्रयुज्यते स तस्य वाचको यथा गोशब्दो गोः इत्यनुमानादेव गवयशब्दो गवयसज्ञां परिच्छिनत्ति ।
उपस्कार भाष्य पृ० २२६

पृष्ठ २६४

१ अगृहीतव्याप्तिकस्यापि प्रकृतपदवाच्यता ज्ञानात्मकोपमित्युत्पाद-दर्शनात् प्रमाणान्तरमेवेति । रत्नलक्ष्मी पृ० १८८

पृष्ठ २६५

१ आप्तोपदेश· शब्द । न्यायसूत्र १,१,७

२. आप्तवाक्य शब्दः । तर्कभाषा पृ० ४७

३. साक्षात्करणमर्थस्याप्ति., तया प्रवर्त्तते इत्याप्त । ऋष्यार्यम्लेच्छाना समानं लक्षणम् । न्यायभाष्य पृ० ११

४ लोभादिशून्यत्वमेवाप्तत्वे मूलम् । आप्ता पुनर्द्विविधा सर्वज्ञा असर्वज्ञाश्च । सर्वज्ञानामप्रामाण्यन्तदस्तित्वबोधकप्रमाणैरेवनिर्णीतम्, सर्वज्ञेषु रागद्वेषादीनामप्रामाण्यकारणानामसम्भवात् । असर्वज्ञानाम्पुन प्रामाण्य कारणत्रये निर्भरम् । उपदेशविषयस्य यथार्थज्ञान, यथार्थ-ज्ञानचिख्यापयिषा, वचनादिकरणपाटवमित्येव कारणत्रितयम-पेक्षितम् । न्यायखद्योत पृ० ८५

६ साकाक्षावयव भेदे परानाकाक्षशब्दकम् ।
क्रियाप्रधान गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते । व्यक्ति विवेक पृ० ३८

५. वाक्य पद समूह ।··· ··शक्त पदम् । तर्कसग्रह पृ० १२२

पृष्ठ २६६

१ नव्यास्तु ईश्वरेच्छा न शक्ति किन्त्विच्छैव तेनाधुनिकसकेतितेपि शक्तिरस्त्येवेत्याहु । न्यायमुक्तावली पृ० २५६

२ अपभ्र शात्मक गगर्यादिपदे शक्तिभ्रमादेव बोध । दिनकरी पृ० ३५६

३. शक्त पदम्, तच्चतुर्विधम्, क्वचिद्यौगिक क्वचिद्रूढ क्वचिद्योगरूढं क्वचिद्यौगिकरूढमिति । न्यायमुक्तावली पृ० ३८१

पृष्ठ २६७

१ (क) सप्तम्या जनेर्ड ' पाणिनीय अष्टाध्यायी ३ २ ६७
(ख) सप्तम्यन्त उपपदे जने र्धातोः डः प्रत्ययो भवति ।
काशिका पृ० १८५

२. समुदायशक्त्युपस्थितपद्मेऽवयवार्थपङ्कजनिकर्त्तु रन्वयो भवति सान्नि-ध्यात् । न्यायमुक्तावली पृ० ३८३

३. वृत्तिश्च द्विधा शक्ति. लक्षणा च । भाषारत्न पृ० १६०

पृष्ठ २६८

१. वा० जातिशब्देन हि द्रव्याभिधानम् । (भाष्यम्) जातिशब्देन हि द्रव्यमप्यभिधीयते, जातिरपि । कथं पुनर्ज्ञायते जातिशब्देनद्रव्यमप्यभिधीयते इति ? कश्चिन्महति गोमण्डले गोपालकमसीनं पृच्छति अस्त्यत्र कांचिद् गा पश्यसीति ।···नूनमस्य द्रव्य विवक्षितम् (६७) ·· । वा० आकृत्यभिधानाद्वैकविभक्तौ वाजप्यायन । भा० एका आकृतिः सा चाभिधीयते । (६०) वा० धर्मशास्त्र च तथा । भा० एव च कृत्वा धर्मशास्त्र प्रवृत्त 'ब्राह्मणो न हन्तव्य: सुरा न पेयेति, ब्राह्मणमात्रं न हन्यते सुरामात्र न पीयते । यदि द्रव्य पदार्थः स्यात् एक ब्राह्मणमहत्वा एका च सुरामपीत्वाऽन्यत्र कामचार स्यात् । (६२) वा० द्रव्याभिधाने ह्याकृत्यसप्रत्यय । (६३) द्रव्याभिधान व्याडि. (६४) चोदनासु च तस्यारम्भात् । भा० आकृतौ चोदिताया द्रव्ये आरम्भणालम्भनप्रोक्षणविशसनादीनि क्रियते । (६५) ·· ······ नह्याकृतिपदार्थकस्य द्रव्य न पदार्थक द्रव्यपदार्थकस्य वा आकृति. न पदार्थः । उभयोरुभय पदार्थ । कस्यचित्किञ्चित्प्रधानभूत किंचिद् गुणभूतम् । आकृतिपदार्थकस्य आकृति प्रधानभूता, द्रव्य गुणभूतम्, द्रव्य पदार्थकस्य द्रव्य प्रधानभूतमाकृतिर्गुणभूता । ······ आकृतावारम्भणादीना सम्भवो नास्तीति कृत्वाऽऽकृतिसहचरिते द्रव्ये आरम्भणादीनि भविष्यन्ति ।

महाभाष्य १ २. २, ३ पृ० ६७-६६

२ यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव, तथाप्यानन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र सकेत: कर्तु न युज्यते इति गौ शुक्ल चलो डित्थ इत्यादीना विषयविभागो न प्राप्नोति इति च तदुपाधावेव सकेत ।

काव्यप्रकाश पृ० २६

पृष्ठ २६६

१. नैयायिकास्तु न व्यक्तिमात्र शक्य न वा जातिमात्रम्, आद्ये आनन्त्याद् व्यभिचाराच्च । अन्त्ये व्यक्तिप्रतीत्यभावप्रसङ्गात् । न चाक्षेपाद् व्यक्तिप्रतीति । तस्माद् विशिष्ट एव सकेत: । न चानन्त्याद्-शक्यता व्यभिचारो वा गोत्वादि सामान्यलक्षणया सर्वव्यक्तीनामुपस्थितौ सर्वत्र सकेतग्रहसौकर्यात् ।

काव्यप्रदीप पृ० ३६

२. प्राभाकरास्तु—शक्तिःद्विविधा स्मारिका, अनुभाविका च । तत्र-स्मारिका शक्तिर्जातौ, अनुभाविका च कार्यत्वान्विते ।

भाषारत्न पृ० २१३

३. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च । वाक्यस्यशेषाद् विवृतेर्वदन्ति, सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ।

न्यायमुक्तावली पृ० ३५६

४ प्रथमतः शक्तिग्रहो व्यवहारात् । तथाहि घटमानय इति केनचिदुक्त कश्चन तदर्थं प्रतीत्य घटमानयति, तच्च उपलभमानो बाल. तया क्रियया तस्य प्रयत्नमनुमिनोति, तेन प्रयत्नेन, तस्य घटानयनगोचर ज्ञानमनुमिनोति । तद्गोचरप्रवृत्ति प्रति तद् गोचरज्ञानस्य हेतुत्वात् । तत अस्य ज्ञानस्य को हेतुरित्याकाक्षायाम् उपस्थितत्वात् शब्दस्यैव तादृशज्ञानहेतुत्व कल्पयति । भाषारत्न पृ० २०६

पृष्ठ २७०

१ शक्तिग्रह व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यत सिद्धपदस्यवृद्धा ।

न्यायमुक्तावली पृ० ३५६

२ मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् अन्योर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिताक्रिया । काव्यप्रकाश पृ० ३७

पृष्ठ २७१

१. सा च लक्षणाद्विविधा, गौणी शुद्धा च तत्र सादृश्यात्मक शक्यसम्बन्धा लक्षणा गौणी······· तदन्या शुद्धा । भाषारत्न पृ० २१६

२. लक्षणा त्रिविधाः जहल्लक्षणा अजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा चेति ।

तर्कदीपिका पृ० १२८

पृष्ठ २७२

१. नैयायिकमतरीत्या तु—'सोऽयं देवदत्त' इत्यादौ तत्तांशस्येदानी-मसंभवाद्धानम् इदंत्वाशस्य सम्भवादहानमिति जहदजहल्लक्षणा-माचक्षते । नीलकण्ठप्रकाशिका पृ० ३२७

२. व्यञ्जनापि शक्तिलक्षणान्तर्भूता । तर्कदीपिका पृ० १२६

३. 'गंगायाघोष:' इत्यादौ तु शैत्यपावनत्वादिविशिष्टतीरप्रतीतिर्जहल्लक्षणयैव निर्वहति, तत्र शैत्यपावनत्वादिविशिष्टतीराऽधिकरणघोषतात्पर्येण प्रयुक्तवाक्यात् तथाविध तीररूपार्थस्य बोधे तत्तात्पर्यानुपपत्यात्मकबीजसत्वादिति अतो लक्षणान्तर्भूता सा ।

तर्ककिरणावली पृ० १२६

४. शब्दशक्तिमूला अर्थशक्तिमूला च अनुमानादिना अन्यथासिद्धा ।

तर्कदीपिका पृ० १२६-३०

५ गच्छ गच्छसि चेत्कान्त पन्थान: सन्तु ते शिवा ।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान् । सुभाषितावलि १०४०

पृष्ठ २७३

१ (क) व्याप्त्याद्यप्रतिसन्धानदशायामुपमिनोमिनानुमिनोमि इति विलक्षण प्रतीतिसिद्धाया: विलक्षणप्रतीते नानुमितित्वम् ।

मुक्तावलीप्रभा पृ० ५४३

(ख) अनुमित्यपेक्षया शाब्दज्ञानस्य विलक्षणस्य 'शब्दात्प्रत्येमि' इत्यनुव्यवसायसाक्षिकरय सर्वसम्मतत्वात् । तर्कदीपिका पृ० १४१-४२

२ यदि पुनरनुभविकलोकाना स्वरसवाही शब्दादमुमर्थं प्रत्येमि' इत्यनुभव तदा वैयञ्जनिकी प्रतीतिर्गीर्वाणगुरुणाप्यशक्यवारणेति व्यञ्जनासिद्धि । नीलकण्ठप्रकाशिका पृ० ३३०

पृष्ठ २७४

१ आकाक्षा योग्यता सन्निधिश्च वाक्यार्थज्ञाने हेतु । तर्कसग्रह पृ० १३४

२ शाब्द प्रति तात्पर्यज्ञानस्यापि हेतुत्वम् । भाषारत्न पृ० २०३

३. वाक्य त्वाकाक्षायोग्यतासन्निधिमता पदाना समूह. ।

तर्कभाषा पृ० ४७

४. यत्पदस्य यत्पदाभावप्रयुक्तमन्वयबोधाजनकत्व तत्पदसमभिव्याहृततत्पदत्वमाकाक्षा । तर्क किरणावली पृ० १३५

५. एकपदार्थे अपरपदार्थवत्वं योग्यता । भाषारत्न पृ० २०१

६. अविलम्बेनोच्चारण सन्निधि: । तर्कदीपिका पृ० १३६

पृष्ठ २७५

१. (घटपदार्थबोधे) आदौ 'घट' पद 'अम्' पद विषयक समूहालम्बन-श्रवण, ततो घटकर्मत्वोभयविषयकसमूहालम्बनोपस्थितिः, तत शाब्दबोध· तत्पूर्व पदोपस्थित्यादीना सत्वात् ।

ननुघट पदज्ञानमेव कुतो भविष्यति, न च घट पदस्य श्रावण-मेव भविष्यति तत्र श्रवणसमवायसत्वादिति वाच्यम्, घटपदत्व हि अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन घविशिष्टटकारत्व, तस्य च श्रावण न सम्भवति । तथाहि घवर्णोत्पत्त्यनन्तर टवर्णोत्पत्तिकाले घ-घत्वेइति-निर्विकल्पकम्, ततः ट-टत्वे इति निर्विकल्पकम् घकारनाशश्च, तद-नन्तरं घट पदस्य घ विशिष्टत्वेन श्रावण न सम्भवति तत्पूर्व घकारस्य नाशात् घकारे श्रोत्रसमवायाभावात् इति चेत् घकारस्य लौकिक-प्रत्यक्षानुत्पादेऽपि उपनीतभानोत्पादसभवात्, तत्पूर्वं घकार ज्ञान-सत्वात् । तथाहि ट-टत्वे इति निविकल्पक टकाराशे निर्विकल्पकरूप जायते । इत्थ च तदा घकारज्ञानसत्वात् द्वितीयक्षणे टकारे घप्रकारक प्रत्यक्षोत्पत्तिर्भवत्येव तत्प्रकारकप्रत्यक्ष प्रति तज्ज्ञानस्य हेतुत्वात् ।

भाषारत्न पृ० १९६-१९७

पृष्ठ २७७

१ यथासख्य क्रमेणैव क्रमिकाणा समन्वय । काव्य प्रकाश १०. १०८

पृष्ठ २७८

१. तस्माद् यज्ञात्सर्वहुत. ऋच सामानि जज्ञिरे
छन्दासि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ।

यजुर्वेद ३१ . ७

२. मन्त्रायुर्वेदवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् । न्यायसूत्र २. १. ६८

पृष्ठ २७९

१. तत्रोपपाद्य ज्ञानेनोपपादक कल्पनमर्थापत्तिः ।

वेदान्तपरिभाषा पृ० २४६

पृष्ठ २८०

१. ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकारणमनुपलब्धिरूप प्रमाणम् ।

वही पृ० २५८

पृष्ठ २८३

१ यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः ।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यो तादृगर्थविचारणे ।

तर्क भाषा पृ० १२५

२. अभावोप्यनुमानमेव, यथोत्पन्न कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम् ।
एवमनुत्पन्न कार्यं कारणासद्भावे लिङ्गम् ।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १११

पृष्ठ २८४

१. सम्भवोप्यविनाभावादनुमानमेव । प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १११

पृष्ठ २८५

१. प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः साख्या समाश्रिता ।

सर्वदर्शन सग्रह पृ० २७६

पृष्ठ २८६

१ तत्रापवादनिर्मुक्तिर्वक्त्रभावाल्लघीयसी ।
वेदे तेनाप्रमाणत्व न शकामधिगच्छति । इति ।

श्लोक वार्त्तिक २ ६६

पृष्ठ २८८

१. यदि ज्ञानस्य प्रामाण्य स्वतोग्राह्य स्यात् तदानभ्यासदशोत्पन्नज्ञाने 'इद ज्ञानं प्रमा नवेत्याकारकः सर्वजनानुभवसिद्धप्रामाण्यसंशयो न स्यात् । यतस्तत्र यदि ज्ञान स्वेन ज्ञात तदा तन्मते प्रामाण्यं ज्ञातमेव, यदि ज्ञाने ज्ञातेऽपि प्रामाण्य न ज्ञात तदा न स्वतोग्राह्यत्वसिद्धि । यदि तु ज्ञानमेव न ज्ञात तदा धर्मिज्ञानाभावात्कथ संशयः, अतो धर्मि ज्ञाने प्रामाण्य न स्वतोग्राह्यम् । नैयायिकमते परतः अनुमानादितो ग्राह्यम्,

यतः जलप्रत्यक्षानन्तर तदानयनप्रवृत्तौ सत्या जललाभे सति 'पूर्वमुत्पन्न जलप्रत्यक्षज्ञान प्रमा, सफलप्रवृत्तिजनकत्वात्, यत्र सफलप्रवृत्तिजनकत्व नास्ति, तत्र प्रमात्वं नास्ति यथा — मरुमरीचिकाजलज्ञाने, इति व्यतिरेकिणानुमानेन प्रायशः सर्वत्रज्ञाने प्रमात्व निश्चीयते, तस्मात् ज्ञानगत प्रामाण्य परतोग्राह्यम् ।   तर्क किरणावली पृ० १४५

(ख) स्वत प्रामाण्यग्रहे 'जलज्ञान प्रमा नवा इत्यनभ्यासदशाया प्रमात्वसशयो न स्यात् । अनुव्यवसायेन प्रामाण्यस्य निश्चितत्वात् । तस्मात् स्वतोग्राह्यत्वाभावात्परतोग्राह्यत्वम् ।   तर्कदीपिका पृ० १५२

पृष्ठ २६१

१. सिद्धदर्शनमपि केचित् विद्यान्तरमङ्गीकुर्वन्ति ।

प्रशस्तपाद विवरण पृ० १२६

२. 'सुख्यहम्' इत्याद्यनुव्यसायगम्य सुखत्वादिकमेव लक्षणम् ।

तर्क दीपिका पृ० १५६

३ धर्मासाधारणकारणकात्मगुणत्वम (सुखलक्षणम्) ।

कणाद रहस्यम् पृ० १२२

पृष्ठ २६२

१ प्रयत्नोत्पाद्यसाधनाधीन सुख सासारिकम् । इच्छामात्राधीनसाधनसाध्यं सुख स्वर्ग ।   सप्त पदार्थी पृ० ५०

२ सर्वेऽमी सुखप्रधानाः स्वतविच्चर्वणरूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात् । ······ सकलवैषयिकोपरागशून्यशुद्धापरयोगिगतः स्वानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यते ।

अभिनवभारती ६. ३४

३. स्रगाद्यभिप्रेतविषयसान्निध्ये सतीष्टोपलब्धीन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्-धर्माद्यपेक्षादात्ममनसो सयोगादनुग्रहाभिष्वङ्गनयनादिप्रसादजनकमुत्पद्यते तत्सुखम् । अतीतेषु विषयेषु स्मृतिजम् । अनागतेषु सकल्पजम् । यत्तु विदुषामसत्सु विषयानुस्मरणेच्छासंकल्पेष्वाविर्भवति तद् विद्याशमसन्तोषधर्मविशेषनिमित्तमिति ।   प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १३०

पृष्ठ २६३

१ (क) सन्तोषादनुत्तमसुख लाभ ।   योगदर्शन २ ४२
(ख) यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्य महत्सुखम
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हत षोडशी कलाम् ।
योग भाष्य पृ० २४६

पृष्ठ २६५

१ प्रयत्नवदात्ममन संयोगासमवायिकारणिका क्रिया चेष्टा ।
कणाद रहस्यम् पृ० १२७

पृष्ठ २६६

१ यथा पृथिवीत्व धर्म ।   तर्क किरणावली पृ० २६

२ (क) यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि स धर्म ।   वैशेषिक सूत्र १ १ २
(ख) अभ्युदयस्तत्वज्ञान नि श्रेयसमात्यन्तिकी दु खनिवृत्ति तदुभय यत
स धर्मः ।   उपस्कार भाष्य पृ० ४

३ (क) चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म ।   मीमासादर्शन १ १ २
(ख) चोदनेतिक्रियाया प्रवर्त्तकवचनम् । ··· तथा यो लक्ष्यते
सोऽर्थ पुरुष नि श्रयमेन सयुनक्ति इति ।
शाबर भाष्य पृ० १२. १३ ।

४ वेद स्मृति सदाचार' स्वस्य च प्रियमात्मन ।
एतच्चतुर्विध प्राहु साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम् ।   मनुस्मृति २ १२
धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह
धी विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्मलक्षणम् ।   मनुस्मृति ६ ६२

५. धर्मशब्दोऽय पाकादिवत् सभाग एव धृति साधने प्रवर्त्तते ।
युक्तिस्नेहप्रपूरणी सिद्धान्त चन्द्रिका पृ० २५

६ धारणाद्धर्मइत्याहु. धर्मो धारयते: प्रजा ।   महाभारत शान्तिपर्व

७. वेदोऽखिलोधर्ममूलम् ।   मनुस्मृति २ ६

८. धर्मः पुरुषगुण , कर्त्तु प्रियाहितमोक्षहेतु अतीन्द्रिय' ।
प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १३८

६. तस्य तु साधनानि श्रुतिस्मृतिविहितानि वर्णाश्रमिणा सामान्य-विशेषभावेनावस्थितानि द्रव्यगुणकर्माणि । वही पृ० १३८

पृष्ठ २९७

१ देवदत्तस्याद्य शरीरं देवदत्तविशेषगुणप्रेरितभूतपूर्वक कार्यत्वे सति-तद्भोगसाधनत्वात् तन्निमित्तस्रगादिवत् । न चाय भूतधर्म एव साधा-रण्यप्रसङ्गात् । नहि भूतधर्मा गन्धादय कस्यचिदेव ।
कणादरहस्यम् पृ० १३५-१३६

पृष्ठ २९८

१ यथैधांसि समिद्धोऽग्नि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन
ज्ञानाग्नि : सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा । गीता ४. ३७

पृष्ठ २९९

१ प्रायश्चितनाश्यपापजन्यदुःखप्रागभावसत्वेपि तद्गोवधजनितपाप नाशादुत्तरासमयलाभ एव प्रायश्चित्तफलम् ।
कणादरहस्यम् पृष्ठ १४३

२ द्विविध पातकमुपातक महापातक च । तत्रोत्पन्नधर्मफलीभूतप्रतिबन्धक-पापत्वमुपपातकत्वम् । धर्मोत्पत्तिप्रतिबन्धकपापत्व महापातकत्वम् । तथाचेद पाप नश्यतु धर्मफल मयोपभुज्यतामित्यर्थितयोपपातके प्रायश्चित्ताचरणम् । इतः प्रभृति पुण्यमेव मे समुत्पद्यता महापातकं नश्यत्वितिकामनया महापातके प्रायश्चित्ताचरणम्, नतु दुःखानुत्पा-दार्थितया । कणादरहस्यम् पृ० १४३

३ दुःखप्रागभावोऽस्त्येव किन्तु प्रायश्चित्तेन दुःखकारणप्रत्यवायविघटन-द्वारा स एव प्रतिपाल्यते । वही पृ० १४२ ।

पृष्ठ ३००

१. अविदुषो रागद्वेषवतः प्रवर्त्तकाद्धर्मात् प्रकृष्टात् स्वल्पाधर्मसहितात् ब्रह्मेन्द्रप्रजापतिमनुष्यलोकेष्वाशयानुरूपैरिष्टशरीरेन्द्रियविषयसुखादिभि र्योगो भवति । तथा प्रकृष्टादधर्मात्स्वल्पधर्मसहितात् प्रेत-तिर्यग्योनिस्थानेष्वनिष्टशरीरेन्द्रियविषयदुःखादिभिः योगो भवति ।

एवं प्रवृत्ति लक्षणाद्धर्मादधर्मसहिताद्देवमनुष्यतिर्यङ्‌ नारकेषु पुनः-पुन. ससारबन्धो भवति। प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १४३

२. ज्ञानपूर्वकात्तु कृतादसकल्पितफलाद्‌ विशुद्धे कुले जातस्य दुःखविगमोपायजिज्ञासोराचार्यमुपसगम्योत्पन्न ········ तत्वज्ञानस्याज्ञाननिवृत्तौ विरक्तस्य रागद्वेषाद्यभावात्‌ तज्जयोर्धर्माधर्मयोरनुत्पत्तौ पूर्वसचितयोश्चोपभोगान्निरोधे सन्तोषसुख शरीरपरिच्छेद चोत्पाद्य रागादिनिवृत्तौ निवृत्तिलक्षण केवलो धर्म. परमार्थदर्शनज सुख कृत्वा निवर्त्तते ·· ···पुन शरीराद्यनुत्पत्तौ दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्ष इति।

वही पृ० १४३-४४

पृष्ठ ३०१

१ वेग.·········स्पर्शवद्‌ द्रव्यसयोगविशेषविरोधी।

प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १३६

पृष्ठ ३०२

१. अनुभवजन्यास्मृतिहेतुर्भावना। तर्कसग्रह पृ० १६१

पृष्ठ ३०३

१. नवीनास्तु—तत्तद्विषयकस्मृति तत्तद्विषयकसस्कार च प्रति तत्तद्विषयकज्ञानत्वेनैव हेतुता नानुभवत्वेन, सस्कारस्य स्मृत्यात्मकफलनाश्यतया प्रथमस्मरणेन तज्जनकसस्कारस्य नाशेन एकबारमनुभूतयैक बारं स्मरणानन्तर पुन पुन सर्वानुभूतस्मरणाभावप्रसङ्गात्‌ ज्ञानत्वेन कारणतायां तु प्रथमानुभवनाशेऽपि स्मरणात्मकज्ञानेन पुनः संस्कार. पुन स्मरण तेन पुन सस्कार पुन स्मरणमित्येव पुन पुनः स्मरणलाभात्‌ ज्ञानत्वेनैव स्मृतिसस्कार च प्रति कारणत्वमिति-वदन्ति। तर्क किरणावली पृ० १६२

२ (क) सोय स्थिरतर· सर्गान्तिरजन्मान्तरस्थायी सदृशादृष्टचिन्तादिना उद्बुध्यते। उद्‌बुद्धश्च स्मृति जनयति। कणादरहस्यम्‌ पृ० १३३

(ख) पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसप्रतिपत्तेः।

न्याय सूत्र ३. १ १६

३ अन्यथाकृतस्य पुनस्तदवस्थापादक स्थितिस्थापक ।
तर्कसग्रह पृ० १६१

पृष्ठ ३०४

१ बुद्ध्यादिषट्क स्पर्शान्ता स्नेहः सासिद्धिको द्रवः।
अदृष्टभावनाशब्दा अमी वैशेषिका गुणा । भाषा परिच्छेद ९०-९१

२ रूपं रस स्पर्शगन्धौ परत्वमपरत्वकम् ।
द्रवत्व स्नेहवेगाश्च मता मूर्त्तगुणा अमी ॥
धर्माधर्मौ भावना च शब्दो बुद्ध्यादयोऽपि च
एतेऽमूर्त्तगुणा सर्वे विद्वद्भि परिकीर्त्तिताः ।
सख्यादयो विभागान्ता उभयेषा गुणा मता । वही ८६—८८

३ सयोगश्च विभागश्च सख्या द्वित्वादिकास्तथा ।
द्विपृथक्त्वादयस्तद्वदेतेऽनेकाश्रिताः गुणा ।
अतः शेषगुणाः सर्वे मता एकैकवृत्तय । वही ८९—९०

४ सख्यादिरपरत्वान्तो द्रवत्व स्नेह एव च
एते तु द्वीन्द्रियग्राह्या अथस्पर्शान्तशब्दका ।
बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्या गुरुत्वादृष्टभावना ।
अतीन्द्रिया ············· ·········। वही ९२—९४

५. ······विभूनान्तु ये स्युर्वैशेषिका गुणाः
अकारणगुणोत्पन्ना एते तु परिकीर्त्तिताः ।
अपाकजास्तु स्पर्शान्ताः द्रवत्व च तथाविधम् ।
स्नेहवेगगुरुत्वैकपृथक्त्वपरिमाणकम् ।
स्थितिस्थापक इत्येते स्युः कारणगुणोद्भवाः । वही ९४—९६

६ भवेदसमवायित्वमथवैशेषिके गुणे ।
आत्मनः स्यान्निमित्तत्वमुष्णस्पर्शगुरुत्वयो.
वेगेऽपि च द्रवत्वे च सयोगादिद्वये तथा ।
द्विधैव कारणत्व स्यादथ प्रादेशिको भवेत्
वैशेषिको विभुगुण· संयोगादिद्वय तथा । वही ९७—९९

पृष्ठ ३०५

१. प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवि—तण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानाना तत्वज्ञानान्नि:श्रेयसाधिगमः ।
न्यायसूत्र १ १. १.

२ प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि । वही १ १ ३.

३. बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् । वही, १ १ १४

परिशिष्ट २

ग्रन्थ	लेखक	पृष्ठ
अभिनव भारती	अभिनगुप्तपाद	२९२
उपस्कार भाष्य	शकर मिश्र	२४, २७, ३६, ४०, ४६, ४४, ४७, ५४, ५६, ६८, ७१, ७२, ७८, ८४, ८८, ९०, ९१ १८४, १९८, १९९, २०९, २२५, २३०, २३७, २६८, २९६
ऋग्वेद		४७
कणाद रहस्य	शकर मिश्र	२६, ६५, ९४, ९५, ९६, ९९, १०२, १०४, १०५, १०७, १११, १२२, १२५, १२७, १२८, १२९, १५९, १६०, १६५, २२७, २३७, २६३, २९१, २९५, २९७, २९९, ३०३
कठोपनिषद्		७५
काव्य प्रकाश	मम्मट	८०, २६८, २७०, २७७
काशिका	जयादित्यवामन	२६७
किरणावली प्रकाश		९५
किरणावली	उदयन	२६
कुसुमाजंलि	"	६२, ६५, ६६,
गदाधरी	आचार्य गदाधर	२४१

ग्रन्थ	लेखक	पृष्ठ
Thomson's law of thought ·		२०६
Translation of भाषापरिच्छेद	Roer	५०
Vacabulagry of Pholosophy :	Fleming	१६३
Logic :	Whately	११६
Systom of Logic :	J S Mill	१७

परिशिष्ट ३

पारिभाषिक शब्दावली एवं समानन्तर अंग्रेजी शब्द

पदार्थ	Category
द्रव्य	Substance
गुण	Quality
कर्म	Action
सामान्य	Generality
विशेष	Particularity
समवाय	Co-inherence
अभाव	Ngation
पृथिवी	Eearth
जल	Water
अग्नि	Fire
वायु	Air
आकाश	Ether
काल	Time
दिशा	Space
आत्मा	Soul
मनस्	Mind
नित्य	Eternal
अनित्य	Non-eternal

अपेक्षा बुद्धि	The notion which refers to many units.
रूप	Colour
रस	Taste
गन्ध	Odour
स्पर्श	Touch
पाकजगुण	Qualities product of heat
सख्या	Number
परिमाण	Quantity/Dimension
सुख	Pleasure
दु.ख	Pain
इच्छा	Desire
द्वेष	Aversion
प्रयत्न	Effort
धर्म	Merit
अधर्म	Demerit
अदृष्ट	Destiny
सस्कार	Faculty, Impules
वेग	Velocity
भावना	Mental impression
स्थितिस्थापक	Elasticity
मूर्त्त	Corporeal
भूत	Element
उत्क्षेपण	Tossing
अवक्षेपण	Dropping
आकुञ्चन	Contraction
प्रसारण	Expantion
गमन	Motion
मोक्ष	Salvation
अपवर्ग	Eternal Cessation of Pain
पारिमाण्डल्य अणुपरिमाण	Infinite Simality

परिमण्डल	Aglobular atom
द्व्यणुक	Binary atam
मध्यम परिमाण	Middling minuteness/Intermediate greatness
परममहत्व विभुत्व	All-pervasion
पृथक्त्व	Severalty
संयोग	Conjunction
निमित्तकारण	Instrumental cause
समवायिकारण	Intimate cause
असमवायिकरण	None-intimate cause
असाधारण कारण	Special cause
साधारण कारण	Universal cause
उपादान कारण	Material cause
प्रागभाव	Antecident Negation
प्रध्वसाभाव	Destruction Negation
अत्यन्ताभाव	Absolute Negation
अन्योन्याभाव	Reciprocal Negation
विभाग	Disjunction
परत्व	Posterionirv
अपरत्व	Priority
पर	Posteriority
अपर	Prior
गुरुत्व	Gravity
द्रवत्व	Fluidity
सासिद्धिक	Natural
नैमित्तिक	Contingent
स्नेह	Viscidity
पिण्डीभाव	Agglutination
शब्द	Sound
ध्वन्यात्मक शब्द	Inarticulate sound
वर्णात्मक शब्द	Articulate sound
सयोगज	Born of conjuction

विभागज	Born of disjunction
शब्दज	Born of Sound
बुद्धि	Cognition
स्मृति	Remembrance
अनुभव	Apprehension
निर्विकल्पक	Indeterminate perception
सविकल्पक	Determinate perception
अनुव्यवसाय	Subsequent Consciousness
व्यवसाय	Simple Cognition
संस्कार	Mental impression
प्रत्यभिज्ञा	Recognition
स्मरण	Recolletion
प्रत्यय	Belief
प्रतीति	Notion
प्रमा	Right apprehension
अप्रमा	False or wrong apprehension
प्रत्यक्ष ज्ञान	Proof Sensory knowledge
प्रत्यक्ष प्रमाण	Perception
अनुमिति	Inferential knowledge
अनुमान	Inference
शाब्द ज्ञान	Verbal knowledge
शब्द प्रमाण	Verbal testimony
उपमिति	Analogy
उपमान	Comparision
कारण	Cause
करण	Proximate cause
अन्यथासिद्ध	Redundant
कार्य	Effect
प्रतियोगी	Contradictory
अनुयोगी	Contrary
कारणवाद	Theory of causalty
सत्कार्यवाद	Existent effect theory (Realism)

असत्कार्यवाद	Non-existent effect theory
शून्यवाद	Relativis
विवर्त्तवाद या मायावाद	Theory of appearance
सन्निकर्ष	The contact of organ and object
संयोग	Conjunction
सयुक्त समवाय	Intimate union with conjunction
सयुक्त समवेत समवाय	Intimate union with intimately united with the conjunction
समवाय	Intimate Union
समवेत समवाय	Intimate union with Intimetly united
विशेषण विशेष्यभाव	Connection of the attribute with the substantive
अनुपलब्धि	Non-apprehension
सहकारी	Accessory
अनुमान	Inference
परामर्श	Consideration, Logical antecedent, Logical datum
पक्ष	Minor term
पक्ष धर्मता	Charactenisic of minor term
पक्षता	,, ,,
व्याप्ति	Invariable concomitance, Invariable co-exestance
हेतु	Middle term
लिङ्ग	Sign Mark
स्वार्थानुमान	Inference for one self
परार्थानुमान	Inference for another; syllogism
पूर्ववत्	Reasoning from cause to effect · **Deduction Proper**

शेषवत्	(An inference of a past shower) Reasoning from effect to cause
सामान्यतोदृष्ट	Induction
केवलान्वयि	Positive
केवल व्यतिरेकि	Negative
अन्वय व्यतिरेकि	Positive and negative
प्रसङ्गापादन	Reductio ad absurdum
न्याय (पञ्चावयव वाक्य	Syllosism
प्रतिज्ञा	Proposition
हेतु	Reason
उदाहरण	Examples
उपनय	Application
निगमन	Conclusion
जिज्ञासा	Curiosity
संशय	Dout
शक्यप्राप्ति	Power of the proof to produce knowledge
प्रयोजन	Aim
संशयव्युदास	Removal of objections
प्रतिज्ञा	Premise
अपदेश	Sign
निदर्शन	Illustration
अनुसन्धान	Scrutiny
प्रत्याम्नाय	Repetition
सपक्ष	Similar instance
विपक्ष	Contrary instance
हेत्वाभास	Logical Fallacy
सव्यभिचार (अनैकान्तिक)	Discrepancy of reason

विरुद्ध	Contradiction of reason, contrary reson
सत्प्रतिपक्ष	Ambiguity of reason Counter balenced reson
बाधित	Contradicted reason
साधारण	Wide
असाधारण	Peculiar
अनुपसंहारी	Non-exclusive
आश्रयासिद्ध	Non-existent substratum
स्वरूपासिद्ध	Non-existent reason
व्याप्यत्वासिद्ध	Non existent concomitance
उपाधि	Limitation condition
शब्द	Word
शाब्दज्ञान	Verbal knowledge
आकांक्षा	Expectancy
योग्यता	Compatibilty
सन्निधि	Juxtaposition, proximity
तात्पर्य ज्ञान	Intended sentence
शब्द शक्ति (अभिधा)	Expressive power of words
लक्षणा	Implication
व्यञ्जना	Suggestion
वाक्य	Sentance
वैदिक वाक्य	Sacred sentance
लौकिक वाक्य	Profone sentance
अर्थापत्ति	Presumption
अनुपलब्धि	Non-apprehension
सम्भव	Inclusion
ऐतिह्य	Tradition
चेष्टा	Sign
परिशेष	Elimenation
प्रामाण्यवाद	Validity of knowledge

प्रामाण्य	Authoritativeness
अप्रामाण्य	Non-authoritativeness
स्वतः प्रामाण्य	Self validity of knowlege
परतः प्रामाण्य	External proof
अप्रमा	Wrong knowledge
संशय	Doubt
विपर्यय	Error Mis-apprehension proper
तर्क	False assumption
आत्माश्रय	Ignoratio Elenchi
अन्योन्याश्रय	Dilemma
चक्रक	Circular reasoning
अनवस्था	Regressus ad infinitum
प्रमाणबाधितार्थ प्रसंग	Reductio ad absurdum
स्मृति	Remembrance